माँग हो कर भी यह न पर्याप्त है, न पूर्ण । स्त्री-विमर्श की पूर्णता 'समान्तर विश्वदृष्टि' बनने में ही है । समान्तरता का इतना आग्रह कोई प्रतिसंसार रचने के लिए नहीं है और न ही यह प्रस्ताव है किसी विरोधी दृष्टि का । समान्तरता का अन्तिम लक्ष्य पूरकता है। पुरुष- दृष्टि का प्रतिपक्ष होने की जगह, उसे संतुलित इन्सानी दृष्टि बनाने हेतु ही स्त्री-दृष्टि का विनियोग आवश्यक है ।

विषय-साम्य की अपेक्षा दृष्टि-साम्य का प्रतिफल, यह पुस्तक अपने नाम के अनुरूप रचनात्मक एवं वैचारिक परिदृश्य के कुछेक प्रस्थान-भूमियों व बिन्दुओं की स्त्री-दृष्टि से छानबीन के ज़रिये एक समान्तर विचार-दर्शन का यह प्रस्ताव है, जो समतामूलक समाज-रचना में रही सब से बड़ी कमी (आधी आबादी की वंचना-शोषण-दलन और उत्पीड़न का न केवल बरकरार रहना, बल्कि आये दिन उस में हो रही बढ़ोतरी ) को सम्बोधित है और उस के निराकरण हेतु प्रतिबद्ध भी ।

**डॉ. रवींद्र कुमार पाठक**

**जन्मतिथि** :- 16.09.1974., **जन्मस्थान** - पाठक विगहा (गाँव), जम्होर, औरंगाबाद, (बिहार), **शिक्षा** :- 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय' (वाराणसी) से 'हिन्दी' विषय से एम.ए. (1999) और पी-एच.डी. (2004/ 'हिन्दी के प्रमुख व्याकरणों का समीक्षात्मक अनुशीलन' विषय )। एम.ए. में स्वर्णपदक-प्राप्त। 'यू.जी.सी.' की 'नेट' उपाधि एवं 'कनिष्ठ शोधवृत्ति' (जे.आर.एफ.) प्राप्त। **लेखन/प्रकाशन संबंधी गतिविधियाँ** :- लेखन की शुरुआत कविता से (प्रथम प्रकाशन-1994)। भाषाशास्त्र, काव्यशास्त्र, हाशिये की वैचारिकी (खासकर स्त्री-संबंधी), फ़िल्म एवं मल्टीमीडिया-क्षेत्र में विशेष रुचि। भाषाशास्त्र, साहित्य व स्त्री-चारादी से सम्बद्ध अब तक 3 पुस्तकें व 55 आलेख (शोधालेख व अन्य) तथा ढेर सारी टिप्पणियाँ प्रकाशित। आलेख 'नवनीत', 'स्वदेशी', 'कादम्बिनी', 'बयान', 'हाशिये की आवाज़', 'नारी-संवाद', 'अंतिम जन', 'इन्द्रप्रस्थ-भारती', 'इतिहासबोध', 'हंस', 'वर्तमान साहित्य', 'माध्यम', 'नया ज्ञानोदय', 'गवेषणा', 'पंचशील शोध-समीक्षा' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित। एन.सी.ई.आर.टी.(दिल्ली) द्वारा निर्मित पाठ्य-पुस्तकों 'आरोह' व 'वितान' (कक्षा-12) एवं निर्माणाधीन 'शिक्षक-सन्दर्शिका','अध्यापकों के लिए हिन्दी-व्याकरण पुस्तक' तथा 'बी.एड.(भाषा-शिक्षण) कोर्स' हेतु पुस्तक के लिए विषय-विशेषज्ञ के रूप में पाठ-लेखन/संपादन। **'चेतांशी'** पत्रिका (पटना) में भाषा और स्त्री के सम्बन्धों पर **'आधी भाषा'** नाम से कॉलम-लेखन । साहित्यिक व समसामयिक ज्वलन्त मुद्दों पर ब्लॉग-लेखन ।

**पुस्तक** :- (1) **'जनसंख्या-समस्या के स्त्री-पाठ के रास्ते'** (पृष्ठ-संख्या- 195) 'राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली' (2010), (2) **'हिन्दी-व्याकरण के नवीन क्षितिज'** (पृष्ठ-संख्या - 424) 'भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली' ( 2010), (3) **'समान्तर दृष्टि की राह'** (रचनात्मक एवं वैचारिक परिदृश्य का स्त्री-विवेक) - 'यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली' ( 2013)।

**वर्तमान सेवा** :- 'जी.एल.ए.कॉलेज', डाल्टनगंज (झारखण्ड) में **हिन्दी** के असिस्टेण्ट प्रोफेसर के रूप में स्नातक-स्नातकोत्तर कक्षाओं का अध्यापन (2008 से )।

**सम्पर्क** :- ग्राम - पाठक विगहा, पोस्ट- जम्होर, जिला- औरंगाबाद, (बिहार)। पिन- 824121

**फोन** - 09801091682

**ई-मेल**- rkpathakaubr@gmail.com

**ब्लॉग** - http://ravindrakumarpathak.blogspot.com

समांतर दृष्टि की राह (रचनात्मक एवं वैचारिक परिदृश्य का स्त्री-विवेक) डॉ. रवींद्र कुमार पाठक

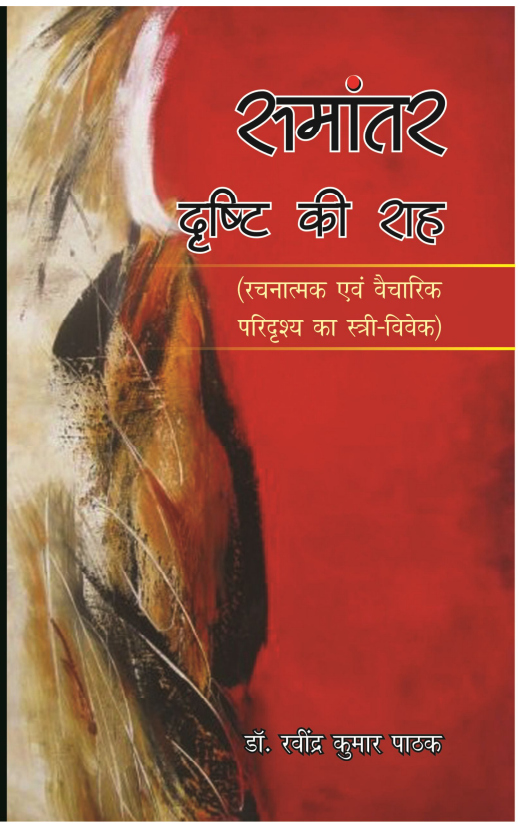


हमारे समाज की यह त्रासद सच्चाई है कि उस के ऐतिहासिक विकास की विसंगतियों से कुछ लोग (मानव-समूह) सम्पत्ति, सत्ता व ज्ञान के संसाधनों पर काबिज़ यानी मुख्य धारा में हैं और शेष उस से वंचित होकर हाशिये पर पड़े । हाशिये पर पड़े या डाले गये समूहों में स्त्री सब से बड़ा सामाजिक समूह है । फिर, हाशिये के शेष समूहों के मुख्य धारा से अन्तर की अपेक्षा स्त्री का पुरुष से अन्तर खास तरह का है, वह कुछ हद तक प्राकृतिक भी है। साथ ही, प्राकृतिक रूप से स्त्री व पुरुष के परस्पर-पूरक होने के कारण इन का आपसी सम्बन्ध उसी तरह के सीधे अलगाव वाला नहीं है, जिस तरह दलित/आदिवासी और गैर-दलित/गैर-आदिवासी के बीच है । सब मिला कर, स्त्री व पुरुष का सम्बन्ध बेहद जटिल या पेचीदा है । इस के साथ, यह बात भी भूलने की नहीं कि स्त्री पुरुष के बराबर इन्सान होने के साथ-साथ किसी मात्र में उस से विलक्षण इन्सान भी है । कारण, स्त्री में कुछ खास जैविक अंश हैं, जिन से जुड़ीं कुछ विशिष्ट अनुभूतियाँ-संवेदनाएँ, समस्याएँ या स्थितियाँ भी उस के पास हैं ।

आमतौर पर प्रचलित रहे नज़रिये से यह सच दिखाई नहीं देता, क्योंकि वह पुरुष-नर्वस्व से ग्रस्त है और वह पुरुष-आशयों को सार्वभौम सा बना कर पेश करता है। उक्त यथार्थ को देखने के लिए, इस के समानान्तर विचार-दृष्टि का विकास जरूरी है, जिस का प्रचलित नाम 'स्त्री-विमर्श' है। 'स्त्री-विमर्श' ज्ञान के हर अनुशासन में की गयी उपलब्धि को दुनिया की आधी आबादी के नज़रिये से, उस के योग-क्षेम की चिन्ता के साथ परखने का आग्रही है । साथ ही, वह इसी चिन्ता व नज़रिये से भावी सृष्टि रचने एवं ज्ञान-स्रोतों के पुनराविष्कार के लिए प्रतिबद्ध है। इस का सच से स्थूल व्यावहारिक प्रयोजन स्त्री-समस्या का निराकरण है, जिस का विकसित रूप स्त्री को पुरुष के बराबर इन्सान बनाना - उसे कर्म-भोग व त्याग में पुरुष के समान सक्षम करना है। अक्सर इसी को 'स्त्री विमर्श' (नारीवाद) का पर्याय या उस की पूर्णता समझ लिया जाता है। परन्तु, यह तो सत्य का एक खण्ड भर है । मानवीयता की अपरिहार्य

*शेष अगले फ्लैप पर...*

Friday, June 21, 2013
10:13 AM

समांतर दृष्टि की राह

# समांतर दृष्टि की राह

(रचनात्मक एवं वैचारिक परिदृश्य का स्त्री-विवेक)

डॉ. रवींद्र कुमार पाठक

यश पब्लिकेशंस
दिल्ली

**प्रकाशक** : **यश पब्लिकेशंस**
1/10753, गली नं. 3, सुभाष पार्क,
नवीन शाहदरा, कीर्ति मंदिर के पास
दिल्ली-110032 मो: 09899938522
Email : yashpublicationdelhi@gmail.com
website : www.yashpublications.com
website : www.yashbookcentre.com

© : लेखक

ISBN : 978-93-81945-90-2

**प्रथम संस्करण** : 2013

**मूल्य** : ₹ 595

**लेजर टाइप सेटिंग** : **यश पब्लिकेशंस**
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

**मुद्रक** : **नागरी प्रिंटर्स,**
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

**समर्पण**

ज्ञान के महत्त्व का बाल्य-चित्त में बीजारोपण करके,
मेरी आधारभूत निर्माणावधि के विद्यार्जन-मार्ग में
दीर्घकाल तक मार्गदर्शक से भी बढ़कर
सक्रिय सहयोगी रहे
अपने पिता जी
**(श्री वासुदेव पाठक)**

*एवं*

आरोपित प्रस्थिति-वश
तद्रूप सहयोग दे पाने में अक्षम रहीं,
मेरे बचपन में ही स्मृतिशेष हो चुकीं, देहदात्री,
अपनी माता जी
**(स्वर्गीया श्रीमती देवी)**
को
सप्रेम और सश्रद्ध!
*—रवीन्द्र*
8 मार्च, 2013

## अनुक्रम


| | |
|---|---|
| दस्तक | 9 |
| भक्ति-साहित्य की मूल्य-संरचना और स्त्री | 13 |
| स्त्री-विमर्श के दौर में विनोबा की मूल्यवत्ता | 111 |
| ज़ंजीर तोड़नेवाली ऊष्मा की परिणति : वेनीपुरी की नयी नारी | 128 |
| आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की नारी-दृष्टि : चरित्र से प्रतीक की ओर साधना | 148 |
| नारीवादी अर्थशास्त्र के प्रयोक्ता प्रो. अमर्त्य सेन | 192 |
| प्रेम की आजादी के लिए परंपरा से विद्रोह काफी नहीं | 205 |
| लिंग-विमर्श के व्याकरणिक मंच के पीछे लिंग-भेद का सांस्कृतिक नेपथ्य | 214 |
| स्त्री-भाषा : अवधारणा और सम्भावना | 233 |

# दस्तक

प्रस्तुत पुस्तक विषय-साम्य की अपेक्षा दृष्टि-साम्य का परिणाम है। इसके अंगीभूत लेख समय-समय पर लिखे गये हैं। इनमें अब तक बहु-प्रचलित रही (पुरुषवादी) दृष्टि के समानान्तर मैं अपने-आपको खड़ा पाता हूँ। इस समान्तर विश्वदृष्टि का प्रचलित नाम 'स्त्री-विमर्श' है, जो ज्ञान के हर अनुशासन में की गयी उपलब्धि को दुनिया की आधी आबादी के नज़रिये से, उसके योग-क्षेम की चिन्ता के साथ परखने का आग्रही है। साथ ही, वह इसी चिन्ता व नज़रिये से भावी सृष्टि रचने एवं ज्ञान-स्रोतों के पुनराविष्कार के लिए प्रतिबद्ध है। इसका सबसे स्थूल व्यावहारिक प्रयोजन स्त्री-समस्या का निराकरण है, जिसका विकसित रूप स्त्री को पुरुष के बराबर इन्सान बनाना—उसे कर्म-भोग व त्याग में पुरुष के समान सक्षम करना है। आमतौर पर इसी को 'स्त्री-विमर्श' (नारीवाद) का पर्याय या उसकी पूर्णता समझ लिया जाता है। परन्तु, यह तो सत्य का एक खण्ड भर है। मानवीयता की अपरिहार्य माँग होकर भी यह न पर्याप्त है, न पूर्ण। स्त्री-विमर्श की पूर्णता 'समान्तर विश्वदृष्टि' बनने में ही है, जिसके अन्तर्गत एक छोटी सी कोशिश मेरी भी है। यह पुस्तक इसी दृष्टि का विन्यास है।

जाहिर सी बात है कि इस दृष्टि की न यह शुरुआत है, न अन्त और न ही यह पर्याप्त है; पर इसके जरिये 'परंपरा' व 'प्रचलन' से समान्तरता का मेरा रिश्ता है—इसी विश्वास के साथ मैं खड़ा हूँ। यही विश्वास मेरी ऊर्जा का स्रोत है। इस नज़रिये से विचारों व स्थितियों को देखने-परखने की रुचि मुझमें एक दशक पहले जगी थी। उसी क्रम में मेरी एक पुस्तक आयी—'जनसंख्या-समस्या के स्त्री-पाठ के रास्ते...' (2010, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली)। यह पुस्तक उसी की अगली कड़ी है। इसके ज़रिये सब से बड़े जनसंख्या-वर्ग (जो साथ-साथ सब से बड़ा दलित वर्ग भी है) की अनदेखी-अधदेखी या उसके प्रति बने क्रूर पूर्वग्रह-जाल का किसी मात्रा में खण्डन-भंजन होते हुए प्रचलित वैचारिकी के लैंगिक न्याय ('जेण्डर जस्टिस')-परक पुनर्गठन में कुछ भी मदद मिलती है, तो इस लेखनी को संतोष होगा।

समान्तरता का इतना आग्रह कोई प्रतिसंसार रचने के लिए नहीं है और न ही यह प्रस्ताव है किसी विरोधी दृष्टि का। बात सिर्फ इतनी है कि कोई विचारधारा जब

इतनी एकांगी व जटिल हो जाए कि उसके लिए कोई खास समूह, शेष जन-समुदाय को 'अन्य' बनाने की कीमत पर 'अपना' बन जाए और फिर उस 'अन्य' का कोई सक्रिय-धनात्मक स्थान भी उस विचारधारा में न रह जाए; तो उसे काटने-तोड़ने और सही दिशा में मोड़ने हेतु किसी समान्तर दृष्टि की जरूरत होती है। समान्तरता का अन्तिम लक्ष्य पूरकता है। पुरुष-दृष्टि का प्रतिपक्ष होने की जगह, उसे संतुलित इन्सानी दृष्टि बनाने हेतु ही स्त्री-दृष्टि का यह विनियोग है।

अक्सर मुझे यह सुनने को मिला है कि जन्म से पुरुष होकर, कोई स्त्री-दृष्टि से चीजों को कैसे देख-परख सकता है? इसे मैं तर्क नहीं, तर्काभास समझता हूँ? यह कुछ उसी तरह की बात हुई कि अवस्था से वृद्ध या सन्तानहीन हो कर कोई कैसे बाल या वात्सल्य भाव को समझ या चित्रित कर सकता है? इसलिए, यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैं 'देह' से अधिक 'दृष्टि' या 'मिजाज' का कायल हूँ। यह सम्भव है कि देह या जैविक रूप से कोई शत प्रतिशत स्त्री होकर भी दृष्टि या मन-मिजाज से पुरुष ही हो। (इस का एक बहुत आम उदाहरण है—बड़ी संख्या में (वधू-रूप) स्त्रियों को उत्पीड़ित-प्रताड़ित करने, पुत्रहीनता को लेकर उनका जीना मुहाल कर देने में (सास-ननद रूप) स्त्रियों की भी दमदार भूमिका रही है।) उसी तरह यह भी सम्भव है कि जन्म से पुरुष होकर भी कोई किसी हद तक स्त्री-दृष्टि से संयुक्त हो। फिर भी, मेरा मानना है कि दृष्टि या मिजाज का देह से भी कुछ रिश्ता है, भले आत्यन्तिक सम्बन्ध न हो। रचनाकार अपनी प्रतिभा (कल्पना शक्ति) की बदौलत, सहानुभूति के ज़रिये कुछ भी, किसी का भी सच रच सकता है, फिर भी 'स्वानुभूति' का अपना रंग और अपनी आँच है। ज्ञानात्मक संवेदन चाहे कितना भी उपयोगी बन जाए, पर संवेदनात्मक ज्ञान का महत्त्व अपनी जगह कायम है। अर्थात्, देह से पुरुष हो कर दृष्टि में स्त्री होना कठिन जरूर है, पर नितान्त असम्भव नहीं है।

मुझे इस बात की आशंका है कि अपने इस तरह के लेखन के द्वारा कहीं (मैं) एकांगी न समझ लिया जाऊँ, पर इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। सच तो यह है कि बुद्धि का कोई भी प्रयत्न अबतक सर्वांग-समग्र नहीं हो सका है। सारी सीमाओं से ऊपर उठ कर इन्सान होने का कितना भी दावा करें, पर ऐसा अक्सर होता है कि हम भीतर ही भीतर जाति-वर्ण, नस्ल, मजहब, वर्ग, पंथ, क्षेत्र, लिंग आदि तमाम संकोचक अस्मिता-बोधों में से किसी या कुछ के साथ 'वाद'-विशेष से भी किसी सीमा तक ग्रस्त रहते हैं अथवा जब कभी कुछ सोचते-कहते या करते उससे अचानक ग्रस्त हो उठते हैं—जिसका हमें खुद ही पता नहीं रहता। (हम जितना ही और जितने अधिक समय तक या जितने अधिक अवसरों पर इन से मुक्त रह सकें, उतनी ही हमारी सार्थकता है।) यदि ये संकीर्णताएँ हम में न हों, तो भी रुचियों की विचित्रता से हम कहाँ बच पाते हैं? इन्हीं सब से तथाकथित हर 'तटस्थता' में कुछ न कुछ एकांगिता होती ही है। फिर, मेरा यह प्रयास कैसे सर्वांगीण-समग्र हो सकता है? यह तो स्पष्ट



रूप से एक खास (लेकिन जरूरी) नज़रिये से किया गया है। एकांगी या अल्पांगी होना एक बात है और सतही होना दूसरी बात। मुझे चिन्ता तब होगी, जब आप मुझे सतही समझ लें।

कुल मिला कर, प्रस्तुत पुस्तक अपने नाम के अनुरूप रचनात्मक एवं वैचारिक परिदृश्य के कुछेक प्रस्थान-भूमियों व बिन्दुओं की स्त्री-दृष्टि से छानबीन के ज़रिये एक समान्तर विचार-दर्शन का प्रस्ताव है, जो लोकतांत्रिक समाज-रचना में रही बड़ी कमी (आधी आबादी के प्रति अन्याय व विरोध-भाव) को दूर करने की प्रतिबद्धता की राह पर खड़ा है। इसे आप इस सोच के साथ पढ़ें, तो बेहतर है, पर अपनी स्वतन्त्रता के साथ पढ़ें, तो और भी बेहतर है। बस, पढ़ें और बताएँ, जो मन में आए।

आप के प्रति उत्सुक और उत्कर्ण—

—रवीन्द्र

अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस
(8 मार्च, 2013)

डाल्टनगंज
(झारखण्ड)

# भक्ति-साहित्य की मूल्य-संरचना और स्त्री

*हिन्दी-साहित्येतिहास का स्वर्णयुग कहे जाने वाले भक्तिकाल की प्रगतिशीलता के तमाम दावे आधी आबादी (स्त्री) का सवाल उपस्थित होते ही खोखले नजर आने लगते हैं। सच तो यह है कि तत्कालीन रचनाशीलता (इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ कर) मध्यकाल के नारी-समाज की दिल दहला देने वाली वास्तविकता से न केवल निगाहें फेर कर बैठी थी, बल्कि पितृसत्तात्मक आदर्श की बेड़ियाँ स्त्री पर डाल कर उस वास्तविकता को और भी जटिल बना रही थी। पर, सन्त/भक्त-रचनाकारों की चारित्रिक ऊँचाई के व्यामोह में पड़ासाहित्येतिहाकारों व आलोचकों का बड़ा वर्ग, असिद्धि-अर्द्धसिद्धि और अवान्तर सिद्धि के रास्ते भक्तिकालीन असलियत को झुठलाते-ढँकते या अनदेखा करते रहा है। उसकी पितृपक्षीय मानसिकता एक तरफ स्त्री-घाती मूल्यव्यवस्था से ग्रस्त सन्त/भक्त-रचनाकारों को क्लीनचीट देने से आगे बढ़कर उन्हें गंगास्नान कराने में दृष्टिगत होती है; दूसरी तरफ स्त्री-संत्रासक स्थितियों व उनके लिए जिम्मेदार पितृवर्चस्वी तंत्र के प्रतिरोध में उठीं ताकतों (विशेषकर स्त्री-रचनाकारों) को भी न देख पाने या अनदेखा कर देने, उन्हें हाशिये पर/फुटकलखाते में ठेल देने में उजागर होती है। फिर, भक्तिकालीन साहित्य में व्याप्त प्रवृत्तियों का निर्धारण करते समय 'स्त्री-निरपेक्षता से स्त्री-घात तक' व्याप्त मूल्य-दृष्टि को एक प्रवृत्ति के रूप में निर्धारित करना उन्हें काहे को सूझेगा?*

*इस विनिबंध में भक्तिकाल के सब से लोकप्रिय रचनाकारों/कृतियों की स्त्री-दृष्टि से पड़ताल के जरिये भारतीय (कम-से-कम उत्तर भारतीय) समाज की संघटना में मौजूद उस वैचारिकी की छानबीन की गयी है, जो आज भी एक स्वतन्त्र, स्वस्थ व खुशहाल इंसान के रूप में स्त्री का जीना मुहाल किए हुई हैभक्ति-साहित्य जिस वैचारिकी का न केवल दमदार प्रतिनिधित्व करता है, अपितु उसे सम्भव बनाने और बरकरार रखने में भी उस का भरसक योगदान रहा है।*

भारतीय इतिहास के मध्यकाल की कई शताब्दियों की दीर्घावधि में अखिल-भारतीय रूप ले कर व्याप्त रही भक्ति की धारा,[1] जिसने तत्कालीन समाज की वर्ण/जाति, कुल, मज़हब, वर्ग आदि सीमाओं को करारे झटके देते हुए एक जनान्दोलन का रूप धरा

था (या कुछ के मत से जीवनोत्सव जैसा आभास कराया था); वह अपने क्रान्तिकारी जोश के रूप में तो आज खोजने पर भी कहीं दिखाई नहीं देती; किन्तु परलोकवादी सोच, कर्मकाण्ड-जाल और स्त्री-विमुख ऐकान्तिक मूल्य-व्यवस्था (जो स्त्री-विरोधी रूप अख्तियार करती रही है) का जो बाईप्रोडक्ट वह छोड़ गयी है, वह हमारी वैचारिक व सामाजिक संरचना को बुरी तरह से जकड़े हुए है। बल्कि, कहना चाहिए कि वह कचरा विज्ञान-युग के उपकरणों पर सवार होकर कैंसर की तरह संघातक होकर, घर-घर में दिन-दूना रात चौगुना फैल रहा है। नित नये रूप में आकार लेते नाना प्रकार के तन्त्र-मन्त्र एवं (नज़र-सुरक्षा, धनलक्ष्मी-कुबेर-शनि आदि नामधारी) यन्त्र, भूत-प्रेत, राशिफल, परलोकोन्मुख प्रवचन आदि धार्मिक उत्पादों से अँटे पड़े बाज़ार और टी.वी. के धार्मिक सीरियल व चैनल जब आम जन को अहर्निश राष्ट्रीय मूर्च्छा का शिकार बना रहे हों और जब (2011 की जनगणना के मुताबिक) देश में शिक्षा-संस्थानों व अस्पतालों की कुल संख्या (28 लाख) पर पूजास्थलों की संख्या (30 लाख) भारी पड़ती हो,[2] तब एकबारगी लगने लगता है कि भक्तिकाल के इस विकृत पुनरावतार की चपेट में आने से बचना असम्भव है। भक्तिकालीन मूल्य-व्यवस्था को पुनर्जीवित करने के हर सांस्कृतिक व राजनैतिक प्रयत्न (राष्ट्रवादी राजनीति) विज्ञान को हर स्तर पर अन्धविश्वास-मूलक संरचना (जिसे 'धर्म' का नाम दिया जाता है) से पराजित दिखाने की दिशा में तो होता ही है, बल्कि उसका सबसे काला पक्ष यह है कि जैसे-जैसे उस मूल्य-व्यवस्था का प्रसार होता है, वैसे-वैसे पुरानी विचारधाराओं, मिथकावलियों व (विगत होती जा रहीं) पुरानी सामाजिक संरचनाओं का सहारा ले कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता, उसके बुद्धि-विवेक का गला घोंटने की कवायदें तेज होती हैं। उसके तहत, खासकर स्त्री को अनुशासित, शासित और परिभाषित करने की मुहिम तेज होती है। परिणाम, उसकी नित नव-नव रूप में सम्भव हो रही स्वतन्त्रता व आत्मनिर्भरता पर अंकुश लगने लगता है। जैसे वस्त्र-धारण में बढ़ रही उसकी सहजता को उसके ख़िलाफ प्रायोजित यौन-हिंसा (बलात्कार) का कारण ठहराया जाता हैस्त्री के घरेलू बन कर घुटने से इनकार एवं घरेलू हिंसा से बचाव हेतु किये गये प्रतिकार को परिवार व समाज विरोधी गतिविधि करार दिया जाता है। इसके साथ, जीवन के हर क्षेत्र में सफलता के झंडे गाड़ चुकी और कहीं-कहीं पुरुष को भी पछाड़ चुकी लड़की से भी अपेक्षा की जाती है कि वह चुपचाप, हाँकी गयी, बेची या दान की गयी गाय की तरह, बाप-भाई द्वारा चुने गये किसी अनजाने मर्द के बाड़े (ससुराल) में बन्द हो जाएउसे परमेश्वर मान कर उसी के दैहिक-मानसिक सुख-कल्याण में स्वयं को विलीन कर दे, करवा-तीज आदि ताम-झाम के बीच सन्तान-जनन व पालन में ही अपने होने की सार्थकता खोजे; नौकरी करने लायक ज्ञान/कौशल रख कर भी अपनी पूरी प्रतिभा रसोई को मसालेदार बनाने में ही लगाए; पराश्रित जीवन व प्राणवायु-रोधक पर्दे-घूँघट व घरेलू कैद को गरिमा के साथ ढोतीस्वयं कुछ न चाहतीघरेलू काज में



दिन-रात बैल की तरह खटती और घर-परिवार की चिन्ता को गधे की तरह ढोती रहे और ससुराल के बड़े-बूढ़ों ही नहीं, छोटों तक के अनुचित व्यवहारों के प्रति भी सहिष्णुता के अलीगढ़ी ताले से जुबान को बन्द किए 'बड़े घर की बेटी'[3] बनी रहे। नारी से इस प्रकार की अपेक्षा भक्तिकाल के सन्त/भक्त-रचनाकारों की आम अपेक्षा रही है, जिस की पूर्ति में स्त्री से तिल भर न्यूनता हुई कि उन की जुबान/लेखनी से पूरी स्त्री-जाति के ख़िलाफ़ ज़हर की उल्टियाँ शुरु! कहना तो यह चाहिए कि उनकी अपेक्षाओं पर स्त्री कितनी भी खरी उतर ले, पर उनकी निगाह में वह अविश्वसनीय ही है, 'ताड़न की अधिकारी'[4] या 'नरक का कुण्ड'[5] ही है तथा वह नागिन से भी ख़तरनाक[6] है ।

## अंतर्विरोधी काल

भक्ति-आन्दोलन संस्कृति की समग्र चेतना व चिंता से युक्त अखिल भारतीय आंदोलन है, जो विभिन्न समुदायों की हक़ीकतों और उन्हें बयान करने व बदलने की चाहतों से भी जुड़ा हुआ हैइसके कारण उसमें नाना विसंवादी स्वरों की एक साथ उपस्थिति है। हिन्दी-भाषा प्रदेश में जो उसका रूप उभरा, वह भी उद्भव-स्थिति और सामाजिकता के परिप्रेक्ष्य व परिणति में एकरूप नहीं रहा। स्वरूप व स्थान के साथ काल के व्यवधान से भी उसकी अनेक धाराएँ पहचानी-पुकारी गयींनिर्गुण व सगुण की ज्ञानाश्रयी-प्रेमाश्रयी, रामभक्ति-कृष्णभक्ति नाम से बहुचर्चित चार धाराओं की भी कई अन्तर्धाराएँ रहीं। उनमें और उनके रचनाकार संत/भक्त कवियों में पर्याप्त और रोचक अंतर्विरोध दिखलायी पड़ते हैं। उनके अंतर्विरोधों के विकास का लंबा इतिहास है, जो भक्ति-आन्दोलन के विकास के इतिहास से जुड़ा हुआ है तथा जिसे विशालतर सामाजिक भूगोल में विकसित होना पड़ा है। मुक्तिबोध के अनुसार भक्ति-आंदोलन दक्षिण के आलवार संतों तथा उनके प्रभाव में रहने वाले जनसाधारण से उद्भूत होकर फैला, न कि धर्मशास्त्रवादी, वेद-पुराणवादी लोगों से। यह निर्विवाद है कि भक्ति-आंदोलन का जन्म जनता के कष्टों व विषमताओं की परिणति है।[7] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्ययुगीन संतों की भावना में जनता के सांसारिक कष्टों की भूमिका को महत्त्व न देकर, भक्ति-काव्य को भारतीय परंपरा का स्वाभाविक विकास बतलाया,[8] उससे मुक्तिबोध सहमत नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-आन्दोलन के मूल में जनता के कष्ट तो देखे थे, परन्तु उन कष्टों को इस्लामी आक्रमण से जोड़कर उन्होंने हिन्दू-सामन्तवाद के पक्षपाती अभिप्राय निकाले थे, जो संगत नहीं हैं।[9]

भारतीय मध्यकाल में कई शताब्दियों तक छायी रही भक्ति-चेतना का सबसे आसान अंतर्विरोध निर्गुण और सगुण का है, जो काल-क्रम में एक पर एक है। फिर भी, अनुभव व अभिव्यंजना में निहित सार-तत्त्वों की औसत समानता के आधार पर उन में सामान्यता के तत्त्व भी खोजे गए हैं, जिन के आधार पर उन्हें भक्तिकाल की

एक ही छतरी के नीचे रखने की परिपाटी चल रही है । तत्कालीन सन्त-भक्त कवियों में पर्याप्त विविधता और सर्जनात्मक विशिष्टतागत अन्तर के रहते हुए भी कुछ वास्तविकताएँ सब में पहचानी गयीं, जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संकेतित किया है। वे हैंभक्ति या आत्मसमर्पण में पगा होना, भगवान् से व्यक्तिगत संबंध, व्यक्ति-रूप में ईश्वर की कल्पना, भक्त व भगवान् को एक समान समझना, नाम-महिमा, दैन्य-प्रदर्शन, गुरु की महत्ता,[10] परपीड़ा से द्रवित होने के भाव, सदाचार पर जोर तथा सहज व पारदर्शी व्यक्तित्व होने को भक्ति की सबसे बड़ी पात्रता मानने का भाव।[11] जनमानस में निर्गुण-सगुण के बीच अलगाव से ज्यादा उनकी एकता का बोध कायम हैयह तथ्य भी सामान्यता की तलाश का पुष्ट आधार है। भक्तिकालीन रचनाकारों में उपरिचर्चित सामान्य तत्त्वों के अलावा एक तत्त्व बड़े जोर-शोर से प्रचारित किया जाता हैजाति, कुल, पद, वैभव आदि वैशिष्ट्यों का अतिक्रमण। पूरे भक्तिकाल को अंतर्विरोध-रहित एक इकाई मान कर उसकी सम्पूर्णतया प्रगतिशीलता के गुण गाते न थकने वाले आलोचकों ने इस तत्त्व को जोर-शोर से उद्धृत किया है; परन्तु ऐसा करते वे भूल गए हैं कि सामाजिक भेद-भाव मिटाने से जुड़ा उक्त तत्त्व एक ऐसी कसौटी है जो भक्तिकालीन अंतर्विरोध को स्पष्ट रूप से उजागर कर देती है। वह 'निर्गुण' और 'सगुण' के फाँक को और चौड़ा कर देती है। सामाजिक समता का उक्त दर्शन यद्यपि दोनों का सच है, परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सगुण भक्त कवि जहाँ जात-पाँत आदि से जुड़े भेद को केवल भक्ति की दुनिया में मिटाने पर सहमत थे, वहीं निर्गुण संत कवि वास्तविक सामाजिक जीवन में भी उसके उन्मूलन के आग्रही और उसके लिए संघर्षशील तक थे।

'निर्गुण' और 'सगुण' में सिर्फ आध्यात्मिक भावना या उपासना-पद्धति का अलगाव नहीं है, बल्कि वे दो अलग-अलग भौतिक व सामाजिक प्रस्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लगभग सारे निर्गुण संत कवि तथाकथित निम्न वर्ण व निम्न वर्ग से आये थे, सबका कोई न कोई अपना पेशा था और उन्हें अपने जन्म और पेशे को लेकर तिरस्कार की भीषण स्थितियों से जूझना पड़ता था। यही कारण है कि सामाजिक विषमता और जात-पाँत के भेदभाव पर टिकी हुई समाज-व्यवस्था और उसे बचाये रखने वाले विधि-निषेधों पर तीखा प्रहार निर्गुण काव्य में मिलता है। (नाभादास जैसे एकाध अपवादों को छोड़कर) सारे सगुण भक्त कवि तथाकथित उच्च वर्ण से ही आये थे, जो आजीविका (भिक्षावृत्ति) के लिए उत्पादक निम्न वर्ण पर निर्भर थे तथा जन्म व आजीविका से जुड़ा कोई तिरस्कार उन्हें कभी झेलना नहीं पड़ा था, बल्कि उस से अक्सर उन्हें सम्मान भी उपलब्ध होता था। यही कारण है कि जातिगत विषमता व उत्पीड़न का महत्त्वपूर्ण सामाजिक प्रश्न उन के मानवतावाद की परिभाषा से बाहर रह गया, बल्कि कहना यह चाहिए कि वर्णाश्रमी व्यवस्था और उस के पोषक शास्त्रों एवं उन शास्त्रों के धारक पंडितों की क्रूर तरफदारी तक वे करते रहे हैं। 'निर्गुण' व



'सगुण' के इस अंतर्विरोध को भारतीय राजनीति में आम्बेडकर और गाँधी के बीच वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में उनके वैचारिक द्वंद्व के सन्दर्भ में भी समझा जा सकता है। भक्तिकाल का यह अंतर्विरोध समाज की अग्रगति और उसकी गतिरुद्धता/यथास्थितिवादी आग्रह की जड़ताप्रगतिशील रचना और पौराणिक कविता का द्वंद्व हैजिसके ऐतिहासिक पूर्वापर-विकासक्रम में अंतिम प्रभुत्व यथास्थितिवाद का हो गया।[12]

## मैं किसी स्त्री से नहीं मिलता

भक्तिकाल के सन्त/भक्त रचनाकारों की उपरिचर्चित तमाम समानताओं और असमानताओं के ऊपर उनके सामाजिक दृष्टिकोण या मूल्य-बोध से सम्बद्ध एक भारी समानता स्पष्टतया हावी है, जो उन साधकों/रचनाकारों की तमाम तेजस्विता पर कालिख पोत देती है। वह हैआधी आबादी (पूरी स्त्री-जाति) को अकारण दण्ड-भाव से देखना, उसे इन्सान न माननाबहुत हुआ तो उसे सशर्त्त इन्सान मान पाना। यह एक ऐसा तत्त्व है, जिसका समुचित पैमाने पर विचार नहीं किया जाता, बल्कि कई लोग तो इसका उल्लेख करने से भी बचते रहे हैं।

उन साधक रचनाकारों की दृष्टि स्त्री-विमुख भर होती, तो भी एक हद तक सह्य थी, क्षम्य थी। परन्तु, इससे आगे बढ़ कर वे स्त्री-विरोधी विचारों के प्रस्तोता और स्त्री-द्रोही संरचनाओं के प्रस्तावक बन कर जब स्त्री-घात का मार्ग प्रशस्त करने लगते हैं, तो कौन सा आधुनिक विवेक होगा, जो उन्हें माफ़ी के काबिल समझेगा? सवाल दो-चार का नहीं, बल्कि सीधे-सीधे पचास प्रतिशत आबादी के जीवन-मरण या योग-क्षेम का जब प्रश्न हो, तब यह थोथी दलील सामाजिक या साहित्यिक आलोचना की किस अदालत में चलेगी कि वे उन विरोधी विचारों से ग्रस्त भर थे, जो उन्हें परम्परा से मिले थे; न कि उन के मौलिक निर्माता थे? यदि कचरा आपने पैदा न किया है, बल्कि बाप-दादों की परम्परा से आ गया है; तो क्या हक़ बनता है उसे सबके घरों में छींटने का? यदि बम किसी ने ज़बरन भी आप को थमा दिये हों, तो उन्हें जहाँ-तहाँ फोड़ कर निर्दोषों को मौत के घाट उतारने का ही एकमात्र औचित्य है, उसे डिफ्यूज करने का नहीं? नारी को पशु-श्रेणी में डाल कर उसे दुरदुराते-गरियाते रहने वाले दुर्वचन आपकी मौलिक उद्भावना न होकर किसी पूर्ववर्त्ती पाठ की पुनर्रचना भर भी हैं, तो सवाल है कि ऐसी पुनर्रचना करने की जरूरत ही आपको क्यों पड़ी? यदि जान-बूझकर आप ये सब करते हैं (और यही सही है, क्योंकि आप सचेत कलाकार हैं, न कि मदपायी), तो आपकी रुचि कितनी निम्नगामी है! कितनी समाज-द्रोही है! अपने को पाक-साफ ठहराने के लिए कोई दलील देने की जरूरत आपको तो शायद ही पड़ी होगी, किन्तु आज के लोकतांत्रिक सवालों के बीच घिरने की स्थिति में आप को प्रक्षालित करने का जो ठेका पितृपक्षीय आलोचक ले लेते हैं, जो आप की कृति के असुविधा-जनक प्रसंगोंस्त्री-निरपेक्ष दृष्टियों या नारी-द्रोही उक्तियों पर चुप्पी

लगा कर या लक्षणा-व्यंजना से दूर की कौड़ी लाकर आपकी महत्ता/ निर्विकार देवत्व वाली छवि बरकरार रखते हैं; उनसे ही सीधी मुठभेड़ की जरूरत है।

'भक्तिकाल में स्त्री को न्याय न मिला'यह कहना ठीक नहीं, बल्कि 'उसमें स्त्री को अन्याय का शिकार बनाया गया'यही कहना सही है। कुछ इक्का-दुक्का अपवादात्मक स्थितियाँ भले हो लें, पर स्त्री को कुलक्षण या विलक्षण मान कर उसे सामान्य इन्सानी धारा से विच्छिन्न कर देना ही भक्तिकालीन स्त्री-दृष्टि का सच है। रीतिकाल के लिए बहुप्रयुक्त यह जुमला भक्तिकाल पर भले न घटे कि 'कवि नारी के साढ़े तीन हाथ के शरीर में ही चक्कर काटते रहे', परन्तु यह तो सत्य है कि भक्तिकालीन आम दृष्टि में नारी साढ़े तीन हाथ के शरीर से अधिक नहीं है, जिससे जिससे प्रसूत होने के बावजूद भयभीत है पूरी (पुरुष) भक्त/सन्त-मण्डली कि वह कहीं हमारे भीतर कामोन्माद न जगा दे, बड़े जतन से ओढ़ी गयी ब्रह्मचर्य की चादर या बड़ी मेहनत से बनाये गये ब्रह्मचारी के इमेज को कहीं वह तार-तार न कर दे! इसी से उस पर 'देवी', 'माँ' या संयमित 'गृहिणी' का लेबल लगा कर हानि-रहित बना लो या उसे 'कामिनी' (कामुकता भरी) ठहरा कर परे हटा दो। दोनों स्थितियों में स्त्री का वस्तुकरण ही होता है। रही बात मीरा की, तो स्पष्ट होना चाहिए कि पितृसत्ता और राजसत्ता से स्त्री के संघर्ष की मिसाल बनीं मीराबाई जैसी तेजस्वी स्त्री को भक्तिकाल की मुख्य धारा पचा नहीं सकती थी। तभी तो अध्यात्मवाद का दम भरने वाले (चैतन्य-सम्प्रदायी) जीव गोस्वामी को वे सन्त या आत्मा नहीं, साढ़े तीन हाथ की मादा देह मात्र दिखी थीं, जिसके कारण उन्होंने मीरा से मिलने से इन्कार कर दिया'मैं किसी स्त्री से नहीं मिलता।' तब, मीरा ने मुँहतोड़ जवाब दिया था'मैं तो समझती थी कि कृष्ण ही एकमात्र पुरुष हैं, सारे जीव स्त्री-रूप जो हैं । अब, यह दूसरा पुरुष कौन पैदा हो गया?' यद्यपि यह उत्तर भी पितृसत्तात्मक भाषा की संरचना में ही है, पर भाषा के माध्यम से किये गये मर्दवादी अन्याय के लिए उचित काट है, क्योंकि प्रत्युत्तर के लिए निर्मित कोई तर्क-संरचना सन्दर्भगत होने से ही प्रभावी होती है। इस उत्तर ने जीव गोस्वामी को हिला कर रख दिया, लज्जित होकर मीरा से उन्हें मिलना पड़ा। यह प्रसंग सत्य है या कल्पितयह विवाद का विषय हो सकता है, पर दोनों ही स्थितियों में स्त्री के प्रति भक्तिकाल के रवैये का पता इससे चलता है। भक्तिकाल में स्त्री सामाजिक संरचना में पुरुष से क्या समता रखेगी, भक्ति-क्षेत्र में भी वह पुरुष से हीनतर है, जबकि दावे किये जाते रहे कि भक्ति में सभी बराबर हैं। निर्गुण या असांस्थानिक भक्ति में भले स्त्री को कोई खास मुश्किल न आती होगी, पर भक्ति के सांस्थानिक रूपों में प्रवेश के लिए उसे नाकों चने चबाने पड़ते थे । मीरा की कहानी का संकेत इसी ओर है। जब इस कोटि की महिला को ज़ेण्डर-भेद का इतना घिनौना शिकार एक ज्ञानी कहे जाने वाले पुरुष के हाथों बनना पड़ रहा था, तब जहाँ-तहाँ सामान्य हाल में उग आयीं आम लड़कियों/औरतों का कैसा सत्कार अनाड़ी आदमियों



के हाथों सम्भव था! भक्तिकाल की नारी-निन्दा/ विरोध की सर्वव्यापी प्रवृत्ति यदि उस काल का फ़ैशन हैं, तो वह फ़ैशन स्त्री के लिए सर्वग्रासी है, जो इन्सान के रूप में जीने का हक़ ही नहीं, बल्कि जीने का ही हक़ उस से छीन लेता है।

जैसा कि पूर्व-संकेतित है, भक्ति-आन्दोलन का प्रारम्भिक रूप (निर्गुण धारा) आम जनता की पीड़ा, सामाजिक भेदभाव और नाना बन्धनों के ख़िलाफ़ खड़ा नज़र आता है; पर उस का जो धीरे-धीरे विकास होता है (कृष्णभक्ति, रामभक्ति), उसमें उसकी क्रान्तिकारी मशाल बुझती नज़र आती है। वर्णाश्रमी व्यवस्था के उच्छेदनकारी विद्रोही स्वरों का अनुकूलन करते-करते, उन्हें तुलसीदास तक आते-आते, 'वर्ण-व्यवस्था' के आग्रह में बदल दिया जाता है! तुलसी ने भी सीमित अर्थ में इन्सान-इन्सान की समानता का पक्ष लिया, पर वह केवल भक्ति-क्षेत्र में।[13] उनकी प्रस्तावित समाज-संरचना और उनके कल्पित रामराज्य में तो जन्मगत स्तर-भेद काम्य आदर्श है। इस जगह आकर लगता है कि उनका बहु-प्रचारित 'समन्वयवाद' सामाजिक पुनःरचना का कोई नया एज़ेण्डा न होकर, वर्णाश्रम या जाति-प्रथा और स्त्री-पुरुष-विभेद को बरकरार रखने वाली सामाजिक मर्यादा की चारदीवारी के भीतर रह रही जनता के आपसी विवादों व विरोधों को टालने की दार्शनिक साधना है। वह इसलिए, ताकि चारदीवारी क्षतिग्रस्त होने से बची रहे। समग्रतः, भक्तिकाल में सामाजिक भेदभाव की कुछ ही रूढ़ियाँ (मज़हब, वर्ग, जाति की) तोड़ी जा सकीं; वे भी सगुण भक्ति के आ जाने पर सिर्फ़ भक्ति की सीमा में ही। फिर, स्त्री-विरोधी रूढ़ियाँ तो किसी की निगाह में रूढ़ियाँ थीं ही नहीं, बल्कि वे नारी-धर्म थीं, जिनका पोषण सभी सन्त/भक्त कवियों को परम आवश्यक लगा। उनके द्वारा नारी मात्र से मूक सहनशीलता, स्वयं कुछ भी न चाहने, पति/पुत्र के लिए सब कुछ लुटा देने और सबसे बढ़ कर पति की मौत पर सती हो जाने तक की अपेक्षा की गयी। चाहे किसी धारा का कवि हो, उस की ज़ुबान/लेखनी से यही निकलता था, अगर नहीं भी निकला तो मन में यही बैठा था।[14] किन्तु, स्त्री के सामाजिक-आर्थिक या राजनैतिक मानवाधिकारों के प्रश्न पर वे मौन थे। क्यों न रहते, जब सती प्रथा के उन पक्षपातियों को उसके जीवित रहने की ही कोई चिन्ता नहीं थी?

## दिल दहला देने वाला यथार्थ

भक्तिकाल भारतीय इतिहास का वह मध्यकाल था, जिसमें स्त्री के लिए दलन-उत्पीड़नकारी और दारुण अन्धकारमय सामाजिक यथार्थ की सर्वत्र व्याप्ति थी। आलोच्य काल में हिन्दुओं और विशेषतः राजपूतों में बड़े पैमाने पर नवजात या शिशु कन्या को मार डालने की बर्बर प्रथा जारी थी। केवल शाही और अभिजात वर्ग को छोड़ कर बाकी स्त्रियों की शिक्षा लगभग स्थगित थी। जो शिक्षा थी भी तो वह स्त्री-मॉडल (घरेलूकरण) की या धार्मिक-नैतिक मात्र थी। परदा-प्रथा व बाल विवाह के

कारण नारियों की रही-सही शिक्षा को भी जबर्दस्त धक्का लगा था। लड़की पर बाल-विवाह की दुधारी तलवार लटकती रहती थी। उच्च/ नागरिक समाज की स्त्री परदावाद की शिकार हो कर और शेष वैसे ही, सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-राजनैतिक स्तरीय विशाल बाह्य विश्व से निर्वासित होकर, ज़बरन थोपे गये बाल/अनमेल विवाह के द्वारा घर-घर में (असूर्यम्पश्या बन कर भी) घुट रही थी अथवा मर्दों की यौनाकांक्षा के दुर्ग (बहुविवाह, हरम, वेश्यालय) में भेंड़-बकरियों की तरह बड़ी संख्या में बन्दिनी थी। उस की देह कामोन्मादी राजसत्ता की भेंट चढ़ चुकी थीजिसकी प्राप्ति के लिए युद्ध, अपहरण, खरीद-फ़रोख्त, बलात्कार सब के सबराजनैतिक व धार्मिक रूप से भी जायज थे। कुछ सुल्तान, हिन्दू राजा व सरदार दुर्दम यौन-बुभुक्षा की पूर्त्ति हेतु सुदर्शनाओं की नियमित आपूर्त्ति के लिए एक अलग विभाग ही रखे हुए थे।[15] कन्याओं को देवदासी बनाने का रिवाज़ भी खूब चला था, जिसका निहित कुत्सित उद्देश्य थाउन्हें पुजारियों व मठाधीशों के भोग का साधन बनाना। सामन्तों व दरबारियों के लिए नारी जीवन-संगिनी न होकर उनके मादक क्षणों की सहचरी भोग-विलास की मदिरा भर थी। ('पदमावत' में रतनसेन को पद्मावती कहती है कि मैं रमणी हूँ, तू रमणकर्त्तापति की आज्ञा मेरे सिर-माथे पर है। मुझे जो आज्ञा दोगे, वह झुक कर प्रदान करूँगी। पर, हे पति! प्रार्थना है कि कामरस का आस्वाद थोड़ा-थोड़ा ही करें, अर्थात् ढंग से पीएँ।[16]) राजपूतों में रक्तपात का हर्जाना धन से ही नहीं, धरती और कन्याओं/दुल्हनों के उपहार द्वारा भी पूरा होता था। ('रामचरितमानस' में भी वनवासी राम से मिलने जा रहे भरत व नागरिकों की सुख-सुविधा का ख्याल करते हुए ऋषि भरद्वाज ने माला-चन्दनादि के साथ, स्त्रियों को भी भोगार्थ पेश किया है।[17]) इस तरह से, स्त्री पूरी तरह परजीवी और लतखोर बन कर, पुरुष (पति, राजा) के रहमो-करम पर ज़िन्दा थी। बच्चियों के साथ अधेड़-वृद्ध पुरुषों के भारी संख्या में हो रहे अनमेल-विवाहों का परिणाम असंख्य कमसिनों के वैधव्य के रूप में आता था। पति की मौत के बाद उन्हें ज़बरन चितारोहण (सती व जौहर) कराया जाता था। मुगल बादशाहों के हस्तक्षेप के बावजूद सती-प्रथा (और जौहर) बदस्तूर जारी थी।[18] किसी राजा या सामन्त द्वारा बहुविवाह (पत्नियाँ व रखेलिनें) या बहुत सी स्त्रियों के साथ यौन-सम्बन्ध रखने की बेलगाम ऐयाशी का अंतिम वीभत्स परिणाम यह होता था कि किसी पुरुष के मरने पर एक ही साथ बहुत सारी स्त्रियों को सती होना पड़ता था। (जैसे'पदमावत' में दो स्त्रियाँ एक साथ जल मरींपद्मावती और नागमती)।

विधवा स्त्री यदि सती होने से बच भी जाती थी, तो उसे घृणा-तिरस्कार की नारकीय परिस्थिति या वेश्या बनने की कीमत पर ज़िन्दा रहना होता था। समग्रतया, हत्या व आत्महत्या की नियति से बच गयीं बाकी स्त्रियाँ पशुवत् अपहरण, यौन-हिंसा, भुखमरी आदि के साये में सहम कर, आग की भट्टी में ही जीती थीं। परन्तु, ये दुरवस्थाएँ अध्यात्म की फ़ाकामस्ती में रमे सन्तों/भक्तों की संवेदना को विचलित नहीं कर पाती



थीं। स्त्री को लेकर वे स्मृति-समर्थित दुहरे नैतिक मानदण्ड से भरेबोध की विकलांगता को प्राप्त थे।

## कबीर : नारी कुण्ड नरक का

प्रो. मैनेजर पाण्डेय सामाजिक व्यवस्था और धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों के विशेष सन्दर्भ में कबीर की सवाल खड़ा करने की जिस प्रवृत्ति को उनकी एक बड़ी विशेषता के रूप में रेखांकित करते हैं,[19] उससे नारी की उक्त ज्वलन्त वास्तविकताएँ अछूती कैसे रह गयीं? उलटे, कबीर ने फालतू सवाल उठाया कि मुसलमान लोग खाला की बेटी से ब्याह करते हैं, उनके पीर-औलिया मुर्गी-मुर्गा खाते हैं, क्यों?[20] कबीर की नज़र में मुस्लिम पुरुष द्वारा मौसेरी बहन से विवाह करना अपराध है (भले इसमें दोनों की मन-मर्जी हो), किन्तु धन/बाहु बल या धर्म की ताकत (विवाह-संस्कार) से पचास-साठ साल के मर्द द्वारा दस-बारह बरस की बच्ची को बिस्तर तक खींच लाना अपराध नहीं है। यौन-शोषण हेतु स्त्रियों को ब्याह, खरीद या अपहरण कर बन्दिनी बनाना (हरम, बहुविवाह) अपराध नहीं है। (सब कुछ अनदेखा करते हुए, उन्हें तो हर स्थिति में स्त्री से सिर्फ़ पातिव्रत्य की माँग करनी है।) वे निकट सम्बन्धियों में विवाह के निन्दक हैं, पर न बालविवाह की निन्दा करते हैं, न बहुविवाह की। सती-महिमा के बोध से आक्रान्त कबीर से तो विधवा के विवाह को सराहने या सहने का सवाल ही नहीं उठता। मौसी की बेटी से विवाह करने में तो वर-कन्या की समवयस्कता की सतत संभावना हैवह अपराध है! पर, आन्ध्र आदि प्रदेशों के हिन्दू पुरुषों द्वारा अपनी भाँजी से ब्याह करना अपराध नहीं है, जिसमें उम्र के अनमेलपन की नित्य विडम्बना है! ('महाभारत' के अर्जुन का सुभद्रा से और कृष्णपुत्र प्रद्युम्न का रुक्मी की बेटी से विवाह हुआदोनों 'फुफेरे भाई ममेरी बहन' के सम्बन्ध हैं। इतना ही नहीं, फिर रुक्मी के नाती अनिरुद्ध का विवाह उसी की पोती से हुआ। ये सभी कथित अनैतिक सम्बन्ध भी उत्तर-भारतीय समाज में कभी निन्दित नहीं हुए!) यदि अहिंसक मानसिकता के कारण कबीर को मांसाहार करना चुभता है, तो इसका जिम्मेदार सिर्फ़ मुसलमानों को ठहराना कितना न्यायसंगत है! वाह कबीर! आपने कैसी उलटी गंगा बहायी है! पर, आप से भी अधिक 'वाह' उन लोगों को, जिन्होंने आपके एतद्-विषयक पद ('अरे इन दोहुन राह न पाई') को राष्ट्रीय स्तर की अकादमी (एन.सी.ई.आर.टी) से ग्यारहवीं कक्षा के लिए प्रस्तावित की गयी हिन्दी की पुस्तक में रख दिया है। उसी के साथ, लड़कियों की आधुनिक शिक्षा को रोककर उन्हें गृह-कार्य-कुशला व पतिव्रता बनाने भर की शिक्षा देने की वकालत करता 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?' (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) पाठ भी रख कर, उक्त पद में (कबीर की अमूर्त्त कामना को मूर्त्त सा करते हुए) रही-सही कसर भी पूरी कर, निर्माताओं ने पुस्तक को मानो मुकम्मल स्वरूप दे दिया है![21]

भक्ति-आन्दोलन के क्रान्तिकारी, प्रगतिशील या लोकतांत्रिक होने के चाहे जितने भी दावे किये जाएँ, पर वह है पुरुष-कृत ही। बल्कि, इससे भी बड़ी विसंगत वास्तविकता यह है कि भक्ति की पूरी थीसिस ही पितृसत्तात्मक-सामन्ती फ्रेम में सेट करती है। भक्तों-सन्तों का आराध्य ईश्वर चाहे पिता के रूप में हो, पति के रूप में हो या थोड़ा सहज होकर दोस्त (सखा) के रूप में हो; वह है मर्द ही। जबकि यह बिल्कुल सहज-सिद्ध तथ्य है कि स्त्री ही इन्सान की जननी है, जैविक रूप से[22] भी और व्यावहारिक रूप से भी; तब भक्ति के केन्द्रीभूत (इस दुनिया की उत्पत्ति का कारण कहे जाने वाले ) ईश्वर की कल्पना नारी-रूप में होना ही जायज़ है। फिर भी, ईश्वर लगभग अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर पुरुष या परमपिता हैइससे बड़ी विडम्बना क्या होगी? फिर, पूरे समाज को इतनी आसानी से इसका पच जाना भी एक बड़ी असंगति है! यानी, भगवान् को लोगों ने बाप ही बना रखा है, 'शाक्त' जैसे सम्प्रदायों के इतने ताम-झाम के बावजूद उसे संसार की माँ (जगदम्बा) बनने का अवसर न मिल सका। यह कैसे होता भला! 'शाक्त' समेत हर धर्म/भक्ति-सम्प्रदाय को पुरुष ने ही खड़ा किया है। क्या एक भी जीवित या मृत सम्प्रदाय है, जिसका प्रवर्तन या प्रतिनिधित्व नारी ने किया है? (आज भले विविध धर्मों में स्त्री के प्रतिनिधित्व की थोड़ी बहुत कोशिशें दिखलाई दे रही हों, किन्तु ऐसे अपर्याप्त प्रतिनिधित्व से क्या होने वाला है, जब धर्म की वैचारिकी और सत्ता-तन्त्र अभी तक पूर्णतया स्त्री की पहुँच के बाहर की चीजें हैं। जब तक खुदा को न बदलोगे तो एक-आध महिला मस्ज़िद बना लेने भर से खुदाई कितनी बदल जाती है?) शाक्तों की लोकप्रिय पुस्तक 'दुर्गासप्तशती' की देवी खुद पुरुष देवताओं की राजसत्ता छिन जाने के बाद, उनकी विकल चिन्तनाओं की संघटित मूर्त्ति रूप में जनमी है, जिसका कार्य देवों की सत्ता दिलाना भर है। इतिहास गवाह है कि पुरुष-हितों में, नारी की सुप्त वीरता का आह्वान बराबर किया गया है। फिर, उसका उपयोग कर लेने के बाद, उसे परम्परागत व्यवस्था (घर) में ही लौटा दिया गया है (कहना चाहिए फिर से घर में ही ढुँका दिया गया है)। चाहे वर्तमान में चलायी जा रही दक्षिणपन्थी/सांस्कृतिक राष्ट्रवादी गतिविधियाँ हों या नक्सलबाड़ी-तेलंगाना जैसे वामपन्थी आन्दोलन हों अथवा विगत मध्यमार्गी भारतीय स्वाधीनता संग्राम होस्त्री के बारे में सभी एक सामान्य फ़ॉर्मूले पर चले/चलते हैं! सबने नारी को 'स्वतन्त्र' होने के लिए नहीं, वरन पितृसत्तात्मक स्वार्थों में जगाया, हथियार थमाया और काम निकल जाने पर उसे गृहिणीत्व की निद्रा में सुला दिया। ऐसी प्रवृत्तियों का शास्त्रीय मानक है'दुर्गासप्तशती'। उसका साधक-आराधक है पुरुष, जो ('जरूरत है एक श्रीमती की, कलावती की, सेवा करे जो पति की'[23] के तर्ज पर) कुलीन-मनोरम पत्नी की याचना करता है, जो पति की मनोवृत्ति की गुलाम हो![24] जिस देवी से ऐसी याचना की गयी है, वह खुद मर्दों से उधार ली गयी भाषा बोलती है''जो मुझे संग्राम में जीत लेगा, जो मेरे अभिमान को चूर-चूर कर देगा और इस तरह से जो मेरा प्रतिबल



होगा, वही मेरा भर्त्ता (पति) होगा।''[25] विविध धर्म-सम्प्रदायों व कवि-कृतियों में स्त्री की शक्ति-रूप में कल्पना पर मुग्ध होने वाले यह कब सोच पाएँगे कि इस से स्त्री का कुछ भी भला होने वाला नहीं, क्योंकि शक्ति बड़ी नहीं होती, बड़ा होता है शक्तिमान। बन्दूक बड़ी नहीं है, बड़ा है बन्दूकधारी या कहिये कि उसे चलाने का निर्णय खुद लेने वाला ही बड़ा है। भूतपूर्व लिट्टे, ज़ेहादी या माओवादी आदि आतंकी/मुक्तिकामी संगठनों में मर्द संचालक के हाथों की बन्दूक या मानव बम बनीं बहुतेरी युवतियाँ भी रही हैं। क्या वे शक्तिमान भी थीं/हैं? भक्ति या धर्म की दुनिया में स्त्रियाँ उपस्थित भले दिख जाएँ, पर कोई धर्म स्त्री का नहीं है। मीरा का सन्दर्भ पीछे दिया गया है। साथ में, उनकी पूर्ववर्त्ती प्रव्रजित बौद्ध-भिक्षुणियों की स्थिति भी मिला लें, तो धर्म में औरत को अपनी औकात का पता चल जाता है। बौद्ध मठों में वे भिक्षुणियाँ उम्र व अनुभव की अधिकता रखकर भी, हर स्तर पर अपने से छोटे पुरुषों को भी अभिवादन करने और उनकी अनुमति लेने को बाध्य बना कर रखी गयी थीं। फिर, कभी-कभी तो धर्म-प्रांगण में स्त्री की उपस्थिति की छूट भी सन्दिग्ध हो जाती है। जैसेआज भी केरल के 'सबरीमाला मन्दिर' में दस से पचास वर्ष की स्त्रियों के प्रवेश से वहाँ के देवता को राष्ट्रीय डर बना हुआ है।[25.1]

हर धर्म ने स्त्री को देह से ज्यादा कुछ भी नहीं समझा है, जो पुरुष साधकों के साधना-मार्ग का विघ्न (माया) या 'नरक का द्वार' है। यदि नारी माया है, तो क्या भक्त/सन्त नारी हेतु भी वह माया ही है? माया तो पुरुष साधकों के लिए कही जा सकती थी। यानी, वह अध्यात्मवाद अधूरा-एकांगी (पुरुषवादी अध्यात्मवाद) रहा है। अब सवाल यह है कि क्या मध्यकाल में स्त्री की ऐसी स्वतन्त्र हैसियत थी कि वह पुरुषों के भक्ति-मार्ग में बाधा खड़ी कर सके, यानी माया बन सके? फिर भी, उसे ऐसा कोसा गया। यह तो उसी तरह की बात हुई कि उड़ीसा में एड्स-पीड़ित एक स्त्री को इस डर से मार डाला गया कि कहीं वह पुरुषों में एड्स न फैला दे! क्या समाज में स्त्री इतनी ताक़तवर है कि स्वेच्छा से या ज़बरन किसी पुरुष को यौन-सम्बन्ध में घसीट ले और उसे एड्स दे दे? फिर डर कैसा था? स्पष्ट है कि डर था पुरुषों को अपने भीतर बैठे नारी-आकर्षण/भोगेच्छा के भूत का, कि कहीं उस के वशीभूत हो कर हम इस नारी को भोग न डालें! तब तो भैया! गये काम से! इसी तरह तथाकल्पित 'माया' का समाज में कोई अस्तित्व नहीं, वह तो मर्द भक्तों/सन्तों के भीतर स्त्री के प्रति दमित वासना (कुपित ब्रह्मचर्य) की ही उपज हो सकती थी।

पुरुष सन्त/भक्त कवियों में विचारधारा के स्तर पर स्त्री-निन्दा के सशक्त स्वरों की मौजूदगी को न्यायोचित ठहराने के लिए बहुतेरे आलोचकों के इस तर्क को यदि थोड़ी देर के लिए मान भी लें कि वे विरागमूलक दृष्टि के तहत काम-वासना को साधना में बाधा की तरह देख रहे थे, इसलिए अपने जीवन में उसके आलम्बन/उद्दीपन नारी मात्र को वे कोस रहे थे। यदि ऐसा था तो आण्डाल, मीरा, दया, सहजो आदि

को पुरुष मात्र की निन्दा करने की आवश्यकता क्यों नहीं पड़ी? यह कौन सा न्याय है कि साधना-मार्ग की बाधा नारी को ठहरा दिया जाए, जब कि इस मार्ग में पुरुष भी बाधा है नारी के लिए? जिसे भूल से दादू ने कह दिया है''नारी बैरण पुरुष की पुरुषा बैरी नारि।''[26] फिर, बाधा होने के इन दोनों रूपों में भी ज़मीन-आसमान का अन्तर है। पुरुष व उसका तन्त्र स्त्री के साधना या ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में सक्रिय व साज़िशी तौर पर बाधक बनता रहा है, जबकि नारी की यह औकात नहीं रही कि वह ऐसी बाधा खड़ी कर सके। उसकी निष्क्रिय उपस्थिति मात्र पुरुष को अपने साधना-मार्ग की भयंकर बाधा लगती रही है। अर्थात्, एक पूरी तरह वास्तविक है, तो दूसरा मनोवैज्ञानिक भर है। सच तो यह है कि कबीर आदि तमाम सन्त-भक्त साधना-मार्ग में आने वाले व्यवधानों या ख़तरों को नारी के रूप में ढाल देते हैं और साधक को नारी-मात्र से बच कर रहने की चेतावनी देते हैं।[27] ये कवि काम-वासना में गिरफ्तार होने वाले साधक पुरुष को भी निन्दित करके उसे वासना-विमुख करने का प्रयास कर सकते थे, किन्तु उसकी जगह उनकी गिरावट में उत्प्रेरक बनी नारी की निन्दा करते हैं। कामी की नहीं, कामिनी की भी नहीं, बल्कि अनायास काम-वस्तु बन गयी स्त्री की निन्दा करते हैं। यदि नारी कामिनी बनकर पुरुष के पतन का सक्रिय कारण होती, तब उसकी निन्दा करते, तो भी एक बात थी। परन्तु, उनका अतिवाद तो देखिये कि वे नारी को व्यक्ति की जगह निरन्तर वासना-कुण्ड समझते-समझते नारी मात्र का पर्याय 'कामिनी' तय कर चुके थे। प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने वाजिब सवाल उठाया है कि कबीर यदि स्त्री के प्रति साधक (पुरुष) के आकर्षण को काटने के लिए ही स्त्री मात्र को भयावह या तिरस्कार्य बना कर पेश करते हैं, नर-नारी का कामाकर्षण पाप ठहराते हैं, तो वे परमात्मा के प्रति प्रेम के गहनतम क्षण में नारी क्यों बन जाते हैं या विरह-प्रेम की आकुलता को कामपरक शब्दावली में क्यों व्यक्त करते हैं? इस पर प्रो. अग्रवाल ने अन्तिम निष्कर्ष सा कुछ न देते हुए भी, एक प्रबल सम्भावना यह रखी कि उनकी काव्य-संवेदना 'शाश्वत स्त्रीत्व' को अपने में व्यापने देकर प्रेम (या स्त्री) के विरोधी इस संसार के समान्तर एक प्रतिसंसार (काव्यलोक) रच रही है, जहाँ वे नारी-अनुभव से जीते हैं, उसी तरह की भाषा बोलते हैं और यह सब सायास नहीं, अनायास होता है।[28] परन्तु, प्रो. अग्रवाल ने अपने विश्लेषण को इस विचार तक नहीं पहुँचाया है कि भक्ति का यह नारीकरण पितृसत्ता को दिया गया एक तरह का आध्यात्मिक समर्थन है, जहाँ स्त्री की आवाज़ का उपयोग-दोहन कर उसी की हीनता-गृहदासिता को मजबूती दी जा रही है। सवाल है, कबीर को नारी बनने की जरूरत क्यों पड़ी? पुरुष विरही के रूप में भी वे व्यक्त हो सकते थे। क्या नारी में प्रेम-क्षमता या कामाकुलता ज्यादा मानकर ही ईश्वरीय प्रेमानुभूति के लिए नारी बनना तय हुआ? सवाल है कि समाज की बुनावट इतने लम्बे काल से पितृसत्तात्मक न होती, तो 'नारी-अनुभव' या 'शाश्वत स्त्रीत्व' जैसी चीज कितनी होती? होती भी या नहीं?



क्या यह होने से अधिक मानने में निहित नहीं है? क्या नेचुरल से ज्यादा कल्चरल नहीं है? कबीर जिसके अनुभव में जीते हैं, उस स्त्री के गठन में यथार्थ संसार की विचारधारा या 'स्त्री-टाईप' का प्रभाव क्या नहीं पड़ा है? आख़िर जिस स्त्रीत्व में वे सहज पग गये हैं, वह सामाजिक-सांस्कृतिक कंस्ट्रक्ट (गढ़न) ही तो है। तभी तो कविता में स्त्री बने कबीर नारी के समर्पण-भाव के साथ तादात्म्य बनाते हुए, उसकी तत्कालीन सामाजिक स्थितियों से भी तदाकार हो उठते हैंईश-साधना में स्त्री-भाव साधते हुए कबीर पितृसत्तात्मक-सामन्ती समाज में नारी की दारुण नियति और उसकी अवश मनोरचना से एकात्म हो उठते हैं। उसी स्थिति में उन्हें (प्रो. अग्रवाल के शब्दों में) पिया की सेज की तरह ही प्यारी लगने लगती है उसकी चिता पर प्रेम से बैठी सती की पुकार।[29] इसी मुग्धता में वे यह समझने में भी असमर्थ हैं कि वह स्त्री चिता पर प्रेम से बैठी नहीं, बल्कि बैठायी गयी हैकभी-कभी तलवारों-भालों के दबाव से, तो अक्सर विचारधारात्मक दबाव से; वैधव्य की भावी नारकीय हक़ीकत से जनमी विवशता से भी। इसी से कबीर आदि स्त्री की गुलामी, हर तरह की उसकी पुरुष-परजीविता, बाल-विवाह, वेश्यावृत्ति, (सामन्ती समाज में) बहुविवाही मर्द के प्रति भी समर्पित होने की विवशता अथवा उसके जल मरने या उसे जला डालने की संस्कृति पर कोई सवाल खड़े न कर सके। कबीर की नारी सामन्ती काल की एक बेबस-असहाय स्त्री है, जिसे अपने बहुविवाही/बहु-स्त्री-भोगी पति की एकनिष्ठ यौनदासता (जिसे अक्सर प्रेम/समर्पण या पातिव्रत्य का सम्मोहक अभिधान दिया गया, उसके बदबूदार चरित्र को छिपाते हुए) का एकमात्र विकल्प उपलब्ध है, जिसके ही रास्ते उसे रोटी, सुख या पति का प्यार मिल सकता है। उसी में उसे सन्तुष्ट और खुश रहना है। स्पष्ट है कि वह स्त्री किसी (आधुनिक) काम की नहीं। कबीर को नारी बनने की ज़रूरत न पड़ती यदि ईश्वर की कल्पना मर्द रूप में न होती। सामन्ती विवाह-संरचना इस कल्पना का आधार हैपति के समक्ष पत्नी की सबबिध-हीनता निर्भरता वाली दास-प्रथा और अक्सर एक पति (ईश्वर) की कई पत्नियाँ (आत्माएँ)।[30] भक्तिवाद एक तरफ़ सामन्ती विवाह-व्यवस्था से प्रेरित है, तो दूसरी ओर सामन्ती राज-व्यवस्था से।[31] दोनों में श्रेणीकरण हैस्वामी एक (पुरुष) और दास/दासियाँ (पत्नियाँ) अनेक। इस विषमता की स्वीकृति पूरी भक्ति-कल्पना का मूल बिन्दु है। सगुण भक्तों द्वारा किये गये अपने आराध्य (राम-कृष्ण) के महाराजाधिराज की तरह चित्रण और ताम-झाम के साथ उनके दरबारों की रचना में मुगल आदि राज-दरबारों का विलासमय वातावरण अमूर्त्त रूप से प्रेरक रहा है।[32] उनकी नवधा भक्ति के चरम मूल्य आत्म-निवेदन या आत्म-समर्पण (स्वयं को भगवान् की इच्छा पर छोड़ देना) सामन्ती राज में एक आम नागरिक और सामन्ती विवाह-व्यवस्था में एक अदना स्त्री की विवशता की देन हैकहें तो उसी का उदात्तीकरण। इसी तरह, सगुण भक्ति का अवतारवादी मूल्य पूर्णतः स्त्री-निरपेक्ष है। प्रभु अवतार लेते हैंविप्र-धेनु-सुर-सन्त

हित। किसी नारी को पीड़ा से बचाने के लिए वे अवतरित नहीं होते (किसी शूद्र को बचाने के लिए भी वे अवतरित नहीं होते)। वे पुरुष हैं और सवर्ण पुरुषचाहे तुलसी के राम हों या सूर के कृष्ण। सीता व राधा तो क्रमशः उनकी शक्तियाँ भर हैं, वे ईश्वर कहाँ हैं? तुलसी के प्रबन्ध 'रामचरितमानस' की वन्दना ही नहीं उस की वन्दना-पद्धति भी यही कह रही है। 'वर्णानामर्थसंघानाम् ...' से शुरु हुए वन्दना-क्रम में सीता भी आती हैं पर अन्तिम प्राप्य राम ('रामाख्यमीशं भजे') तक पहुँचाने के साधन के रूप में।

विचार-स्तर पर कबीर में आये स्त्री-विरोधी स्वर और स्त्री-निरपेक्ष दृष्टि का मूल उनके इर्द-गिर्द मौजूद उस परम्परा में हैजो नाथ-सिद्धों से लेकर वेदान्त तक जाती है।[33] कबीर ने नाथों की ढेर सारी बातों के साथ उनकी अन्तस्साधना को अपनाया था, जिसकी शुष्कता का निवारण सूफ़ियों के प्रेम-तत्त्व (हार्दिकता) से प्रेरित अपनी खास दृष्टि से किया।[34] कबीर के स्रोत-व्यक्तित्व गोरखनाथ ने भी नारी को सर्वथा त्याज्य बतलाया था। कहा थानारी के संसर्ग में लीन पुरुष सरिता के तट पर स्थित अनिश्चित जीवन वाले वृक्ष के समान है।[35] वस्तुतः गोरख के ऐसे मत वज्रयानी सिद्धों के वामाचारस्त्री-सहवास-मूलक दर्शनों व तदनुरूप चलीं जुगुप्सित साधनाओं(?) या उनकी तथाकथित घोर कामुकता की प्रतिकिया में बने थे। स्त्री का भोगमूलक उपयोग करते हुए सिद्धों ने जो (पुरुष-) मुक्ति की साधना की थी, उसमें गोरख को उनका पतन दिखा था। पर, उस पतन के लिए उपयोगकर्त्ता (पुरुष) को जिम्मेदार न ठहरा कर वे यदि उसका ठीकरा हर तरह से बेकसूर नारी के सिर फोड़ रहे थे, तो कहना नहीं होगा कि वे कितने गलत व अन्यायकारी थे। कबीर आदि सारे सन्त नारी-निन्दा के अपने स्वरूप के लिए गोरख की इसी गलती व अन्याय के ऋणी हैं। नाथ पन्थ भी 'वज्रयान' से ही विकसित हुआ था, पर उसके भोगी वामाचार को ब्रह्मचर्य से विस्थापित कर। किन्तु, भोग व वैराग्य के इन दो छोरों में ऊपरी व्यवधान चाहे जितना हो, 'नारी का अपमान' इन दोनों का महत्तम समापवर्तक है।[36] दोनों दृष्टियाँ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक स्त्री को चबाकर अपमानित करता है, दूसरा उसे ठुकराकर। दोनों के यहाँ नारी व्यक्ति नहीं, देह भर है। यही दृष्टि-साम्य है, जिसके चलते वज्रयान के तमाम काट के बावजूद गोरख की परम्परा में स्त्री को भोगना प्रतीक स्तर पर बचा रहा। 'हठयोग-प्रदीपिका' में उलटबाँसी शैली में कहा गया है कि गंगा (इड़ा) एवं यमुना (पिंगला) के मध्य निवास करने वाली बाल विधवा (सुषुम्णा) को बलात्कार द्वारा ग्रहण करने (ज़बरन ऊपर उठा कर ले जाने ) में विष्णु के परम पद का मार्ग (मानव का परम लक्ष्य) है । इसी तरह, 'शिव-संहिता' में कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्र के सहस्रार पद्म के मूल में जो 'योनि' नामक त्रिकोणाकार शक्ति-केन्द्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है । उससे सदा अमृत झरता रहता है। खेचरी मुद्रा में योगी की ऊर्ध्वगा जिह्वा उसी रस का पान करती रहती है। स्पष्टतः ऐसा योगी मर्द ही होगा। ऐसे दर्शनों का भी पूर्वस्रोत उपनिषदें हो सकती हैं।[37] 'बृहदारण्यक



उपनिषद्' ने समझाया कि स्त्री आग है, लिंग समिधा की लकड़ी, रोम धुआँ, योनि ज्वाला, स्त्री के गुप्तांग में लिंग का प्रवेश अंगार और मैथुन का आनन्द है चिनगारी। वीर्यपात ही आहुति है। इससे पुरुष (प्राणी?) पैदा होता है।[38] इनमें दर्शन के तत्त्व को यौन-क्रिया की उपमा देकर समझाना आपत्तिजनक नहीं है, बल्कि असली आपत्ति-स्थल है भोग-क्रिया में भी स्त्री के समान कर्तृत्व का नकार और केवल यौन-वस्तु के रूप में उसका स्वीकार। यह तो मर्द के सम्भोगानुभव और कहीं-कहीं स्त्री को बलात्कृत करने के उसके अनुभव का दर्शनानुवाद लगता है। ऐसी उपमाएँ या रूपक स्त्री को व्यक्ति न मानते हुए, उसके साथ जब चाहे तब की गयी यौन-हिंसा को पुरुषों की ज़रूरत और उससे भी बढ़ कर स्वाभाविकता प्रदान कर देती हैं।

अपनी पत्नी (पत्नियों) को वश में न रख पाने वाले पति को कबीर निकृष्ट पति मानते हैंयह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कहना है। उनके अनुसार सिद्धों की शून्य समाधि (खसम = 'ख' यानी आकाश के समान) के क्षणिक आनन्द को हेय ठहराने हेतु कबीर ने अरबी शब्द 'खसम' से अभिहित किया है, जिसका आशय वे निकृष्ट पति से लगाते हैं। इन्द्रिय-वधुओं के ही दास बन गये 'मन' को भी कबीर कभी-कभी 'खसम' कहते हैं। यहाँ रेखांकित करने लायक बात यह है कि कबीर ही नहीं, आचार्य द्विवेदी भी जोर लगा कर पत्नी/पत्नियों के नियन्त्रण में आदर्श पतित्व की परिभाषा यदि तलाश रहे हैं तो यह घरेलू हिंसा को सहना ही नहीं, उसकी सराहना भी है।[39] कबीर की उक्त उपमा बहु-विवाही पुरुषों के समाज में पत्नियों के दमनकारी नियंत्रण की देन हैजिसकी पीड़ामय विसंगति से द्विवेदी जी अनभिज्ञ रहना चाहते हैं।

## जायसी : मूरुख सो जो मतै घर-नारी

मध्ययुग या भक्तिकाल एक विडम्बनामय काल था, जो एक तरफ़ काम के अतिरेक से ग्रस्त था, तो दूसरी तरफ़ वैराग्य (ब्रह्मचर्य व संन्यास) की भी सनक का शिकार था। दोनों अतिरेकों के दो पाटों के बीच स्त्री का जीवन पिस रहा था। समाजार्थिक संरचना में मान्यता व हैसियत में पुरुष से नीची होने से स्त्री उपभोग्या थी, अतः काम के वियाग्रा का आतंक उसी की देह झेलती थी। दूसरी ओर, पुरुष की विरागी सनक उसे ही ठुकराती थी। उसके अध्यात्म-मार्ग में स्त्री सबसे बड़ी बाधा समझी जाती थी। इसी सन्दर्भ में विचार करें तो अपने रूप पर गर्वित रानी नागमती 'पदमावत' की ही नहीं, उस सामन्ती समाज की एक विवश वास्तविकता है। स्त्री के लिए विकल्पहीन उस समाज में पति द्वारा त्याग दिये जाने के डर के साये में जीतीं, नागमतियों पर अपना रूप-सिंगार बना कर रखने का दबाव था। वह दबाव आज के पूँजीवादी बाज़ार व कला-संसार में आत्मनिर्भर अभिनेत्रियों/मॉडलों पर अपनी देह-सज्जा को लेकर बराबर तनावग्रस्त रहने की अपेक्षा भी एक अर्थ में बड़ा है। अपने दम-खम पर शानो-शौकत की ज़िन्दगी जीतीं इन नवबालाओं का भय तो रोजगार या पोजीशन

के रूप में एक विकल्प खोने को ले कर है; पर भक्तिकालीन नागमतियों का भय पति द्वारा त्याग दिये जाने पर जीवन का एकमात्र विकल्प भी खोने को लेकर था। बेसहारा होने के भय की इस तलवार में दोनों ओर धार थी। एक धार पति की कामुकता की थी'कहीं वह अन्य स्त्री में आसक्त न हो जाए!' दूसरी धार उसकी सुप्त संन्यास-वृत्ति की थी, क्योंकि उस समय संन्यासी होने का फ़ैशन भी चरम पर थासाधुओं का आज से कुछ ही कम बड़ा सरकस उस समय था (आख़िर जनसंख्या भी तो कम ही थी)। पुरुष के अध्यात्म व कामुकता से भीत मध्ययुगीन हाउस-वाइफ़ ('घर-नारी') का एकमात्र रक्षा-साधन अपना रूप-सिंगार बनाए रखना और पति की सेवा करना हो सकता था। उसे काम-जाल में फँसाए रखना और इस हेतु उसका कामिनी बनी रहना उसका चुनाव नहीं, मज़बूरी का रास्ता था (पर, इसी कामिनीपन के लिए वह हज़ार मुखों से कोसी गयी)।

पद्मावती की रूप-चर्चा तोते से सुनकर रतनसेन सिंहल द्वीप जाने लगता है, तो हारी हुई नागमती साथ ले चलने का आग्रह करती है। राजा डाँट देता हैआख़िरकार औरत ही हो न! औरतें बेवकूफ़ होती हैं। वह पुरुष भी मूर्ख होता है, जो 'घर-नारी' यानी घर की औरत की सलाह पर चलता है।[40] इस पर प्रो. विजयदेव नारायण साही का कहना है''इस ज़ोरदार झिड़की से नागमती छोटी होकर नितान्त अप्रासंगिकता की गोद में दुबक कर रह जाती है।...'घर-नारी' के इस तिरस्कार के बावजूद रतनसेन इतने ताम-झाम से कहाँ जा रहा है। एक दूसरी औरत को सिंहल द्वीप से 'घर-नारी' बना कर लाने के लिए ही न?''[41]

जायसी आदि सभी सूफ़ी कवियों ने अपनी नायिकाओं पर दिव्यता या अलौकिकता का खूब आरोप किया, तथापि उस घटाटोप को भी फाड़ कर उनकी लौकिक (चारित्रिक) हक़ीकत प्रकट होती है, वह अकाट्य है। उसमें वे सभी सामान्य नारियाँ हैं, बल्कि पितृसत्तात्मक रुझानों से रची गयीं हीनतर नारियाँ। पद्मावती वैभव-विलास में पली सामान्य बुद्धि की सुकुमारी है। उसकी कामुकता रतनसेन से भी बढ़ी-चढ़ी है। यौन-ज्वार से पीड़ित होकर वह हीरामन तोते से कहती है कि मेरे लिए वर खोजो।[42] (बादल की तुलना में उसकी नवविवाहिता पत्नी को भी कवि ने कामातुर दिखाया है।) किन्तु , रतनसेन को कवि ने शुरु से ही शुद्ध प्रणय-भाव से अनुप्राणित दिखाया है पद्मावती की देह-शोभा का उत्तेजक वर्णन सुनकर जो वह गश खा कर गिरता है, उसे भी कवि ने प्रेम-मूर्च्छा के रूप में चित्रित किया है। नायिका का ऐसा कामुक चित्रण क्या फ़ारसी कथा-ग्रन्थ 'अलिफ़लैला' की उन कहानियों से प्रेरित है, जिनमें नारी कामुकता की तुष्टि के लिए किसी हद तक जा सकती है? अथवा, यह भारतीय धर्म/नीति-शास्त्रीय संरचना का असर है, जहाँ उसकी कामुकता नर की कई गुनी होती है?[42.1] कुछ भी हो, यह है भक्तिकाल की स्त्री-निन्दक मानसिकता के अनुरूप ही। अन्यथा, इसकी काव्य में कोई विकासात्मक संगति नहीं प्रतीत होती। कारण, कामुक



ज्यादा है पद्मावती, पर भोग लगाने में आगे है रतनसेन। उक्त चित्रण के बाद तो काव्य में शायद ही कोई प्रसंग हो, जिसमें पद्मावती का सेक्स-बोल्डनेस कहीं मुखर हो। बल्कि, बार-बार ऐसे अनुभव स्फुटित हैं, जिसमें रतनसेन के द्वारा उसका शरीर निचोड़ा जाता है और पद्मावती सहर्ष समर्पित होकर अपने को चूसे-मसले जाने का न्यौता देती है और खुद अपनी देह के किये जा रहे ऑपरेशन को साक्षी भाव से देखती है। इस प्रकार, स्त्री की यौन-चेतना या सेक्स-क्रान्ति दिखाना उद्देश्य नहीं है, अपितु उसे यौन-दासी बनाकर पुरुष को गिराने वाली रूप में प्रदर्शित करना काव्य-लक्ष्य लगता है। शेष सूफ़ी-काव्यों में भी स्त्री इसी तरह नर को पतित करने वाली ही चित्रित हुई है। 'पद्मावत' भी नारी-सम्बन्धी परम्परागत विचारों को ही दुहराता है'वह स्वभाव से चंचल व मन्दबुद्धि होती है' आदि, किन्तु पुरुष को दृढ़ दिखलाता है।[43] प्रसंगवश ऐसा दिखलाकर यदि सामन्ती समाज में स्त्री की विवशता को साकार करना उद्देश्य है, तो सवाल है कि काव्य में आये सती-प्रसंग आदि की सराहना का क्या अर्थ है? स्पष्ट होना चाहिए कि कवि में कुछ संवेदनाएँ (विवाह, विरह आदि प्रसंगों में) भले झलक गयीं हों, पर स्त्री की हीनता को एक प्रश्नहीन यथार्थ के रूप में स्वीकार कर लेने से, उनके प्रति उसका मौन समर्थन ही ध्वनित होता है ।

आलोचक-वर्ग की राय में रतनसेन सत्ता और शक्ति को पीछे छोड़कर केवल प्रेम के सहारे पद्मावती को पाने का प्रयत्न करता है[44], जबकि अलाउद्दीन बिना इनका त्याग किए सब कुछ के साथ, आक्रमण द्वारा पद्मावती को पाने का प्रयत्न करता है। एक मरने के लिए गया है, दूसरा मारने के लिए।[45] यही अन्तर उस विचार से पहले को प्रेमी ठहराता है, दूसरे को व्यभिचारी। परन्तु, यह बेहद सरलीकरण है। रतनसेन केवल सत्ता और शक्ति को छोड़ कर नहीं गया था, बल्कि घर में एक रोती-बिलखती पत्नी को बेसहारा बनाकर और उस पर एक सौत थोपने की पूरी तैयारी के साथ सिंहल द्वीप गया था। वह सबबिध लायक पत्नी के रहते एक कमसिन छोरी (पद्मावती) के पीछे हाथ धो कर पड़ गया था। यह कौन सा प्रेम है? सूफ़ी दर्शन के अनुसार जो नर-नारी का प्रेम परमात्मा तक पहुँचाने का साधन है, क्या वही है यह? क्या वही प्रेम है यह, जिसके पीछे इतनी हिंसा और विषमता हो! बेकसूर नागमती को आठ-आठ आँसू रुलाने वालाविवाह के पिंजरे में बन्द और वहाँ भी स्त्री को पातिव्रत्य की जंज़ीरों से लाचार करने और विकल्पहीनता में डालने वाला तथा स्वयं अपने स्वरूप में विवाहित-अधेड़ मर्द से नवयुवती (पद्मावती) को बाँध कर अन्ततः उसे भी वैवाहिक पिंजरे में डालने को बेताब प्रेम! क्या यही है दिव्य प्रेम की सीढ़ी?

कहा जाता है कि दार्शनिक स्तर पर सूफ़ी नारी को 'नूरे-मोहम्मदी' (परमात्मा की ज्योति) मानते हैं, पर व्यावहारिक धरातल पर सूफ़ी कवि स्त्री को दोयम दर्जे में डाल देने वाली पितृसत्तात्मक मूल्य-व्यवस्था के ही शिकार हैं। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को रूपक कथाख्यान में ढालते समय किसी ऐसे प्रेम-मार्ग की रचना क्यों नहीं की, जो

हमउम्र व समान स्थितियों के पुरुष व स्त्री के बीच बराबरी के स्तर पर घटित हुई रागात्मकता का परिणाम हो? फ़ारसी प्रेमाख्यानों में उपलब्ध नायक-नायिका (जैसे-लैला-मजनूँ) की हर तरह से समानता का स्पेस छोड़कर, भारतीय लोक-जीवन में व्याप्त ऐसी कथाएँ चुनने की क्या मज़बूरी थी, जिनमें नायक बहु-विवाही भी हो और नायिका से बड़ा भी; साथ ही विवाह द्वारा नायिका पर विषम मूल्यों का भारी पहाड़ लादने वाला भी? अन्त में, नायक की मौत पर ज़िन्दा जल जाने की नायिका की बाध्यता भी है जिसमें। पद्मावती व रतनसेन के लौकिक यथार्थ को परमात्मा व जीवात्मा में परिणत करने वाले आलोचकों से सवाल होना चाहिए कि क्या परमात्मा (पद्मावती) भी जीवात्मा (रतनसेन) का गुलाम और उसकी मौत पर सती होने वाला हो सकता है? या, परमात्मा (पद्मावती) और माया (नागमती) का सौतिया डाह हो सकता है, जो जीवात्मा के हस्तक्षेप से सुलझ सकता है।[46] भक्ति की पूर्वोक्त विषमतामयी संरचना (परमात्मा/भगवान ऊपर, आत्मा/भक्त नीचे) यहाँ आकर कैसे उलट जाती है, शीर्षासन करने लगती है (यदि पद्मावत को आध्यात्मिक काव्य मान कर चलते हैं)? फिर, यदि सूफ़ी दर्शन का प्रतिपादन न होकर कथा-काव्य की रचना ही उसका मूल उद्देश्य था, तो क्या मौलिक कल्पना नहीं की जा सकती थी, जिसमें सुसंगति हो, स्त्री-पुरुष के बीच सुषम भाव हो? यदि दर्शन हेतु कोई प्रसिद्ध देशी कथा ही प्रासंगिक थी, तो उसका परिसंस्कार करके भी सुषम-समतल बनाया जा सकता था (जैसा संस्कार 'पदमावत' के कथानक के (खासकर पूर्वखण्ड में) कल्पनामय विस्तार के दौरान हुआ है)। पर, वह तो नहीं ही किया, ऊपर से पिछड़े स्त्री-विरोधी मूल्यों को 'धन्य' कहते रहे। धन्य नागमती धन्य! नालायक पति के लिए क्रन्दन करने के लिए धन्य! धन्य पद्मावती-नागमती सती होने के लिए!

विरहिणी नागमती को 'धन्य' बनाने वाले जायसी को भी धन्य बनाया आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने! प्रो. साही ने तारीफ़ के पुल बाँधते हुए कहा कि ''यह नागमती का विरह-वर्णन ही था, जिसके कारण शुक्ल जी ने जायसी को गुमनामी से उठाकर हिन्दी की त्रिवेणी में बिठा दिया।''[47] शुक्ल जी ने विरह में नागमती द्वारा रानीपन भूल जाने और उसकी वियोग-दशा का विस्तार पशु-पक्षी व पेड़-पौधों तक चले जाने को बहुमान देते हुए, इस विरह-वर्णन को 'हिन्दी-साहित्य की अद्वितीय वस्तु' ठहराया, जिसमें उनके अनुसार सात्त्विक मर्यादापूर्ण माधुर्य हैआशिकों-माशूकों का निर्लज्ज प्रलाप नहीं।[48] इस प्रतिपादन से हम थोड़ी देर के लिए सहमत भी हो लें, तो भी नागमती के 'हाय-हाय' करने का औचित्य समझ में आना चाहिए। यह सवाल न शुक्ल जी ने और न साही जी ने उठाया कि नागमती इस हालत में क्यों है? यानी, नित नव-नव-स्त्री-लोभी मर्द क्यों हैं? इस स्थिति में घरेलू हिंसा बढ़ाने वाली लम्पट मर्दानगी के लिए कुररी सी क्रन्दन करने के अलावा, नारी के पास कोई अन्य विकल्प क्यों नहीं है? यानी, स्त्री के सारे पंखों को काट कर उसे एक दिलफेंक ज़ालिम पुरुष रूपी वन्य पशु की माँद



(घर) में क़ैद कर डालने वाली पितृसत्ता (की विवाह-व्यवस्था) क्यों है? इस प्रश्नों का स्पर्श भी न करते हुए, सिर्फ़ नागमती की विरह-धारा में मुग्ध भाव से बह लेने से, उसके प्रति सहानुभूति के बहाने उसे उस स्थिति में डालने वाले (और आज भी ऐसी हज़ारों-हज़ार नागमतियों को उस हाल में डाले रखने वाले) लम्पट पौरुष और उसकी धारक सामाजिक संरचना के प्रति भी अनायास सहानुभूति झलक जाती है। मर्द के मनमानापन से जनमे विरह की ऐसी परम्पराओं में स्त्री को अपदार्थ समझ कर, उसे दुखी बनाकर, यौनता-आधारित मानसिक उत्पीड़न देकर अपने प्रभुत्व का मज़ा लेने की पुरुष-प्रवृत्ति मुखर है। स्त्री के मान-मर्दन का सिलसिला! किसी के सत्ता/वर्चस्व का बोध तब तक पुख्ता नहीं होता, जब तक उस के नीचे कोई दलित/दलनीय श्रेणी मौजूद न हो। रतनसेन पति है और ऊपर से राजा भीनागमती उसकी पत्नी है और प्रजा भी। मर्दाना शासन-वृत्ति की मुकम्मल तस्वीर है यहाँ। विरह की इसी संरचना का विस्तार रीतिकाल में 'विरहाकुल स्त्री' की छवियों में दिखाई देता है। यदि अन्य पक्ष से देखें तो बहुविवाही मर्द के भगोड़ापन के सन्दर्भ में नागमतियों के ऐसे विरह-वर्णन आज कॉमेडी के नमूने बन जाते हैं, पर युग के अन्तर से वे ट्रेजेडी बने हुए थे।

रतनसेन बनाम अलाउद्दीन के सवाल को प्रेम बनाम लम्पटता-लोभ (व्यभिचार) के रूप में शुक्ल जी ने भी समाहित किया है, पर समाधान उनका कितना अपर्याप्त व विसंगत है! अलाउद्दीन को लम्पट ठहराने के लिए उस के प्रयत्न की उग्रता के साथ वे पद्मावती का दूसरे (रतनसेन) की विवाहिता होना कारण-रूप में रखते हैं । कितनी बौनी बात है यह! विवाहिता स्त्री के प्रति अलाउद्दीन की चाह को अनुचित मानना, पर विवाहित अधेड़ पुरुष (रतनसेन) के प्रति उससे छोटी उम्र की पद्मावती की चाह में औचित्य देखना! इससे भी बढ़कर विवाहित पुरुष द्वारा पत्नी को ठुकराकर अन्य स्त्री (वह भी कमसिन) के प्रति चाह को प्रेम की पवित्र श्रेणी में रखना! यह कैसा विश्लेषण है! यहाँ, शुक्ल जी और उनके साथ हिन्दी की तमाम पितृपक्षीय जमात से यह सवाल उठाते न बना कि किसी स्त्री पर किसी मर्द की सिन्दूरी मुहर लग जाना या उसे सामने खड़ा कर कुछ शास्त्र-वचन बड़बड़ा जाना ही क्या इतनी अकाट्य घटना है कि उसके बाद उस जीती-जागती औरत की संवेदना, उसकी हर तरह की व्यक्तिगत रुचि का 'द एण्ड' हो जाता हैअथवा स्त्री की ऐसी रुचि या मनोतरंगों का समापन करने और उसके प्रति किसी की सहज प्रेम-लालसा का अन्त करने के लिए ज़बरन उस पर सिन्दूरी मुहर लगा देने (विवाह) को जो एकमात्र उपायविहित कर्ममाना गया, उस पर सवाल क्यों नहीं दागे जाते?

जायसी की तरफ़ से स्त्री को ले कर कोई सीधा सवाल नहीं है, पर कवि-सुलभ सहृदयता से कथा-प्रसंग में अनायास कुछ बेधक प्रश्न आ जाते हैं, जो पितृस्थानीय विवाह और उससे जुड़ी नारी की पराधीनता के दर्द को बखूबी महसूस करने के प्रमाण हैं। स्नान व क्रीड़ा के अर्थ मानसरोदक गयीं पद्मावती की सहेलियाँ उससे जो कहती

हैं, उसमें विवाह के उपरान्त पराधीन जीवन की चिन्ता और टीस उभरी है''हे रानी! जो भी जितना खेलना है, खेल लो! नैहर में चार ही दिन तो रहना है। फिर न जाने कब मुलाक़ात हो। मायके लौटना तब क्या अपने वश में होगा? सास जान लेने वाली बातें बोलेगी, निष्ठुर ससुर आने न देगा। पति का प्रेम भी दिखावटी, ऊपर का होगा।''[49] एक आम औरत की दारुण नियति का कैसा रोंगटे खड़े कर देने वाला चित्रण है! फिर, आख़िर जब विदा की बेला आ ही जाती है, तब तो कुछ कहते ही नहीं बनता। पद्मावती के मुख से एक आम स्त्री की छटपटाहट ब्याह देने वाले बाप पर कोप बनकर फूट पड़ती है''वह निष्ठुर पिता क्वाँरी ही रखता! अगर नैहर छूटना ही था, तो उसने बचपन में ही क्यों पाला?'' फिर, अपनी परवश हो चुकी स्थिति का ख्याल कर प्राणप्यारी सखियों से वह कहती है कि ''तुम से जीते-जी बिछुड़ना नहीं चाहती थी, पर पति की आज्ञा से चलना पड़ रहा है।'' सखियाँ रोने लगती हैं, कहती हैं''जब तुम राजकुमारी होकर इतनी पराधीन हो, तब हमारी क्या गति है? हमें तो हमारे बाप ने (राज-सेवा में लगाकर) गेहूँ (पेट) के लिए मानो बेच दिया है। इस अन्याय से गेहूँ का दिल फट गया, पर बाप का न फटा।''[50] यहाँ यह सवाल हो सकता है कि बाप दोषी है या वे आर्थिक स्थितियाँ दोषी हैं, जो बेटी को बेचने पर मज़बूर कर रही हैं (आज भी)? इस पर कहना होगा कि बाप ने बेटे को तो नहीं बेचा या कम से कम ऐसा न बेचा कि वह पूरी तरह से ग़ुलाम हो जाए। दूसरी बात, ऐसी व्यवस्था में किसी स्त्री की गुलामी अन्ततः उसकी यौन-दासता तक चली जाती है, जिससे पुरुष आमतौर पर मुक्त होता है। बेटी ही बेची जाती है, क्योंकि उसी की माँग है। पितृसत्ता स्पष्ट है। दासी से रानी सब की नियति एक ही है, मर्द की पराधीनता। (स्त्रियाँ चाहे ठूँसम-ठाँस जेनरल कोच में बैठ कर यात्रा करें या फ़र्स्ट ए.सी. कोच में बैठकर, सब की नियति समान है। उनकी ऐसी ट्रेन को आख़िरकार महासागर में ही जाकर गिरना है!)

पद्मावती ने प्रेम करके यह स्थिति पैदा की है, तो सवाल है कि यह कौन सा प्रेम है, जो स्त्री को भौतिक प्रस्थिति के एक डायमेंशन से दूसरे (अस्तित्व-विरोधी) डायमेंशन में ज़बरन धकेल देता है, किन्तु पुरुष का वह बाल बाँका भी नहीं करता? उसका सब कुछ यथावत् रहने देता है, ऊपर से कई लाभ देता है। जायसी ने यह सवाल नहीं उठाया, केवल धकेली जा रही स्त्री के दर्द महसूस किये। इसी तरह, तुलसीदास ने यह सवाल तो किया कि स्त्री को जब पराधीन ही रहना था, तो विधाता ने उसे पैदा ही क्यों किया? किन्तु, यह मौलिक प्रश्न नहीं उठाया कि विधाता ने स्त्री को पराधीन रखने वाला विधान (पितृसत्तात्मक विवाह-व्यवस्था) ही क्यों बनाया? अस्तु! फ़िलहाल पीछे लौट कर देखें। भावी दुर्गति से बेख़बर पद्मावती का रतनसेन से प्रेम, विवाह में पर्यवसित होता है। सामन्तवादी विवाह जिस की नियति होऐसे प्रेम में पड़ीं पद्मावतियाँ कितनी भोली होती हैं अथवा इस तथ्य से अनजान रहना



चाहती हैं कि वे ऐसे पतियों की 'घर-नारी' बन रही हैं, जो अपने शयन-कक्ष में अब तक न जाने कितनी औरतों का सब्ज़ी-बाज़ार लगा चुके हैं! विवाह के उपरान्त, नववधू (पद्मावती) और पुराने घिसे दूल्हे (रतनसेन) का मिलन होता है। लम्बी सुहागरात का दृश्य जायसी दिखलाते हैं, जिसमें वधू का भोग्यापन मुखर है। कवि ने लिखा है कि राजा पद्मावती के रसपान में बेसुध हो गया। उसका लाज-स्थान ऐसा था, मानो सोने की कली में माणिक जड़ा हुआ हो, जिसे सुहाग-काल में रतनसेन ने बर्मा से बींध दिया हो! पद्मावती के कुच-रूपी नारंगियों पर रतनसेन-रूपी तोते ने मानो नख-क्षत किये होंअधर-रूपी आम्ररस का पान किया हो! उनकी रति-केलि को राम-रावण-युद्ध से उपमित करते हुए कवि का कहना है कि रतनसेन ने लंक (कमर)-रूपी लंका का अधिग्रहण कर लिया और पद्मावती-रूपी कंचनगढ़ को तोड़ दियाजीत लिया। उसका उन्मुक्त यौवन मसल दिया गयाप्रगाढ़ आलिंगन ने आभूषण तोड़ दिया, कंचुकी चूर-चूर हो गयी, हार बिखर गया, चन्दन पुँछ गया। आगे पद्मावती सखियों से अपना सम्भोगानुभव बयान करते हुए कहती है कि थाल के समान हृदय में कुच रूपी कंचन के लड्डू मैंने चाव से आगे बढ़कर उसे भेंट किया है। सखी पद्मावती से कहती है कि रतनसेन-रूपी भ्रमर के रसपान से तू चूसे हुए फूल जैसी हो गयी है।[51] स्त्री को पूरी मर्दानगी के साथ भोगने का क्या ही वर्णन है! इसमें बुभुक्षित बाघ के आगे मांसपिण्ड की तरह नारी को परोस दिया गया सा है। स्त्री का इस कदर यौन-वस्तुकरण असह्य हो उठता है! जायसी ने नारी के वस्तुकरण का और बेजोड़ प्रयास 'नख-शिख' की रूढ़ि निबाहते किया है, जिसके आगे रीति-कवियों या उनके भी बाप 'फ़ैशन टी.वी.' की मॉडलिंग भी एकबारगी पीछे नज़र आ जाए!

'पदमावत' के तीन खण्डों'नख-शिख-वर्णन खण्ड', 'स्त्री-भेद वर्णन खण्ड' तथा 'पद्मावती-रूप-चर्चा खण्ड' में स्त्री की जोरदार मॉडलिंग है। पद्मावती को जिन बत्तीस लक्षणों से युक्त बतलाया गया है, उनमें से एक भी लक्षण उसकी बुद्धि या प्रतिभा से जुड़ा नहीं है, सारे के सारे लक्षण देहगत हैं। पुरुषों के लिए चर्वणीय व्यंजन के रूप में, चटखारे ले-ले कर 'नख-शिख वर्णन' के बीस पदों में क्रमशः सीस, माँग, लिलार, भौंह, नैन, बरुनियों, नासिका, अधर, दन्त, जीभ, कपोल, कान, ग्रीवा, भुजा-कलाई, उर-उरोज, पेट की रोमावली, पीठ, कमर, नाभी व गुह्य-विवर तथा नितम्ब का उत्तेजनाकारी चित्रण है। उरोजों के विषय में कहा गया है कि हृदय-रूपी थाल में मानो दो सोने के लड्डू हैं अथवा दो कचौड़ियाँ उठ/फूल रही हैं। कुचाग्र ऐसे नुकीले हैं कि चोली को बेध कर निकल जाना चाहते हैं। वे वश में नहीं आते और हुलस कर किसी की छाती से लग जाना चाहते हैं। राजा के बगीचे में कठिन पहरे में रखे गये, उन जमीरी नींबुओं को कौन छू सकता है? वे अंगूर-अनार की तरह न जाने किसके लिए बने हैं! कुरंगी का खुर (निशान) चन्दन-से पेट के निचले भाग पर है। ना मालूम, राजा भोज की तरह कौन भाग्यशाली पुरुष होगा जो उसका उपभोग

करेगा?[52] (डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत के अनुसार 'कुरंगी-खुर' स्त्री के गुह्यांग का कोडवर्ड है।[53])

'सौन्दर्य' का मिथक गढ़ कर उसका बोझ लड़की/स्त्री पर डाल देना, ताकि पुरुष-समाज की आँखें सिंकती रहें! यह सब क्या किसी स्वस्थ दृष्टि का प्रस्ताव है? ये वर्णन हमारे किस काम के हैं कि हमें कोर्स में पढ़ाए जाएँ? पुरुष-रचित ऐसा हर सौन्दर्यशास्त्र नारी-देह को सार्वजनिक तौर पर आपादमस्तक अनावृत करके भीषण चटखारे लेता है या उस देह को दमघोंटू आवरण में डाल कर दाग़दार व गतिहीन कर नयनोत्सव मनाता है। नारी ऐसे ही वर्णनों से समाज में भोग-लिप्सा का साधन बन जाती है। स्त्री का सौन्दर्य-वर्णन करने वाले ऐसे ही काव्यों को सुन्दरदास समाज के लिए बीमार की मिठाई बताते हैं। पर, यह सत्य पकड़ लेने के बाद भी वे स्खलित हो जाते हैं, जिससे अन्तिम अपराधी नारी को ही ठहरा बैठते हैं। ( देखिये सन्दर्भ - 70) नारी के इस सौन्दर्य को भी उसके अर्थ न रहने दिया गया, बल्कि पति की तुष्टि को उसका प्रयोजन करार दिया गया ('सजना है मुझे सजना के लिए'[54])। अपनी खुशी से यदि वह सजना भी चाहे, पति-विहीन होने पर सिंगार करे, तो कवियों द्वारा वह खूब कोसी जाती है। कबीर कहते हैं'कबीर कन्याँ करै स्यंगार, सोभ न पावै बिन भरतार।' [55] तुलसीदास ने ('रामचरितमानस' के 'उत्तरकाण्ड' में) विवाहिता स्त्री का आभूषण न पहनना और विधवा का मनचाही सज-धज रखना कलियुग-लक्षण करार दिया है'सौभागिनीं बिभूषन हीना, बिधवन्ह के सिंगार नवीना।' काश! ये समझ पाते कि गहने पहनने में स्त्री को कुछ दैहिक कष्ट या असुविधा भी हो सकती है अथवा विधवा की भी कोई चाह हो सकती है। स्त्री-सौन्दर्य का गढ़ा गया मिथक महाकाव्य-काल (वाल्मीकि-व्यास-कालिदास के युग) से आज तक की सांस्कृतिक चेतना को संचालित करते आ रहा है, जिसने बराबर लड़की को प्रतिभा/बुद्धि या देह-बल जगाने की किसी सम्भावना से विलग कर, उसे देह की अन्धी गलियों में ही भरमाए-भटकाए रखा है। सदियों से इसी छद्म मूल्य (सौन्दर्य) ने स्त्री को 'सुन्दर' बने रहने के लिए मज़बूर किया हैउसे शल्यीकृत शरीर और बेधक-बोझिल वस्त्राभूषणों की दूकान बनाए रखा है तो इसी इसी 'सौन्दर्य' ने, जिसे आज का बाज़ार भी तेजी से नये रूप में गढ़ रहा है। यह स्त्री से उस का दिमाग छीन कर, उसे देह की पुष्टता-स्वस्थता तथा सहज परिधानों से भी वंचित किए हुए है। औरत का समय और जान दोनों खा जाने वाले इस हिंसक सौन्दर्य का नख-शिखी महिमामण्डन सूफ़ी कवित्व की स्त्री-घाती छवि का एक शक्तिशाली प्रतिमान है! सच कहें तो स्त्री के **ऐसे ही चित्रणों की परम्परा ने मर्दों की जमात को उसके (मानसिक व वास्तविक) गैंगरेप के लिए उकसाए रखा है।**

जायसी ने रूप-गर्व और सौतिया डाह को नारी के स्वभावगत दोष की तरह इस कदर पेश किया है कि नागमती और पद्मावती पति की चिता पर अनुमरण करते वक्त तक भी इनसे ग्रस्त दिखे। ऐसे दारुण-कारुणिक प्रसंग को भी कथित जनानापन



से जोड़कर उसके प्रति संवेदित होने का अवकाश ही सीमित कर दिया गया है। वस्तुतः ये स्त्री-स्वभाव (के अंग) नहीं, बल्कि सामन्ती समाज में पुरुष के बहुविवाह रूपी फ़ैक्टरी के कचरे हैं, जो नारी की विवशता पर आरोपित हो गये हैं। इन दोषों से छुटकारा स्त्री मर कर ही पा सकती है। सती होकर दोषी से 'पूज्य' में भी बदल सकती है। सो, सती-प्रसंग है!

## सती और वेश्या

स्त्री की यौनिकता पर पुरुष-विशेष के अधिकार की चरम कोशिशचरम बयान है सती-प्रथा । परन्तु, आचार्य शुक्ल की आँखें जीती-जागतीं, धड़कतीं दो-दो ज़िन्दगियों को स्वाहा होते देख कर चीत्कारती नहीं, अपितु आलोकित हो उठती हैं''नागमती और पद्मावती दोनों शृंगार करके प्रिय से उस लोक में मिलने के लिए तैयार होती हैं। यह दृश्य हिन्दू-स्त्री के जीवन-दीपक की अत्यन्त उज्ज्वल और दिव्य प्रभा है, जो निर्वाण के पूर्व दिखाई पड़ती है।''[56]मूढ़ आत्महत्या या विचारधारा के दबाव से क्रूर हत्या और उस पर भी जौहर जैसी सामूहिक आत्महत्या या बलि देने को आत्मोत्सर्ग ठहराने, यानी कसाईघर को मन्दिर करार देने का दोष कवि और उसके आलोचक दोनों का है! आधी आबादी के व्यक्तित्व-दलन से भी बढ़कर अस्तित्व तक को बेरहमी से मिटा देने के सवाल को ग़ैर-जरूरी समझना या इतने हल्के में लेना! क्या यह रचनाकार या आलोचक होने की अर्हता में कोई कटौती नहीं करता? सबसे अहम सवाल तो यही है।

'सती-प्रथा, भक्तिकाव्य और हिन्दी मानसिकता' आलेख[57] में अनुराधा जी मध्यकाल में सती की घट रहीं व्यापक घटनाओं को 'आत्महत्या' की जगह, पूरी योजना बना कर की गयी 'हत्या' के रूप में स्थापित करती हैं तथा इस सन्दर्भ में उन क्रूरतम-भयावह घटनाओं को आध्यात्मिक ताने-बाने की लफ्फ़ाजी से महिमामण्डित या आदर्शीकृत करने और उसके कारण-रूप में अन्धविश्वास, शासकीय विलासिता, नारी की निराश्रितता, उसके आर्थिक अधिकार की सम्भावना आदि गिना कर असली अपराधी को दोषमुक्त या ओझल कर देनेवाले आलोचकों की अच्छी ख़बर उक्त आलेख में वे लेती हैं। स्त्री के सती होने के पीछे पति के प्रेम का राग अलापने वालों से वे पूछती हैं कि क्या उस समय होने वाले विवाह प्रेम-विवाह थे? स्त्री को सती-दाह तक पहुँचाने के पीछे डॉ. रामविलास शर्मा 'विधवा को मिलने वाले सम्पदाधिकार को झटक लेने की मनोवृत्ति' को कारण-रूप में रखते हैं, इसे भी सिरे से ख़ारिज करते हुए अनुराधा जी पूछती हैं कि यदि ऐसा है तो सती करने के विधानों को उतना सजा कर शास्त्रों में क्यों बिठाया गया है? जब स्त्री खुद पुरुष की निजी सम्पत्ति है, तो सती होने के मामले में स्त्री के सम्पत्ति-अधिकार की बात कैसे की जा सकती है? प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा सती-प्रथा का दायरा शासक की पत्नियों से रखैलों, नौकरों-चाकरों की

पूरी टीम के जलने तक फैलाने के बाद, कारण-रूप में एक तरह से शासक वर्ग के सुविधाभोगी होने को ठहराया जाना भी[58] अनुराधा जी को स्वीकार्य नहीं है। वे पूछती हैं कि रानी को भी परलोक में इन सब सुविधाओं की दरकार होती होगी; परन्तु एक भी उदाहरण नहीं है, जिसमें रानी के मरने पर राजा तो क्या एक अनुचर भी जलाया गया हो। रही पति के बाद नारी के निराश्रितता की बात, तो वे कहती हैं कि किसी को आश्रय व्यक्ति-विशेष से नहीं, बल्कि व्यवस्था से मिलता है और व्यक्ति-विशेष के अवसान पर भी व्यवस्था का अन्त नहीं हो जाता। विधवा द्वारा आत्मघात के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाले पुण्य की भावना सती-प्रथा का कारण हैयह विवेचन भी उन्हें इसलिए गवारा नहीं कि यह स्त्री को मूर्ख व लालची साबित करता है। सती बनने की घटनाओं का ऐतिहासिक विश्लेषण करते हुए उन्होंने पाया कि (1) सती अकाल-मौत से मरने वाले पुरुषों से जुड़ी घटना है (2) अधिकतर कमसिन-नादान लड़कियाँ ही सती होती रहीं (3) सती होने को हठात् तैयार हुई स्त्रियों के भीतर किसी तरह का द्वन्द्व या पुनर्विचार न पैदा हो जाए, इसलिए उन्हें नशीले पदार्थों का सेवन करा कर अचेत कर दिया जाता था।[59] उसके बाद, ज़बरन, हाथ-पाँव बाँधकर चिता पर डाल देना और चिता से भागने न देने के लिए चारों ओर हथियारबन्द पहरेदारी! सती होने से किसी तरह बच निकली स्त्री को 'डायन' आदि के रूप में बदनाम करके इतना परेशान किया जाता था कि उसकी ज़िन्दगी मौत से भी अधिक यातनामय हो जाती थी। ऐसी मौलिक प्रस्थापनाओं से सती-प्रथा का क्रूर व्यवस्थागत चेहरा उजागर करने के बाद भी अनुराधा जी उसके मूलभूत कारण पर से ठीक से पर्दा नहीं हटा पाती। उनका यह कहना भी गले नहीं उतरता कि कबीर सती की घटनाओं से आहत भी हैं, क्योंकि उनके मन में 'सती के आदर्श' और 'जीवित स्त्री को जलाए जाने' के बीच द्वन्द्व की स्थिति है।

सच तो यह है कि कबीर पूरी तरह सती-महिमा की गिरफ्त में हैं, जिस तरह जायसी आदि हैं। भक्ति में एकनिष्ठता को अपने सामने घट रहीं सती की घटनाओं से समझते रहने की उनकी प्रवृत्ति इतनी सहज है कि लगता है कि उन्हें अपनी इस समझ पर सोचना तक गवारा नहीं। वे सिद्ध तथ्य की तरह पेश करते हैं

*साधु सती औ सूरमा कबहुँ न फेरैं पीठ।*
*तीनो निकसि जो बाहुरैं ताको मुँह मति दीठ ॥*[60]
*सती को कौन सिखावता है सँग स्वामी के तन जारना जी।*
*प्रेम को कौन सिखावता है त्याग माँहि भोग का पावना जी ॥*[61]

प्रथम पद का गुणगान करके उसमें आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सती-प्रथा का भी गुणगान कर दिया है।[62] इसके साथ, दूसरे पद के सम्बन्ध में वे सूचना देते हैं कि क्षितिमोहन सेन के संग्रह से यह लिया गया है, जिसका गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने अँगरेजी में अनुवाद किया था।[63] इस पर आश्चर्य होना चाहिए कि रवि बाबू ने



पाश्चात्य विद्वानों के समक्ष इसके ज़रिये किस भारतीय मनीषा को रखने की जुगत की थी? और तो और! कबीर के बोध में सती होती नारी एकनिष्ठ प्रेम का ऐसा मजबूत प्रतीक है और स्त्री का सती होना इतना जरूरी है कि यहाँ तक कह बैठते हैं"यदि वेश्या स्त्री अनेक पुरुषों के साथ सहवास करती है, तो वह जलेगी किसकी चिता पर?"[64]यहाँ, कबीर बहुदेव-पूजकों की निन्दा करने के लिए 'वेश्या' को प्रतीक रूप में लाते हैं। वे स्त्री को सती-हत्या की बलिवेदी पर चढ़ाने वाले सामाजिक-धार्मिक तन्त्र से तो यहाँ बेख़बर हैं ही, अपितु इस तथ्य से भी महरूम हैं कि जिस तरह सती बनती नहीं, बनायी जाती है, उसी तरह वेश्या भी बनती नहीं, बनायी जाती है।

स्त्री पर थोपे गये विवाह के तहत उस से बहु-अपेक्षित एकनिष्ठ यौन-दासता (जिसे पातिव्रत्य कहा गया) के कबीर इतने मुरीद हैं कि विवाह-संस्था से बाहर की किसी स्त्री को सह पाना उनके वश के बाहर की बात है। इस जड़ मत में वे अपने काल का यह सच भी भूल जाते हैं कि सर्वग्रासी विवाह-संस्था से बाहर रहीं/हुईं स्त्रियाँ (वेश्याएँ) अपनी मर्ज़ी से वैसी नहीं बनीं कि उन्हें बहुदेव-पूजकों के लिए उपमा-रूपक बनाया जाए, जो अपने पूरे होशो-हवास में तमाम विकल्पों के बावजूद बहुदेवों की पूजा का विकल्प चुन रहे हैं। वेश्या की निन्दा करने का कबीर का स्तर कहीं प्रतीकात्मक है, तो कहीं वास्तविक धरातल का। वे माया को एक निष्ठुर वेश्या कहते हैं, जो अपनी अदाओं से पुरुष को फुसलाती है, पर किसी को अपना स्वामी नहीं मानतीकोई उसे पूरी तरह भोग नहीं सकता। बहुदेववादी को वे वेश्या-पुत्र भी बतलाते हैं, जिसके बाप का कोई पता नहीं।[65] यह प्रतीकात्मक स्तर है। इसके साथ हिन्दुओं की छुआछूत की प्रवृत्ति की खिल्ली उड़ाने के लिए कबीर उनके वेश्या-गामी/-अनुगामी होने का विरोधी तथ्य पेश करते हैं।[66] यह वास्तविक स्तर है। परन्तु, ध्यातव्य है कि यहाँ छुआछूतवादियों की ही नहीं, वेश्या की भी खिल्ली उड़ी हैजो अन्तिम रूप से एक बेहद मज़बूर और बहु-प्रताड़ित स्त्री है। वह इन्सान ही है, नाली में धकेल दी गयी। किन्तु, कबीर ने उसे संक्रामक रोग से ग्रस्त व्यक्ति की तरह चित्रित कर उससे लोगों को बचने की सलाह दी है। रुग्ण के साथ ऐसा अमानवीय व्यवहार, अछूत सा उसका बहिष्कार, कबीर के संवेदनशील व्यक्तित्व के कितना संगत है?

जायसी ने वेश्याओं की निन्दा नहीं की, बल्कि उन्हें सामाजिक जीवन के यथार्थ की तरह लिया। पर, उनका यह मत सामन्ती भोगवाद के खाँचे में फिट बैठता है, जिस में भूमि, धन की तरह स्त्री भी (मर्दों की) भोग-वस्तु बन चुकी थीलूट, दान/उपहार व दाँव पर लगाने की चीज। इसी से नगर-वर्णन में वेश्या-हाट का वर्णन आवश्यक रूप से होते रहा, जितना बड़ा नगर, उतना ही बड़ा वेश्या-हाट यानी देह-मण्डी। 'पद्मावत' सहित पूरा सूफ़ी-काव्य ऐसे वर्णनों से भरा पड़ा है। सिंहल का वैभव दिखलाते जायसी शृंगार-हाट (वेश्या-बाज़ार) का भी नयनाभिराम चित्रण करते हैं। कहना नहीं होगा कि वेश्या के सम्बन्ध में कबीर व जायसीदोनों कोटियों के

रचनाकार दिग्भ्रान्त हैं। दोनों के लिए वेश्या कोई सवाल नहीं, स्वतःसिद्ध यथार्थ है,एक के लिए गलित यथार्थ तो दूसरे के लिए सज्जित। मर्दों की यौन-बुभुक्षा की सतत बढ़ोतरी एवं उसके नवीनीकरण की चाह में, यौन-विक्षिप्त लम्पट एवं (सम्पत्ति के विषम वितरण से बने) धनी-तन्त्र और स्त्री को देह मात्र (गोश्त भर) बना डालने की पितृसत्तात्मक विचारधारा की विशाल चहारदीवारी में, स्त्री पर वेश्या बनने की डाली गयी बहुकोणीय (समाजार्थिक) मज़बूरी को ज़रा सा भी समझने के काबिल दोनों ही नहीं हैं। वे यह भी समझने में असमर्थ हैं कि लगभग पूरा स्त्रीत्व वेश्यावृत्ति की गिरफ्त में हैचाहे वह एक के प्रति हो (पातिव्रत्य?) या हो अनेक के प्रति (वारांगना)। फिर, पहले की महिमा और दूसरे की निन्दा क्यों?[67] सती व पतिव्रता की महिमा बखानने और वेश्या पर ऐसा नज़रिया रखने के साथ, स्त्री मात्र को साधना-मार्ग की बाधा समझने-बतलाने-दिखलाने (यह जायसी में नहीं है) के इतने जोरदार प्रसंगों के बाद यह साफ़ हो जाना चाहिए कि भक्तिकालीन मूल्य-दृष्टि स्त्री-पीड़ा-निरपेक्ष से भी आगे बढ़कर, स्त्री-विरोधी, स्त्री-घाती और स्त्री-ग्रासी हो जाती है।

कबीर आदि निर्गुणपन्थियों ने भक्तिकाल में सब से क्रान्तिकारी विचार रखकर भी, आधी प्रजा (स्त्री) के योग-क्षेम से कोई वास्ता न रखा, उसकी हीनता-अभावग्रस्तता-पीड़ा या उत्पीड़न को कोई समस्या न माना, बल्कि उसे निरन्तर हीन-अभावग्रस्त व संत्रस्त बनाए रखने एवं उसकी हत्या कर डालने वाली समाज-संरचना का जीर्णोद्धार ही करते रहे। सही में, उनकी प्रगतिशीलता वर्ण व वर्ग के सन्दर्भ में खड़ी थी, ज़ेण्डर को नज़र-अन्दाज कर के। फिर, उस प्रगतिशीलता की सीमा भी 'भाईचारा' थी, जो इस्लाम-आयोजित सद्भाव की सीमा रही है। हिन्दू-मुसलमान आदि एक ही ईश्वर की सन्तान होने से भाई-भाई हैं, यह बोध अवश्य प्रगतिशील है। किन्तु, सवाल है कि इस में नारियाँ कहाँ आ पायीं? इसी से तो भाईचारा अधूरी अवधारणा हैकेवल पचास प्रतिशत जनसंख्या को सामाजिक न्याय देने वाली। (इस अधूरे भाईचारे के रहते कभी-कभी ख़तरा यह भी है कि कहीं वह 'भाई लोगों' के लिए सहानुभूति या नारे में न बदल जाएचाहे वे कश्मीर के ज़ेहादी या अंडरवर्ल्ड के आतंकवादी हों अथवा गोधरा (गुजरात) के बजरंगी।) पुरुषवादी अध्यात्मवाद की ज़मीन पर खड़े कबीर आदि से, नारी को पुरुष के बराबर न्याय दिलाने की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। इस स्तर पर तमाम भिन्न/विरोधी सामाजिक सन्दर्भों के रहते कबीर भी तुलसी की ही पाँत में बैठे दिखते हैं। 'अधम ते अधम अधम अति नारी' के उद्घोषक तुलसी से 'नारी कुण्ड नरक का', 'नारी की झाँई पड़त अन्धो होत भुजंग' आदि विचारों के विस्तारक कबीर कहाँ उन्नीस पड़ते हैं? बल्कि, तुलसी में सती-समर्थक स्वर न रहने के कारण कबीर ही बीस पड़ते हैं। देखा जाए, तो दोनों जाने-अनजाने भक्ति-साधना के साथ-साथ उसके साये में पितृसत्ता के पुनर्गठन की प्रक्रिया भी साध रहे थे।



## नारी-निंदा के पीछे सेक्स का तांडव

भक्तिकालीन पुरुष भक्तों/सन्तों की ईश्वरोन्मुखता समाज-हित से प्रेरित है कि स्वार्थ (अपने लिंग के अर्थ)-प्रेरित पलायनवादयह प्रश्न भी उठना चाहिए। यदि पहली बात है, तो ईश्वरोन्मुखता की राह में हर बार बाधा-रूप में (माया बन कर) नारी ही क्यों आती है? यह आम प्रवृत्ति भक्तिकाल के 'नारी-प्रति अन्याय' का समग्र नहीं तो सर्वोपरि लक्षण अवश्य है। यह सब में है चाहे कबीर, जायसी, तुलसी हों या सूरदास, चाहे दादू[68] हों या उनके शिष्य रज्जब, चाहे मलूकदास[69] हों या सुन्दरदास,[70] रसखान[71] हों या चरनदास, धरनीदास हों या (विलास-निमग्न) केशवदास ही। उस काल का कोई पुरुष रचनाकार हो और नारी-निन्दा के नाले में (थोड़ी सी) डुबकी न लगाए, यह लगभग असम्भव है। यहाँ तक इन कवियों को क्या उन स्त्रियों ने पहुँचाया होगा, जो कतिपय स्वतन्त्र होकर यौन-अस्मिता से भर चुकी होंगी, जिन्हें समाज 'व्यभिचारिणी' कहता आया है, परन्तु असली व्यभिचारियों (बहुविवाही लम्पटों) को ईश्वरावतार के पूज्य पिता की पदवी प्रदान कर झूमता है। फिर लगता है नहीं, मध्यकाल में स्त्री की ऐसी हैसियत कहाँ थी?

स्त्री को दबा कर दोयम दर्जे में रखने वाली पितृसत्ता उसे बराबर अहसास भी कराती रहती है कि समाज-व्यवस्था में निचले पायदान पर वह इसलिए है कि पूर्वजन्म के कुकृत्य-वश वह जन्म से स्त्री है, पुरुष से हीन है, नीच है। इसी से सन्तों के साथ, सूफ़ी काव्य 'चित्रावली' का नायक सुजान भी पत्नी के बहाने औरत मात्र को बराबर उसकी औकात बता बताते चलता हैवह निर्बुद्धि है, [72] पैर की जूती की तरह पुरुष से लगी चलती है।[73] दूसरी तरफ़ काम पड़ने पर या स्त्री को काम लायक बनाए रखने के लिए पितृसत्ता उसे फुसलाना भी जानती है (काम चाहे हिन्दी का हो या संस्कृत का)। सुजान पत्नी से कहता है'तुम सुजान हो, स्थिरमति हो, घर सम्हाल सकती हो।'[74] पर, यहाँ भी अपने द्वारा स्त्री हेतु खींची गयी लक्ष्मणरेखा (घरेलूपन, सुन्दर चीज) से बाहर उसकी चाटुकार-वाणी नहीं निकल पाती। सामन्ती समाज में प्रेम भी स्त्री को छलने व गुलाम बनाए रखने का हथियार रहा है। वहाँ स्त्री-सम्बन्धी व्यवहार के ये दो छोरनिन्दा और स्तुतिरण्डी और चण्डी (देवी) बतलाने के दो ध्रुव वस्तुतः एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वह खोटा सिक्का है स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के अस्वीकार का। इसका कारण उसके व्यक्तित्व से भय खाना है, खासकर उसके यौन-व्यक्तित्व से।

कबीर की प्रेम-संवेदना के विवेचन के दौरान, प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने संस्कृति में नारी-निन्दा और नारी-पूजा की विद्यमान द्विधा समानान्तर प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए, उनके मूल में स्त्री से, खासकर उसकी सेक्सुअलिटी से भयभीत होना पाया। उनके मत से स्वयं को सभ्य कहने वालीं तमाम परम्पराएँ उसकी अबूझ

सेक्सुअलिटी से आतंकित होकर या तो देवीपन के ज़रिये उसे हानिरहित बनाने की कोशिश करती हैं या फिर कामिनीपन के ज़रिये स्त्री को सेक्स-ऑब्जेक्ट में तब्दील कर देती हैं। स्त्री स्वयं कभी अपनी सेक्सुअलिटी कीउसके उदात्त और स्थूल आशयों की कर्त्ता स्वयं होना चाहे, यानी 'देवी' या 'देह' की जगह 'व्यक्ति' होना चाहे, तो सभ्यता ख़तरे में पड़ जाती है, सांस्कृतिक मूल्यों का संकट खड़ा हो जाता है।[75] ऐसा प्रतिपादित करने वाले प्रो. अग्रवाल की बात में दम है। पर, सवाल उठता है कि पुरुष-सभ्यता को स्त्री से उक्त प्रकार का भय क्यों है? इसका कारण जीववैज्ञानिक लगता है। पुरुष की काम-शक्ति स्त्री की तुलना में उथली है, जिसका उसे अहसास भी है कि स्वयं शीघ्र उत्तेजित हो जाने के साथ एक भी ऐसी स्त्री को वह सम्हाल नहीं पाता, जो पूरी तरह से यौन-जागरित हो जाए! 'वीकर सेक्स' की यही चुभन उसकी सभ्यता में मर्दानगी के मिथक के रूप में परिणत होकर लम्बी यात्रा कर चुका है। इसी चुभन के गहरे बोध ने ब्रह्मचर्य व संन्यास को उदात्त मूल्य बना रखा है। उसी के तहत स्त्री की सहज सेक्सुअलिटी के दलन व दोहन की व्यवस्थाएँ-संरचनाएँ खड़ी कर रखी हैं। दो तरह सेस्त्री की यौनिकता (के सहज उभार) को गरिया कर (ताकि वह काम-वस्तु भर बनी रहे) तथा उसे देवीपन, मातृत्व/गृहिणीत्व से ढँक कर, यानी उस के कामांगों को जननांग मात्र में ढाल कर (ताकि उस की कामुकता जगे ही नहीं)। मनुवादी स्मृतिकारों का यह विचार कि स्त्री में कामुकता पुरुष से आठ गुनी होती है, वस्तुतः मर्द की तुलना में औरत की कई गुनी 'काम-शक्ति' को झुठलाने और उसके सहज अधिकार (यौन-तुष्टि) से उसे विमुख करने की दिशा में एक राजनैतिक बयान सा है। पुरुष की तरह ही स्त्री में जिस सहज वासना की स्थिति है, उसे 'नारी-स्वभाव' (विकृति) और उसके दलन या नियन्त्रण के लिए बनाए गये रिवाज़ों को 'नारी-धर्म' ठहराया गया।[76] पातिव्रत्य व सतीत्व ऐसे ही कथित धर्म हैं। इसका अगला रूप हुआस्त्री को एकमात्र अन्य (पुरुष) के सुखार्थ सेक्स-ऑब्जेक्ट मात्र के रूप में बदल देना। साहित्य में उसी के तहत 'नख-शिख' की रूढ़ि पर पेज-दर-पेज काले किये गये हैं।

सूफ़ी काव्यों में 'पति की सन्तुष्टि' स्त्री के लिए एक मूल्य की तरह पेश की गयी है। ऐसा इसलिए था, क्योंकि बहुविवाही/बहुभोगी पुरुष-तन्त्र में सामाजिक और आर्थिक रूप से विकल्पहीन, परजीवी पत्नी की इसी में सुरक्षा निहित थी। विवाहिताओं के एक विशाल वर्ग के पेट चलने का आधार आज से बहुविकल्पी युग में, जब 'विवाह' व 'पति-सेवा' (कानून-सम्मत वेश्यावृत्ति?) है, तो उस समय क्या नहीं रहा होगा? नारी को चाहे यौन-वस्तु के रूप में चित्रित करे या यौनातुर रूप में, इन द्विधा रूपों में उसे सेक्सी ठहराने वाले भक्तिकाल से उस की यौनिकता/यौनेच्छा के किसी समादर की उम्मीद कैसे की जा सकती थी, जब कि आज के बाज़ारी पूँजीवादोन्मुख और निरन्तर खुल रहे समाज में भी उसका समादर तो छोड़िये, सहज स्वीकृति तक नहीं है।



भक्तिकाल का सन्त/भक्त समाज ब्रह्मचर्य जैसे मूल्य-बोध का शिकार था, जिससे सेक्स जैसी सच्चाई से आँखें मिलाने से कतराता था। सूफ़ियों को छोड़कर, सबके प्रेम-वर्णन में हवाई आध्यात्मिकता है, तो इसी कारण। कृष्ण-साहित्य, राम-साहित्य जितना सेक्स के प्रति निगेटिव नहीं है। फिर भी, वह सेक्स दैवी पात्रों का विशेषाधिकार है, न कि नर-नारी का सामान्य मानवाधिकार। उसमें कृष्ण से जुड़ी हर स्त्री विशेष (दैवी) है, इसलिए उसे लोक-मर्यादा से परे जाकर अपनी रातें रंगीन (रासलीला) करने की छूट है, परन्तु आम स्त्री को तो 'मर्यादा', 'कुल' या 'पातिव्रत्य' के वही सूखे चने चबाने हैं।[77]

'ब्रह्मचर्य' और 'संन्यास' की फ़िक्र में लगे भक्तिकाल के (कट्टर) सन्त हों या आज के पूँजीवादी-इण्टरनेटी (पाखण्डी) सन्तनारी के साथ न्याय कर पाना उनके बूते की बात नहीं, तो कारण यही है कि 'ब्रह्मचर्य' व 'संन्यास' की आइडियोलॉजी ही पूरी तरह से पुरुषवादी और उससे बढ़कर स्त्री-विरोधी है। उसमें स्त्री का एक इन्सान के रूप में स्वीकार-सम्मान न करके, उसे सिर्फ़ वासना या मासिक धर्म के कुण्ड के रूप में समझकर, उससे भागने की मर्दाना हड़बड़ी है। स्त्री को सामने न आने देने अथवा स्त्री के सामने न आ पाने की डरपोक हठवादिता 'ब्रह्मचर्य'-कल्पना का मूल है। सेक्स का दलन करते-करते अपने अवचेतन मन में अप्सराएँ पैदा कर चुका पुरुष, अपनी इस कमजोरी (वासना-विक्षिप्तता) से डरता रहा। इसी से वह कभी स्त्री से मुखातिब होने से कतराता है, तो कभी जीवन-साथी बनी स्त्री को दगा देकर जंगल का रास्ता ले लेता है। इसी भगोड़ापन को 'मर्दानगी' के साथ तद्रूप कर के 'ब्रह्मचर्य' व 'संन्यास' नाम से महिमामण्डित किया गया है। गोरखनाथों से आसाराम बापुओं तक सभी इसी फ़ोबिया के शिकार हैं। 'ब्रह्मचर्य' मर्द-मूल्य है, क्योंकि 'पुत्र-दार-गृहादिषु' (बेटे-पत्नी-घर आदि से) विरक्त होकर चल पड़ने की 'गीता' की सिखावन[78] मर्द के लिए ही तो है। बुद्ध बनने के लिए गौतम का घर छोड़कर चल देना आसान है, पर यशोधरा बेचारी क्या करेगी, जिसके पास दूध-पीते बच्चे (राहुल) का बाध्यकारी यथार्थ है? 'संन्यास' की संकल्पना में स्त्री को कौड़ी के भाव समझा गया है। जब पुरुष का मन उससे फिरा, उसको ठोकर मारकर चल पड़ाउसके सिर पर बच्चा/बच्चे छोड़ कर या पेट पर बच्चा लाद कर। 'स्वप्न में भी वीर्यपात न होना' ब्रह्मचर्य का शास्त्र-विहित विवेचित लक्षण है, तो स्पष्ट है कि वह पुरुष का आदर्श है और अप्राकृतिक-कल्पित आदर्श है। ऐसे एकांगी, स्त्री-विरोधी मूल्य का वैराग्यवाद भोगवाद से कम ख़तरनाक और स्त्री के लिए कम अमानवीय नहीं है।

## सूरदास : तुम करो तो रासलीला, मैं करूँ कैरेक्टर ढीला

सूरदास के काव्य में नारी मूल्य-व्यवस्था के स्तर पर कुछ बँधी-बँधी सी है, पर व्यवहार-तल पर स्वच्छन्द विचरण करने वाली है। तुलसी-काव्य रक्त-सम्बन्धों की

मर्यादा पर आदर्शीकृत गृहस्थ जीवन का आदर्श चितेरा है; उसके समानान्तर सूर-काव्य ऐसे बन्धनों के प्रति लापरवाह, सिर्फ़ प्रेम के बन्धन में आस्थावान दिखता है, जिससे नर-नारी की सतरंगी दुनिया का उल्लास उनके काव्य में मूर्त्तिमान है। कृष्ण की मुरली-तान से बावली होकर, घर के बन्धनों को तोड़कर निकलीं गोपियों के बहाने सूरदास कुछ नया सिरज रहे थे, जो उस काल के यथार्थ से परे था। (सूर उस जगह पर बैठकर प्रेम की ऐसी फ़ैण्टेसी रच रहे थे, जहाँ आज भी 'खाप पंचायतें' लड़के-लड़कियों को मासूम प्रेम करने के जुर्म में सार्वजनिक तौर पर, बाक़ायदा बर्बर तरीकों से मौत के घाट उतार कर मूँछो पर ताव देती हैं।) उनकी नारियाँ सहज स्वतंत्र और व्यक्तित्व के तेज से चमक रही हैं, जो लोक या वेद की किसी बन्दिश से परे केवल अपने दिल का कहा मानती है। रसोईघर तक सीमित रहने वाली या उसी के अर्थ रोजगार (दूध-दही बेचने) में लगीं स्त्रियों के देश-काल में आकार पाने वालीं वे युवतियाँ निर्णय ही नहीं, विमर्श करने की भी ताक़त से भरी-पूरी हैं। उद्धव से वे तर्कपूर्ण बहस करती हैं। सूर के 'भ्रमरगीत' से भी ज्यादा गोपियों की मेधा की आँच नन्ददास के 'भँवरगीत' में मिलती है।[79] 'भ्रमरगीत' को निर्गुण पर सगुण की विजय के रूप में खूब पढ़ा गया, पर उसे पुरुषवादी शास्त्रीयता (अध्यात्मवाद) के ऊपर स्त्री-समुदाय के प्रत्यक्ष/सहजानुभूतिक उद्‌गारों की विजय के रूप मे न पढ़ा जा सका है। गोपियाँ बहस करतीं इतनी बोल्ड, इतनी आकर्षक लगती हैं कि पूछिये मत। उस दौरान पितृसत्ता की बनायी भाषिक मर्यादा को भी वे अतिक्रान्त कर जाती हैंप्रत्यक्ष अनुभव के आगे (शास्त्रज्ञान के ज़रिये) दूर की कौड़ी लाकर स्त्री पर बौद्धिक आतंक जमाए रखने की साज़िश को वे तार-तार कर देती हैं। उद्धव को पानी-पानी कर देने वाला, ब्रज-नारियों का यह उमँगता-इठलाता, पर साथ ही ज्ञान-सरिता से भरा वह रूप कमोबेश पूरे कृष्ण-काव्य का भास्वर वैशिष्ट्य है। प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी ने इसे 'सूर की बन्द आँखों का स्वप्न' कहा है। उनके अनुसार, रास का केवल धार्मिक-आध्यात्मिक नहीं, सामाजिक महत्त्व भी है। उन्होंने ठीक ही कहा कि 'घर' कृत्रिम सामन्ती मूल्यों पर रचित दमघोंटू व्यवस्था का प्रतीक है, जिसे तोड़ कर बाहर निकलने में ही सहज प्रेम व मानवीयता का विकास है। गोपियों ने यही घर तोड़ा है। इसकी आकांक्षा का जैसा सहज-स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण सूर के यहाँ है, वह दुर्लभ है।[80] प्रो. मैनेजर पाण्डेय के अनुसार, सूर का वृन्दावन ऐसी यूटोपिया है, जिसमें आदिम समाज की स्मृति और भावी समाज की सम्भावना का योग है। भारतीय समाज आज भी उन्हीं बन्धनों में जकड़ा हुआ है, जिनसे मुक्ति की आकांक्षा सूर ने की थी, जिनके कारण प्रेम जीवनोत्सव नहीं, एक अपराध या मानवीय कमजोरी बन जाता है।[81]

सवाल है कि क्या सूर वाक़ई मुक्ति की आकांक्षा कर रहे थे? यदि ऐसा ही है, तो उन के यहाँ भी नारी माया या मिथ्या का प्रतीक,[82] सर्पिणी तथा प्रेम में दग़ाबाज[83] क्यों कही गयी है? दान-लीला के प्रसंग में उनके आराध्य कृष्ण स्वयं कह रहे हैंनारी



को अधिक सिर नहीं चढ़ाना चाहिए।[84] वैसे नारी-सम्बन्धी ऐसे पूर्वग्रहों का रंग सूरदास में हल्का है। क्या इसे उनके भीतर अजजाने में रह गये सामन्ती संस्कारों के अवशेष समझकर छोड़ दिया जाए? किन्तु, समस्या इतनी ही नहीं है। स्त्री-पुरुष के बीच समतापूर्ण सम्बन्ध के कलरवमय तमाम यूटोपिया के बावजूद, सूर के प्रेम-वर्णन की सीमा यही है कि उन का कृष्ण बहुविवाही/बहुस्त्री-भोगी सामन्त का रूपक है। एक पुरुष के पीछे झुण्ड भर स्त्रियाँ नाचें-गाएँ, भागेंयह कौन सी समता है? क्या यह प्रेम है? क्या यह किसी बड़ी सामाजिक विषमता की उपज नहीं? या तो नारियों को कोई पुरुष नहीं मिलता या उन्हें अपने विवाह में प्रेम नहीं दिखता। प्रेम की प्यासी नारियाँरति-विलाप करतीं स्त्रियाँ उस पुरुष पर स्वाभाविक रूप से रीझकर दौड़ पड़ती हैं, जो उनके हृदय के तार झंकृत कर उन्हें अपना अस्तित्व बोधित करा दे। पर, विडम्बना यह है कि ऐसा पुरुष संख्या में एक ही है। फलस्वरूप, प्रेम अपने काम्य स्वरूपएक का एक के साथ समतुल सम्बन्ध, यानी लोकतान्त्रिक समता के धरातल से कुछ पीछे ही रह जाता है। अतः, कहा जा सकता है कि सूरकाव्य में 'प्रेम' चाहे जितना विसंगतिपूर्ण हो, पर उसी के रास्ते स्त्री के दिल की खिलावट या कुछ मनचाहा करने के उसके अधिकार को अनचाही सामाजिक-शास्त्रीय मर्यादाओं पर विजय दिलायी गयी है। फिर, यह प्रेम गृहकाज, पातिव्रत्य या अवांछित मातृत्व के बोझ ढोने वाला नहीं हैयह फ्री-सेक्स (मुक्त यौनाचार) भी नहीं है, बल्कि 'फ्रीडम ऑफ सेक्स' की आधुनिक संकल्पना का पूर्वज है। इस रूप में इसका निश्चित रूप से महत्त्व है। फिर भी, सूर ने प्रेम का यह अधिकार सभी स्त्रियों को दिया हैऐसा नहीं लगता। गोपियाँ कृष्ण-भक्त अथवा वेद की ऋचाएँ[85] होने से यह जन्मसिद्ध अधिकार सुविधा के रूप में पा सकी हैं। इसी से उनके द्वारा सामाजिक-शास्त्रीय मर्यादा का किया गया हर अतिक्रमण जायज़ है। परन्तु, आम धरातल पर सूर की अपेक्षा यही है कि नारी कुल-परिवार व पातिव्रत्य के साथ गुँथी रहे और अपने लिए नियत किये गये धर्म, काम-काज आदि का निर्वाह करती रहे।[86] अच्छी पत्नी, अच्छी माँ आदि बनी रहे। रुक्मिणी व यशोदा की मूर्त्ति सामने लाकर वे अपनी इस कामना पर मुहर लगाते हैं। कृष्णभक्त कवियों ने बाकी गोपियों को चाहे जितने स्वच्छन्द रूप में ढाला हो, पर गोपियों की शिरोमणि राधा के रूप में उन्होंने एक ऐसी स्त्री की सर्जना की है, जो खुद की इच्छाशक्ति से हीनप्राय और कृष्ण की (सामन्ती) इच्छाओं के सामने अप्रतिरोधी समर्पण भाव रखने वाली बेजुबान काठ की मूरत सी लगती है। शुरु में चाहे वह इस से थोड़े अलग तरह की भी रही हो, पर आख़िरकार उसका जिस रूप में विकास होता है, वह यही है। भक्तिकाल का यह कौन सा लोक-जागरण है, जो स्त्री से उसका व्यक्तित्व छीन ले अथवा उस के व्यक्तित्व-विसर्जन की मज़बूरी को भक्ति के उच्चतर मूल्य के रूप में देखे? इसके साथ, 'सूरसागर' में एक जगह सती-प्रथा के महिमामंडन जैसा कुछ दिखता है

*मन रे, माधव सौं करि प्रीत...*
*देख जरनि जड़ नारि की, (रे) जरति प्रेम के संग।*
*चिता न चित फीकौ भयौ, (रे) रची जु पिय कैं रंग ॥*[87]

इसमें सती को एकनिष्ठ प्रेम की मिसाल के तौर पर पेश किया गया है। यह परीक्षित का आत्मालाप है। वह अपने मन को कह रहा है''अरे जड़! उस नारी को देख, जो अपने पति के प्रेम के कारण उसके शव के साथ चिता पर चढ़कर, जलकर मर जाती है। चिता की ज्वाला देखकर उसका जलने का उत्साह मन्द नहीं पड़ता, क्योंकि वह अपने पिया के प्रेम के रंग में रंगी हुई है। तू भी माधव से ऐसा प्रेम कर।'' एक जगह तुलसी की उपमा भी सती-प्रथा को छूती लगती हैजैसे सती होने को तैयार स्त्री को गहने नहीं सुहाते, उसी तरह सारे मंगल-साज राजा को नहीं सुहातेमंगल सकल सोहाहिं न कैसे। सहगामिनिहि विभूषन जैसे ॥[88] किन्तु, ऐसा अर्थ करने पर भी इसका स्वर धीमा है। सूर के यहाँ जितना है, उससे भी हल्का है इसका रंग। ऐसी स्थिति में, 'आदर्श समाज के स्वप्नद्रष्टा' वाली सूर की छवि क्यों न ख़तरे में पड़ेगी? उनका काव्य 'राधाकृष्ण-काव्य' की जगह 'कृष्णकाव्य' ही बनता क्यों न नज़र आएगा? क्यों न नज़र आएगा, जब उद्धव से गोपियों के तमाम ज़िरह के बावजूद उनकी काव्यभाषा पितृसत्तात्मक रुझान से मुक्त नहीं है

*निर्गुन कौन देस को बासी?*
*को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी?*[89]

गोपियों के इस प्रतिवाद का लक्ष्यीभूत निर्गुण भी अन्ततः मर्द ही निकलता है, जिसे एक अदद बीवी तो चाहिए ही, साथ में और दासी (दासियाँ ) भी।

ऐसा बार-बार दुहराया जाता है कि कृष्णकाव्य में 'काम' कुण्ठित नहीं है। इस का आशय क्या होने लगता है? क्या कृष्ण के रूप में पुरुष को लम्पट बनने की छूट मिल जाती है? सूर जब कहते हैं'नीबी ललित गही जदुराइ/जबहिं सरोज धर्‌यो श्रीफल पर, तब जसुमति गइ आइ'[90] अथवा कुम्भनदास के कृष्ण स्नान-घर में नहातीं राधा को खिड़की से झाँकते जब देखते हैं,[91] तब (कृष्ण को बस भगवान मान लेने के अलावा) इसे उस मर्दवादी ब्लू-फ़िल्मी मानसिकता से अलगाने का कोई तर्क है, जो लड़कियों के बाथरूम में खुफ़िया कैमरे लगाकर अपना काम करती है? (तुम करो तो रासलीला है, मैं करूँ तो कैरेक्टर ढीला है) सवाल यह नहीं कि सेक्स का खुला चित्रण क्यों है? क्योंकि **अश्लीलता कपड़े उतारने या किसी की देह के खुलापन को देखने-दिखाने में निहित नहीं होती। वह होती है, अनावश्यक व असन्तुलित चित्रण में और हर उस प्रयास में जो व्यक्ति को वस्तु में बदलने की दिशा में हो; जो यथार्थ-बोध की बिना किसी माँग के, अनिवार्य रूप से केवल रूढ़ि के पालन अथवा मज़ा लेने या देने के लिए किया जाता हो।** यदि पुरुष और स्त्री (उभयमुखी/पारस्परिक संवेदना में भरे) एक-दूसरे को देखें-दिखाएँ, तो इसे सौन्दर्य का



विषय मानेंगे, क्योंकि यहाँ एकमुखिता नहीं, सन्तुलन है। इसमें वस्तुकरण की आशंका विलीन होती है। परन्तु, देखने वाली आँख सिर्फ पुरुष की हो अथवा केवल स्त्री की देह के अवयवों को टटोलने या सिर्फ उसी के शरीर के वस्त्र (नीवी-बन्ध) खोलने को रस ले-ले कर चित्रित करें, तो यह चिराचरित मर्दवाद है, जिससे स्त्री वस्तुकृत हो जाती है। इसी तल पर 'पद्मावत' आदि का नख-शिख-वर्णन हमें अश्लील लगता है (वैसे उसके और भी कारण साफ़-साफ़ हैं)।

कृष्ण द्वारा राधा आदि गोपियों से छेड़छाड़ और उससे जनमी उनकी भीति का जो चित्रण करते भक्त कवि अघाते नहीं, उनमें उस समय के सामन्त प्रभुओं (या आज के सत्तासीन/प्रभावशाली मर्दों) द्वारा आम वर्ग की लड़कियों/स्त्रियों की उस विषम स्थिति की छाया है, जो बत्तीस दाँतों के बीच जीभ की तरह दबी-सहमी जीती रही हैं। पुरुष-भक्तों ने यौनाक्रमण की उन घटनाओं को रस ले-ले कर, दैवी आभा से मण्डित कर, उस घिनौने अपराध को प्रभु मर्दों का सहज अधिकार ठहरा दिया है; जिसे आज के प्राइमरी स्कूल का बच्चा भी सहजता से समझ लेता है कि यह जेल जाने लायक काम है। गोपियाँ दूध-दही बेचने निकलीं और कृष्ण उनका रास्ता रोककर, उन्हें दैहिक समर्पण को मजबूर करने लगा। रोज उनसे दूध-दही छीन लेने वाले कान्हा की हरकतें इस हद तक बढ़ गयींयह देखकर गोपियाँ सकते में आ गयीं। [91.1] कान्हा बोला''आज मैं तुम से जोबन-दान लिए बिना नहीं छोड़ूँगा। तुम इसी जोबन के बल पर किसी को कुछ नहीं समझतीं।....तुम ऐसा बड़ा धन लिए घूम रही हो....तुम्हारे ये स्वर्ण-कुम्भ जैसे उरोज तो अमृत-रस से पूर्णतया भरे हैं। मुझको भी इनका स्वाद चखाओ। मुझे दूध-दही से कोई मतलब नहीं। तुम अपना जोबन और रूप छिपाए चली जा रही हो, उसे देने का नाम नहीं ले रही हो। सुन लो, बिना दान दिए तुम जाने नहीं पाओगी।''[91.2] जीविकोपार्जन हेतु बाहर निकली निम्न वर्ग की स्त्री/स्त्रियों को बिगड़े बापों के बिगड़े बेटों-रईसजादों (भले वे कान्हा की तरह 10 बरस के ही हों) द्वारा इस तरह की लम्पट छेड़छाड़ या यौन-आक्रमण से अक्सर दो-चार होना पड़ता है। इस वर्णन में वैसी ही अभिशप्त स्त्रियों की पीड़ा देखी जा सकती है, पर इनमें सूरदास प्रभु की लीला (दान-लीला हो या चीरहरण-लीला[91.3]) दिखा कर हमें मगन कर रहे हैं, उनके अनुसार जो कृष्ण गोपियों की इच्छा पूरी करने, उन्हें आनन्द देने के लिए ही करते हैं। समाज में आये दिन स्त्रियों पर हो रहे ऐसे अत्याचारों/यौन हिंसा में, हमें पीड़िताओं की बदहाली नहीं दिखती, चीत्कार नहीं सुनाई पड़ती, उलटे उन्हें मज़े आते दिखाई दे जाते हैं। हमारी संवेदन-क्षमता को कुन्द करते, इस दृष्टि-दोष को चेतना का स्थायी स्वभाव सा बना देने में भक्तिकालीन ऐसे चित्रणों का क्या कम योगदान है? वैष्णव धारा में राधा व गोपियों के प्रेम-प्रसंग में परकीया भाव के सरस महिमामण्डन[92] ने दमघोंटू विवाह-व्यवस्था से स्त्री की मुक्ति के धरातल का जहाँ संकेत किया है, वहीं वह अपने काल में विधवा सहित ढेर सारी स्त्रियों के देवदासित्व, यानी उन पर

मठाधीशों के दैवीय यौन-अधिकार को भी नैतिक समर्थन देने लगता है। उस प्रवृत्ति ने तो रीतिकाल में खुलकर नंगा नाच करायासामन्तों व दरबारियों के लिए घर-घर की स्त्री को काव्य-स्तर पर (नायिका) उपलब्ध करा के। कृष्णभक्त कवियों के हाथों बहुधा ऐसा हो गया है, जिसमें रीतिकाल के बीज छिपे थे। भक्तिकालीन काव्यों (सूफ़ीकाव्य, कृष्णकाव्य) में जो मर्दाना भोगवाद परिधि पर था (केन्द्र में थी भक्ति/अध्यात्म), वह रीतिकाल में उलटकर केन्द्र में जा पहुँचा और भक्ति परिधि पर जाकर बन गयी 'राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहाना'।[93] अर्थात्, साधना की धूप में जो अंगूर (भोग-विलास) सुखा कर किशमिश (भक्ति भाव) बनाया गया था, वक्त की बरसात से पुनः वह अंगूर बन कर खिल उठा, बल्कि द्राक्षासव (अंगूरी शराब) बन बैठा। स्त्री का जो बचा-खुचा व्यक्तित्व था, उसे रीतिकाल ने 'नायिका' के रूप में ढाल कर कविता के बीयर-बार में खड़ा कर, उसे शराब परोसते रहने के काम में लगा दिया, ताकि एक पुरुषवादी मस्तानापन (ऊमर ख़ैयाम?) का आलम बदले हुए रूप में पुनर्जीवन्त हो उठे! नारी का पुरुष-कामुकता के मंच पर जो बहुकोणीय शोषण-दलन (चाहे वास्तविक हो या प्रतीकात्मक) होने लगा, तो उसे सम्भूत किया या कम से कम दीर्घकालिक स्थिरता प्रदान की उक्त पूर्ववर्त्ती काव्यों ने ही। केवल नायिका का नख-शिखानुवाद या तो मॉडलिंग होता है या पोर्नोग्राफी। सौन्दर्यांकन वह तभी हो सकता है, जब साथ में और समान वज़न पर नायक के लिए भी वह हो, जैसा कि तुलसीदास में है। इस गुण के बावजूद, तुलसी-काव्य विशुद्ध शृंगार या काम के दमन या विलोप पर ही खड़ा है, क्योंकि सीता-राम के देवत्व की बार-बार दुहाई से किसी लौकिक अनुभूति की सम्भावना ही कुचली जाती है। उस पर भी वर्णवादी और ज़ेण्डरवादी पूर्वग्रहों और उपदेशात्मकता से कथा और चरित्र भी भारित हैं।

## तुलसीदास : नारी सकल कपट अघ अवगुन खानी

पुरुष और स्त्री के बीच विसंगत मूल्यों की रचना में अहम भूमिका निभानेवाले, हिन्दी के सुपरहिट कवि तुलसीदास के सुपरहिट काव्य 'रामचरितमानस' की नारी-कथा हरिकथा की तरह अनन्त है। 'तीय अधर बुधि', 'सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारि', 'नारी सुभाउ सत्य सब कहहीं, अवगुन आठ सदा उर रहहीं' आदि वचनों से उनका मानस लोडेड है। फिर, इस पर भी उन्हें संतोष न हुआ तो '....नारी सकल ताड़ना के अधिकारी' का मार्शल लॉ उन्होंने जारी कर दिया है। यह ठीक है कि सीता-निर्वासन से वे असहमत हैं जिससे मानस में वह प्रसंग ही न रखा और सीता की अग्निपरीक्षा का तात्त्विक परिष्कार भी किया तथा सती-प्रथा, यानी औरत को मार (ही) डालने तक भी वे न पहुँचे हैं, पर उन्होंने जो मूल्य-व्यवस्था खड़ी की है, वह औरतों का जीना मुहाल किए हुई है। नारी-पीड़ा के मूल (पराधीनता) की समझ उन्हें हैऐसा कहा जाता है।[94] यदि ऐसा है या जुबान-मात्र से वे एक बार भी ऐसा कर रहे हों, तो भी



बड़ी बात है! (कबीर आदि तो भूल कर भी स्त्री-समस्या पर कुछ सोच या कुछ कह न सके हैं। हाँ, जायसी ने कहा है और तुलसी से ज्यादा विस्तार से कहा है। 'पद्मावत' के 'मानसरोदक खण्ड' व 'रतनसेन-बिदाई खण्ड' में वे विवाह-व्यवस्था में स्त्री के पराधीन होने का दर्द गहराई से महसूसते हैं।) किन्तु, इस जुबानी सहानुभूति को परे हटाकर उनके 'मानस' का अवगाहन करें तो स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री को कसने के लिए भारी-भरकम लौह-शृंखला और उसे बन्दिनी बनाने के लिए काल-कोठरी तैयार करने में उन्होंने खूब दिमाग लगाया है। यद्यपि इस में कोई शक नहीं कि तुलसी की काव्य-प्रतिभा अपूर्व हैभाषा पर उनका असाधारण अधिकार है तथा गहन चिन्तन के साथ रचनाकार के लिए जरूरी व्यापक लोकानुभव व गहरी सहृदयता भी उनमें है, जिससे मानवीय संबंधों की मार्मिक व अचूक समझ है। विवाहपूर्व सीता-राम को फुलवारी में मिलाने का नया प्रसंग रचकर, वे प्रेम की नयी नैतिकता भी रचने लगे थे। (काश! इसे आगे बढ़ाते।) कुछ लोग यह वितर्क कर सकते हैं कि रामकथा के सती-प्रसंगों को अपनी कृति में स्थान न देना 'स्त्री अवध्य है' की शास्त्रीयता से उनके कायल होने भर का परिणाम है, कोई संवेदनशीलता नहीं। पर, सीता-निर्वासनादि अन्याय प्रसंगों के साथ उनके रवैये से उनका वितर्क असिद्ध ही होता है। 'कवितावली' के आधार पर हम कह सकते हैं कि अपने समय के दैन्य, आर्थिक वैषम्य व अराजकता को सीधे-सीधे कहने में तत्कालीन किसी कवि से वे आगे हैं। 'विनयपत्रिका' का निश्छल आत्मधिक्कार/आत्ममंथन और 'कवितावली' में व्यक्त उनका जीवन-संघर्ष (यहाँ तक कि वर्णवादी दुराग्रहों से स्वयं को मिल रही पीड़ा) उनकी मर्मभेदी समझ के प्रमाण हैं। तथापि, तुलसी के संवेदनशील कवि-मन को जड़शास्त्राग्रह (जो अनिवार्य रूप से पितृसत्तात्मक-वर्णवादी था) ने इस कदर जकड़ रखा था कि उनका महत्तम कृतित्व उससे भी अधिक व्यवस्थापोषक बनकर उभरा, जो सूफी-काव्य द्वारा पहले ही संभव हुआ था। उनका मर्यादावाद 'विषमता पर आधारित जड़ समाज-व्यवस्था' में कोई मानवीय परिवर्तन या लोकतांत्रिक रुझान न पैदा होने देने का दुराग्रह है। इसका खामियाजा जन्म के आधार पर अकारण दण्डित हर वंचित समूह को भोगना पड़ा है, जिसमें सर्वहारा नारी सर्वाधिक कुचली गयी है। तत्कालीन नारियों की विवशता, दमन, हिंसा, परजीविता, हत्या और हर प्रकार से उनका बंदिनी होना उनके कवि को विचलित न कर सका है; सिर्फ एक जगह मामूली से विचलन को छोड़कर (जो उपर्युक्त है)।

तुलसी का प्रतिपक्ष इस्लाम उतना नहीं है, जितना ब्राह्मणवादी-पितृसत्तात्मक मूल्यों को मानने से इनकार करने वाली नवोदित ताकतेंशूद्र व स्त्री (चाहे वे हिन्दू में हों या इस्लाम में)। इनके जागरण, अधिकार-प्राप्ति और उसके परिणामस्वरूप परम्परागत संरचना में हलचल मचने को, उनका पुराणपोषित विचारक 'कलियुग' के रूपक में ढालता है।[95] उस कलियुग का सबसे प्रमुख लक्षण उनकी दृष्टि में पितृसत्ता

के मानकों का तार-तार होना है। जैसे-विवाह में अभिभावकों या परम्परा की अनदेखी करते हुए परस्पर आकर्षण या अपनी रजामन्दी से विवाह, नारियों में काम-सुख का बढ़ता महत्त्व, पति-पत्नी के श्रेणीकृत आपसी व्यवहार को बनाए रखने वाले नियमों की अवहेलना, थोपे गये विवाह से इनकार करते हुए (विशेषकर नारी) का विवाहेतर संबंध बनाना, संपत्तिहीनता व असुख की स्थिति में पत्नी द्वारा पति का त्याग, पुरुष का स्त्री के मनोनुकूल होना आदि। इसके साथ, स्त्री के व्यक्तित्व को सर्वाधिक विलीन करने वाले संयुक्त परिवार की अवधारणा का विखण्डन भी कलियुग का प्रमुख लक्षण है। इन स्थितियों की खीझ 'मानस' के उत्तरकाण्ड में खूब व्यक्त हुई है।[96] 'कलियुग' से समाज को बचाए रखने के लिए तुलसी ने जोरदार ढंग से दलित (विशेषतः नारी)-विरोधी एक मॉडल पेश किया है, जो इन समूहों के किसी प्रकार से सशक्तीकरण की सम्भावना ही समाप्त कर डालता है। नारी-सशक्तीकरण का इतना प्रबल व व्यवस्थित विरोधी कवि खोजना मुश्किल है। वे कहते हैं कि अबला नारी को बलवती बनाने से वह आग के समान भयंकर, समुद्र के समान प्रचण्ड और काल के समान दुर्निवार हो जाती है।[97] नारी स्वतंत्र हुई कि उस का बिगड़ना शुरु।[98] इसलिए, स्त्री को पुरुष-निर्भर बनाना जरूरी है और बनाने के लिए ऐसा बताना जरूरी है[99] कि जिस तरह प्राण के बिना देह की स्थिति होती है, उसी तरह पुरुष के बिना नारी की। ऐसा देखने वाले तुलसी यह क्यों न देख पाये कि इसका उलटा ही इतिहास में अधिक घटित हुआ है(नारी-) संग पाने की विकलता या छटपटाहट पुरुष की ही ज्यादा दिखाई देती है, तभी तो लूट, अपहरण, वेश्या-गमन या विवाह द्वारा उसे पाने को वह सदा बेताब रहा है। विवाह के लिए बेचैनी लड़कों की अधिक होती है कि लड़कियों की?इस सवाल के स्पष्ट उत्तर में किसी को सन्देह हो तो उसे यह सोचना चाहिए कि लड़कों को विवाह से बिना कुछ खोए बहुत कुछ मिलता है, पर लड़कियों को क्या मिलता है? उनका मूलस्थान, कैरियर, व्यक्तित्व, चाह, अपनी देह पर अधिकार, यहाँ तक कि नाम भी छीनकर विवाह' कर्त्तव्यों व नियमों का पहाड़ उनके सिर पर लाद देता है। तब, कौन सी लड़की है जो यह सब जानते-समझते इस झंझट में पड़ने (पति पाने) में जल्दीबाजी करेगी? समाज का आम सत्य भी नज़रअंदाज कर तुलसी मनुवादी शास्त्रों की गिरफ्त में आकर कहते हैं कि स्त्री वासना में इतनी अन्धी रहती है कि भाई, बाप, बेटा कुछ भी नहीं देखती। बस सुंदर पुरुष देखा कि उसकी लार टपकी। देखते ही वह उसी तरह पसीजती है जैसे सूरज के सामने पड़ते ही रविमणि।[100]

पितृसत्ता के मानकों के टूटने से समाज का ज़ेण्डरगत सत्ता-समीकरण (पुरुष शासक, नारी शासित) टूट न जाएइसी चिंता में पड़ कर तुलसी ने भी 'पातिव्रत्य' की धूमधाम से स्थापना की है। अपने व्यक्तित्व के लिए कोशिश करती (चाहे वह शिक्षा, अध्यात्म/भक्ति, सामाजिक पहचान, सुख या यौनिकता किसी क्षेत्र में हो) स्त्री उन्हें सहज अपावन दिखती हैउसकी सहज मानवीय प्रवृत्तियाँ/कामनाएँ पापमय



नारी-स्वभाव या तिरिया-चरित्तर दिखती हैं; तो कारण 'सत्ता' बचाने की उनकी कट्टर चिन्ता है। इसी के तहत यह विधान किया गया है कि पितृसत्ता के आगे समर्पण मात्र यानी पातिव्रत्य अपना लेने भर से नारी कृतार्थ हो जाती है, मुक्त हो जाती है, उसके पाप कट जाते हैं। अनुसूया के सारे उपदेशों का सार है'सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।'[101] वह कहती हैं'स्त्री को एक ही व्रत या नियम उचित है, वह देह-मन-वचन से पति के चरणों में प्रेम करे।'[102] अब कोई यह पूछे कि यह कौन सा प्रेम है, जो पति के दिल से फिसल कर, उसके पैर पर आ गिरा है? पति के दिल में बैठने की तमन्ना को उसके चरणों पर लोटने की ख्वाहिश में बदल कर, किसी 'प्रेम'/'अनुराग' का विधान नहीं किया गया है; बल्कि दासप्रथा कायम की गयी है। इस दासता को जबरदस्ती लागू करने के लिए यहाँ तक कहा गया कि पति के प्रतिकूल होने का दण्ड स्त्री को नरक जाकर भोगना पड़ेगा, चाहे पति बूढ़ा, रोगी, मूढ़, क्रोधी, अन्धा, बहरा, दीन-दरिद्र कैसा भी हो।[103] प्रतिकूलता के पाप से उसे अगले जन्म में विधवा भी बनना पड़ता है।[104] किसी पर सत्ता स्थापित करने के लिए प्रलोभन व भयदोनों हथियारों से काम लेना पड़ता है; सो तुलसी ने भी वैसा ही किया है। नारी को पुरुष-सत्ता के अधीन लाने के लिए उस के विवाह को अनिवार्य बनाना पड़ता है, तदुपरान्त पति और पति के घर (ससुराल) की अधीनता में उसे बनाए रखने का पुख्ता इंतजाम करना पड़ता है। तुलसी ने वही तो किया है। ससुराल जाती बेटी (सीता) को सुनयना ही नहीं, बल्कि अपनी सखी (सीता) को सखियाँ तक उसी अधीनता का पाठ, नारी-धर्म की चाशनी में लपेट कर पढ़ाती हैं।[105] आश्चर्य है कि प्यारी सखी से चिर-वियोग हो रहा है और सखियों का ध्यान मीठे अहसास बाँटने का न रहे, बल्कि सिंधोरा के साथ सूखे शास्त्र-वचनों की पोटली उसे थमाएँ। पार्वती को भी ऐसे समय माँ से पति-पूजा की ही सीख मिली थी।[106] सुनयना दामाद से कह रही हैं, निहोरा कर रही हैं कि सीता को अपनी दासी मानना।[107] पति के साथ व पतिगृह में लड़की की कंडिशनिंग (अनुकूलन) की व्यवस्था, विदाई के समय माँ-बाप के उपदेश के रूप में भारतीय साहित्य में खूब मुखर हुई है। ससुराल जाती, कालिदास की शकुन्तला को भी कण्व मुनि वैसा ही उपदेश देते हैं।[108] वैसा ही उपदेश सूफी मंझन के 'मधुमालती' काव्य में विदा-बेला में बेटी (मधुमालती) को माँ देती है। सवाल उठता है कि माँ-बाप बेटियों को ऐसी व्यक्तित्व-मारक शिक्षा सिर्फ रूढ़ शास्त्रीयता या व्यवस्था के तहत मजबूर हो कर देते थे? लगता है, बात इतनी सी नहीं थी। स्त्री के लिए विषम समाज-संरचना में उन्हें लाड़ली बेटी के कल्याण की, जान की चिन्ता भी उन्हें यह कहने पर मजबूर कर देती थी कि पतिव्रता बनो! मधुमालती की माँ जब बेटी से कहती है कि 'पति की सेवा मन लगा कर करना, सारी रात उसके पैर दबाना, उससे बहुत मान करके न रहना, जिससे उसका मन तुझ से फिर जाए, सौत से मित्रता कर के रहना; सास के पैर धोना और गाली हँसते-हँसते सह जाना', तो स्पष्ट है कि

बहुविवाही लत के नशेड़ी सामन्ती पुरुष (पति) के अस्थिर चित्त से भय ही इन उपदेशों में ढला है। पति को सदा खुश रखना, सेवा (या रूप-जाल) से वश में किए रहना इसलिए जरूरी है, क्योंकि उस मतवाले हाथी या विषधर सर्प का क्या भरोसाकब छोड़ दे, उसे तोड़ दे या कब डँस ले! उसे अपने बराबर का इंसान नहीं बनाया जा सकता, इसलिए वशीभूत रखना ही एकमात्र उपाय हैऐसी ही सोच निहित होगी उन उपदेशों में। सौतों की आमद जब किसी ब्याहता के वश की चीज नहीं, तो बेहतर यही है कि उनसे दोस्ती कर ली जाए। आखिर भाग्य (?) में मिले नरक को गृह-कलह से और भी नरक बनाने से क्या मिलेगा? दोस्ती कर ली, तो दुःख भुलाने का वातावरण तो बन जाएगाआखिर उन सभी का दुख तो बराबर ही है, सभी दुख के नाते में बँधीं बहनें हैं, सभी पुरुष के अन्याय से समान रूप से पीड़ित। बहुविवाह के अन्याय की मारी स्त्रियाँ न कालिदास के लिए समस्या थीं, न मंझन आदि के लिए और न ही गोस्वामी तुलसीदास के लिए ही। यह सही है कि बाप (दशरथ) के बहु-विवाह (जो अनमेल भी था) पर किसी सवाल से सर्वथा रिक्त रह कर भी तुलसी के राम विवाह-व्यवस्था में स्त्री को कम से कम 'इंसान' मानते हैं, जिससे पूरे आग्रह व प्रयत्न से वे जीवन भर एकविवाही रहे, न कि बाप की तरह औरतों का मुर्गीखाना खोला; पर लक्ष्मण-शोक में विलाप करते उन्हीं राम के मुख से 'पुरुष के बहुविवाह और विवाह-संस्था में नारी की अपदार्थ स्थिति' सहजसिद्ध सत्य के रूप में निकलती है'सन्तान, धन, भवन, परिवार और पत्नीये सब संसार में बार-बार मिलते हैं, पर सहोदर भाई नहीं मिलता। अब मैं किस मुँह से अवध जाऊँगा, जो पत्नी के लिए भाई को खो दिया। पत्नी का चला जाना कोई बड़ी क्षति नहीं था।'[109]

तुलसीदास नारी के अस्तित्व और कामना का विस्तार उस पर थोपे गये पातिव्रत्य व मातृत्व से परे होने ही नहीं देते, क्योंकि इस में नारी के स्वतंत्र हो जाने का खतरा है और ऐसा खतरा कौन मर्द उठाना चाहेगा? उस युग का आम सच था कि नारी को शिक्षा की सुविधा नहीं थी, पर उस स्थितिजन्य सच को तुलसी ने शाश्वत सत्य सा ग्रहण करके उसे काम्य आदर्श बना डाला कि 'नारी को पढ़ने लिखने से क्या काम? पातिव्रत्य व मातृत्व ही काफी हैं'। वे स्त्री की युगीन स्थिति को पार्वती के अंदर सहजबोध सा बैठा देते हैं कि यद्यपि नारी होने के कारण अध्यात्म के गूढ़ सिद्धान्तों पर सम्भाषण करने का अधिकार मुझे नहीं है; किंतु मन-क्रम-वचन से पति-चरण-रत होने के कारण मैं इसकी पात्र बन सकती हूँ।[110] मंथरा के सिखाने पर वशीभूत हो गयी कैकेयी के प्रसंग में तुलसी पुनः कहते हैं कि स्त्रियों की बुद्धि होंठों में होती है,[111] यानी वे सोच-समझ नहीं पातीं, जल्दी बहक जाती हैं। एक तरफ ये सब प्रतिपादन, दूसरी तरफ यह कहना कि स्त्री बहुत कपटी, मायाविनी होती है! क्या बुद्धिहीनता में कपट या धूर्त्तता संभव है? रावण मंदोदरी को डाँटते हुए उसे यह नीतिवचन पिलाता है कि नारी में आठ जन्मजात दोष हैंसाहस, झूठ, चपलता, माया, भय, अविवेक,



अपवित्रता एवं निष्ठुरता।[112] क्या भय और साहस की स्थिति एक साथ संभव है? संशय यानी परंपरागत/प्रचलित ज्ञान पर शंका खड़ी करना बौद्धिक होने का प्रमाण है, पर तुलसी उसे 'स्त्री-स्वभाव' या नारी की सहज जड़ता-अज्ञता ठहराकर उसके ज्ञानार्जन की प्रक्रिया पर ही कुठाराघात कर देते हैं।[113] सती की ब्रह्मतत्त्व पर शंका के दौरान ऐसा हुआ है। फिर, सती जब सीता का रूप धारण कर राम के ब्रह्मत्व की परीक्षा लेने जाती हैंतो तुलसी ने इसे दोष के रूप में व्याख्यायित किया और यहाँ तक कह डाला कि अपने आप को छिपाना स्त्रियों का स्वभाव ही है।[114] उक्त दोष (यदि दोष ही हैं तो) क्या नारी के जीन (वंशाणु) में घुले हैं, क्या ये पुरुषों में नहीं होते? पर, तुलसी तो स्त्री के पीछे हाथ धोकर पड़ गये हैं। कोई नारी कुछ व्यक्तिगत स्तर पर कमी रखती है, तो उसे नारी जाति की ही सहज/प्रकृति-सिद्ध कमी के रूप में स्थापित कर देना, पर कोई नारी यदि व्यक्तिगत स्तर पर गुण-विशेष रखती है, तो उसे नारी जाति का सहजात गुण मानने से इनकार करना तुलसी की ज़ेण्डरवादी राजनीति का हिस्सा है। उन्हें बचाने की मशक्कत करते हुए आलोचक जब यह कहते हैं कि तुलसी ने पुरुषों को भी कहाँ छोड़ा है? 'ढोल-गँवार शूद्र-पशु नारी' में पुरुष ('गँवार', 'शूद्र') भी तो आ रहा है? तब इस तर्काभास पर सिर पीट लेने का मन करता है। क्या कभी ऐसा हुआ कि तुलसी ने 'पुरुष जाति' की कभी निंदा की है? क्या किसी पुरुष ने मूर्खता, चंचलता, निष्ठुरता या लोलुपता का परिचय नहीं दिया? क्या धर्म-विरोधी आचरण न किया? क्या उसमें स्खलन, कर्त्तव्यहीनता या कुमार्गगामिता न आयी है? पर तुलसी ने कभी ऐसा धिक्कार पेश न किया कि 'पुरुष जाति ही अमुक-अमुक तरह की है'। उन्होंने उनके वे दोष व्यक्तिगत माने। परंतु नारी कुछ करे या न करे, सहज ढंग से ही रहे, तो भी उनका मन खलबलाता रहता है कि उसे शर्मिन्दा करने की, हीन ठहराने की कैसे या कैसी जुगत भिड़ाऊँ? चाहे पार्वती-सीता हों, चाहे शूर्पणखासभी उनके लिए औरत होने से बराबर हैं। यदि वे किन्हीं नारियों की प्रशंसा में हैं, तो वह उनकी व्यक्तिगत उपलब्धि की प्रशंसा मात्र है। व्यक्तिगत उपलब्धि भी सिर्फ यही कि उनके द्वारा आदर्श नारी के बनाये मॉडल या पितृसत्तात्मक फ्रेम में वे सेट कर रही हैं। पार्वती, कौशल्या, सीता, अनसूया, मन्दोदरी आदि इसीलिए प्रशंस्य हैं। प्रशंस्य हैं वे इस मॉडल को अपना लेने से या उनके आराध्य राम के काज से संबद्ध हो जाने से। जहाँ भी स्त्री से इस फ्रेम (लक्ष्मण-रेखा) का थोड़ा सा भी अतिक्रमण हुआ, तुलसी के यहाँ माफी नहीं। इस अपराध (?) के लिए वे सीता तक को बख्शने के लिए तैयार नहीं हैं। तभी तो सीता-हरण के बाद व्यथित, वन-वन डोलते राम के मुंह से शास्त्र की यह बात निकल पड़ती है कि स्त्री को चाहे हृदय से लगाकर रख लो, तो भी वह वश में नहीं रहती।[115] सीता वश में न रहीं, इसी से संकट में पड़ गयीं! क्या ही घातक विश्लेषण है राम का और उस पर भी आश्चर्य कि शोकाकुल राम को उक्त शास्त्र उलटने की फुरसत भी मिल गयी। आज भी घर से

बाहर निकलकर व्यक्तित्व या सशक्तीकरण के संघर्ष में शरीक हुईं नारियों को बहुविध संकटों की तस्वीर दिखाकर जब 'वश' (घर) में रहने की हिदायत समाज या (कभी) सरकार/न्यायालय भी देती है, तो लगता है तुलसीदास प्रासंगिक हो उठे हैं। नारी वश में नहीं रह पाती, तो क्या पुरुष वश में रह पाता है? ऐसी वशता की जरूरत ही क्या है जो परवशता तक पहुँचा दे? ऐसे ही कुछ उदाहरणों का खंडित विश्लेषण और सरलीकरण करते हुए तुलसी जैसों ने 'नारि-सुभाउ' या 'तिरिया चरित्तर' का मिथक खड़ा कर रखा है। उसे भरोसे के काबिल नहीं (अविश्वसनीय), अबूझ, रहस्यमय आदि रूपों में खूब बखाना गया है। अयोध्यावासी कैकेयी के बहाने कह रहे हैं किनारी-स्वभाव (का कपट) अगम-अथाह होता है। कोई अपनी परछाँई को भले ही पकड़ ले, पर स्त्री की चाल नहीं जान सकता।[116] दशरथ राजनीति में दक्ष होकर भी नारी-स्वभाव रूपी समुद्र से छले गये।[117] स्त्री के हृदय की गति को विधाता भी नहीं जान सकता, नारी हृदय सभी तरह के कपट, पाप और अवगुणों की खान हैयह कहना है भरत का।[118]

जब इतना कुछ स्टॉक तुलसी के पास है, तो नारी के कामिनीपनपुरुष को वासना में धकेलने एवं साधना से विचलित करने की उसकी क्षमता की कथाएँ कैसे न होंगी? स्वयं राम का कथन है कि नारी कामदेव का बल है,[119] अति दुखद माया-रूपिणी है।[120] तुलसी कहते हैंउसका शरीर दीपशिखा की तरह है जो पुरुष-मन को फतिंगे सा जला डालती है।[121] नारदमुनि को उपदेश करते राम ने मानो तुलसी के बैंक की मुख्य तिजोरी ही खोल दी है। कुपित ब्रह्मचर्य-वादियों के कानों में अद्‌भुत, षड्‌ऋतुओं का काव्यामृत घोल रहे प्रभु का वचन हैंहे मुनि! सुनो, पुराण-वेद और सन्त कहते हैं कि मोहरूपी वन में नारी वसन्त ऋतु है। वही ग्रीष्म बनकर जप-तप-नियम आदि सब जलाशयों को सुखा देती है। वही वर्षाऋतु होकर काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि मेढ़कों के लिए सुखदायी हो जाती है और दुर्वासना रूपी कुमुदिनियों के समूह को सदा सुख देने वाली शरद् ऋतु वही (स्त्री) बन जाती है। वही हेमन्तरूपिणी होकर समस्त धर्म रूपी कमलों पर पाला गिरा देती है। फिर शिशिर ऋतु बनकर ममता-रूपी जवासे को खूब हरा-भरा कर देती है। स्त्री घोर अंधेरी रात है, जो पापरूपी उल्लुओं के लिए सुखदायी है। वह बुद्धि-बल-शील-सत्य रूपी मछलियों के लिए बंसी हैं।[122] इतने सारगर्भ प्रवचन का सारांश राम यों बतलाते हैं'इस तरह स्त्रियाँ अवगुणों की जड़, पीड़ा देने वाली और समस्त दुःखों की खान हैं। यही सब समझकर मैंने तुम्हें ब्याह नहीं करने दिया।'[123] इस पर यदि पलटकर नारद मुनि पूछ बैठते कि 'महाराज! तो आपने क्यों किया? किया सो किया; अब यदि वह बाधा रावण हर ले गया है, तो आप वन-वन क्यों डोल रहे हैं बेचैन?' तब राम ईमानदार होते, तो मुँह लटक जाता है। पर, तुलसीदास अपने भगवान् को बचाने पहुँच जाते, कहते'यह तो नर-लीला मात्र है।' सवाल है, भगवान् की यह कैसी लीला है जो भक्त के लिए अनुकरण का



आदर्श न बने? पर, इस सवाल से तुलसी का क्या वास्ता? वे तो साबित करने पर तुले हुए हैं कि पुरुष के लिए नारी दुश्मन से भी बढ़कर है। सिद्धि के लिए जो तर्क पेश करते हैं, वह अद्वितीय है'जन्म-कुण्डली में नारी (जाया) की जगह दारुण वैरी (शत्रु) और मृत्यु के बीच में पड़ती है।'[124] कहना पड़ता है 'वाह!' पुरुषों के लिए पुरुषों द्वारा बनाये 'जन्मांक-चक्र' में नारी को जो जगह धरा दी, उसी पर विवश बैठी नारी को ही प्रमाण मान कर बाकी सारे विश्लेषण खड़े कर लिये कि 'नारी फलाँ-फलाँ तरह की होती है।' क्या नारी-विरोधी तमाम वादों की असलियत का पर्दाफाश उक्त प्रमाण-पद्धति से नहीं हो जाता? पहले नारी को हीनता, अशिक्षा, अशक्ति, वासना, परजीविता आदि नानाविध नालियों में धकेल दो, फिर बाद में कहो कि नारी गन्दी होती है, मूढ़ अबला, परजीवी, वासनामय, हीन आदि होती है। यदि जन्मांक-चक्र किसी नारी का हो, तो भी 'शत्रु' व 'मृत्यु' नामक घरों के बीच नारी ही बैठेगी? तुलसी को यह क्यों नहीं सूझ सका? सूझता भी कैसे, नारी-प्रति आकर्षण का निरंतर किया जा रहा दमन उनकी आँखों पर नारी-निन्दा का मोतियाबिन्द बनकर छा गया था।

नारी-संबंधी अपने विशिष्ट साँचे के तुलसी इतने कायल हैं कि उसी में अँटाने का प्रयास करते-करते, सीता की इन्सानियत को या तो आदर्श के पत्थरों से कुचल दिया अथवा उन्हें लगभग व्यक्तित्वहीन, कमजोर, नाजुक और हर जगह पति की दुहाई देने वाली गूंगी गुड़िया-सी बना दिया। आदर्श पत्नी, आदर्श कुलवधू, आदर्श बेटी होते-होते वे सामान्य इन्सान भी न रह गयीं। वे यदि 'चरित्र कम, प्रतीक ज्यादा' नजर आती हैंतो यही कारण है। 'पातिव्रत्य' का बुल्डोजर पूरे मानस में इस कदर चला है कि दुनिया की सारी नारियाँ उससे प्रभावित हुई हैं, तभी तो तुलसी ने स्त्रियों के वर्गीकरण का आधार भी उसी को बना डाला। उसके अनुसार चार-पाँच नारी-वर्ग किये गये हैं। उत्तम नारी वह है, जो सपने में भी परपुरुष को नहीं देखती। मध्यम स्त्री परपुरुष को पिता-भाई-बेटा आदि रूपों में देखतीउनसे भी संबंध रखती है। जो नारी धर्म, कुल रीति को समझकर पति के साथ रह जाए वह निकृष्ट है और जो डर या विकल्पहीनता के कारण पति संग रहे, वह अधम नारी है। इन चार कोटियों से बाहर, यानी पति से छल कर परपुरुष से प्रेम करने वाली स्त्री सौ कल्प-पर्यन्त रौरव नरक भोगती है।[125] एक स्त्री को त्याग कर दूसरी के साथ मौज उड़ाने वाले पुरुष को भी ऐसा ही दण्ड तुलसी ने कभी दिया है? बहुत हुआ तो निन्दा भर कर दी। फिर, पुरुष-विशेषों की वासना-लोलुपता, छिछोरापन, बहुस्त्री-भोगी/बहुविवाही वृत्ति (दशरथ) को वे अनदेखा तक करते रहे, क्या इसलिए कि वे उनके मालिक (राम) के सम्बन्धी थे? बहुत हुआ तो केवल ऐसे टोन में उनके अपराध को लेते रहे'अच्छा नहीं किया'। 'अनुज-वधू, बहन, बेटी, पुत्रवधू पर कुदृष्टि रखने पर प्राणदंड की मूल्यव्यवस्था[126] क्या सिर्फ बाली को मारने के लिए बनायी गयी थी? उसका प्रयोग विभीषण व सुग्रीव पर क्यों न किया गया, जो भाई की वधू (क्रमशः मंदोदरी, तारा) का अधिग्रहण कर

चुके थे? क्या इसलिए कि भाई बड़ा था, जबकि शर्त्त छोटे भाई पर खड़ी है? या, इसलिए कि अधिग्रहण विवाह-संस्कार द्वारा हुआ था? (वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति?) जवाब साफ है'मालिक के पी.ए. को कौन दण्ड दे सकता है? 'दुहरे मानदण्ड का चलना राम-राज्य में ही तो होता है। पुरुष की भ्रमरवृत्ति को सहना, परंतु स्त्री के प्रेम या काम संबंधी चयन के जन्मजात अधिकार को कुचल कर रख देना! तुलसी ने स्वयं वरण की क्षमता के लिए शूर्पणखा को दण्डित कराया, पर सीता के तथाकथित स्वयंवर का समारोह आयोजित किया। वह भी क्या स्वयंवर था? कन्या की इच्छा जहाँ न चले, बल्कि बाप-भाई की मनमानी शर्तों पर उसे बलिदान होना पड़े! वह स्वयंवर अनमेल विवाह की अधिक सम्भावना वाला, कितना घिनौना था, जिसमें सीता का वैवाहिक उम्मीदवार हमउम्र राम ही नहीं, कई पीढ़ियों का वृद्ध रावण भी था। कपूर और कपास की इस समानता के दौरान कन्या की स्थिति कितनी विषम थी! फिर, वहाँ तुलसी ने लड़की को वस्तु बना कर दान करने की 'कन्या-दान' विधि का उत्सव भी खड़ा किया। सवाल है कि जहाँ स्वयंवर हो (चाहे वह कितने भी विकृत अर्थ में हो), वहाँ कन्यादान कैसा? क्या जड़-परम्परा की एक और कड़ी सा इसे जोड़ने का कवि-मोह है? इतना ही नहीं, प्रभूत मात्र में दहेज (वह भी रत्न-वस्त्र, रथ, हाथी-घोड़े से दास-दासियों तक के रूप में) भी दिया गया। ऐसे सजे-धजे पुनीत वर्णन भी तो भारतीय समाज से दहेज-प्रथा को मिटने नहीं दे रहे। 'पद्मावत' भी दहेज की चकाचौंध से वही भूमिका निभा रहा है। कन्यादान का पुण्य पाने की बेचैनी नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' में भी दिखती है'आतमजा जो होत एक होत सदन उँजियार। कन्यादान दिहें ते होतै मुकुत हमार।'अपनी मुक्ति का स्वार्थी बाप कन्या को देह बना कर मर्द-विशेष के भोग/उपयोग के लिए दे देने का कर्मकाण्ड करना चाह रहा था, जिसे आज तक 'नो ऑब्जेक्शन' से बढ़कर 'रिकोमेण्डेशन' का सर्टिफिकेट दिया जाता रहा है!

तुलसी द्वारा पुरुषों के चार विभाग भी किये गये, पर वे उनके उपार्जित गुणों (दानवीरता, सत्यनिष्ठा, विद्वत्ता, त्याग, दया, संवेदना आदि) के सापेक्ष किये। किंतु, नारी के विभाग उसकी पुरुष-संबद्धता यानी 'पुरुष के प्रति उसके यौन-व्यवहार' के तरीकों भर के आधार पर किये। क्या स्त्री के शिक्षित-अशिक्षित, आत्मनिर्भर-परजीवी आदि होने की स्थितियों का कोई मूल्य नहीं? इन सबको न देख कर क्या एकमात्र यह देखना काफी है कि वह किसी मर्द-विशेष (मर्द मात्र) के साथ कहाँ, कब, किस तरह सोती है? सीता ही अग्निपरीक्षा देती रहेगी, राम की अग्निपरीक्षा भी क्यों न जरूरी हो? तुलसी की उक्त कोटियाँ चलें तो अधिकतर स्त्रियाँ आज चतुर्थ (अधम) कोटि में हैं, जो बस विकल्पहीनता में या समाज-भय से (आरोपित) पतियों को सह रही हैं। महादेवी वर्मा स्वतंत्र थीं, इसलिए बिगड़ी हुई थीं। पर, सच तो यह है कि बाबा तुलसी जिस प्रकार की मूल्य-व्यवस्था खड़ी कर रहे थे, उस में नारी साक्षर तक नहीं हो सकती



थी, महादेवी वर्मा क्या बनती? इसलिए, तुलसी-कृत उक्त चार-पाँच डब्बे प्रायः कायम रहते। सारी नारियाँ उन्हीं में अँटायी जा सकती थीं। पर, अहम सवाल है कि पति द्वारा त्याग दी गयीं स्त्रियाँ किस डिब्बे में अँटायी जातीं? यह तो स्पष्ट है कि आज ये डब्बे कितने अपर्याप्त हैंअविवाहित, विवाह से इनकार करने वालीं या सहजीवन (लिव इन रिलेशनशिप) में गयीं नारियाँ किस में अँटेंगी?

स्त्री-उन्मूलन हेतु किए गये तुलसी के इतने भारी-भरकम प्रोग्राम को आद्योपान्त अवलोकित कर के भी, हिन्दी-आलोचना और धर्म-बाज़ार के कई धुरन्धर मानने को तैयार नहीं कि उन्होंने आधी आबादी के साथ कोई अन्याय भी किया है। (बहुत बड़ा वर्ग तो ऐसा भी है, जो नारी के प्रति किये गये उन के दुहरे मानदण्ड की बात सच मानता है, पर इसमें उसे कोई समस्या जैसी चीज नहीं दिखती।) अपनी बात पास कराने के लिए वे तुलसी-कृत स्त्रीद्रोही लेखन को कहीं अनदेखा, कहीं अधदेखा करके तो कहीं अर्थांतर कर के काम चलाते हैं। इस के साथ विवादित अंशों को एकमुश्त क्षेपक करार देने की भी उनकी शैली या राजनीति रही है।[127] तुलसी-भक्त लीपापोती करने के लिए कहते हैं कि वे निन्दाकारक वचन कथाप्रसंग-गत होते हैं, अतः पूरे संदर्भ में उनका अर्थ वही नहीं होता जो लगाया जाता है। पर, हमें जानना चाहिए कि कई बार काकभुशुंडी, शिव, याज्ञवल्क्यइन वक्ताओं के मुख से खुद कवि बोल रहा होता है, न कि कोई कथापात्र। 'रविमणि की तरह नारी के वासना-द्रवित' होने का नीतिवचन काकभुशुण्डी द्वारा शूर्पणखा को लक्ष्य कर गरुड़ से कहा गया है। 'प्रसंगगत' वाला तर्क 'मानस' में किसी तरह चल भी जाए, पर 'दोहावली' में आये नारी-निन्दा के दोहों की जिम्मेदारी से तुलसी को कैसे बचाया जा सकता है? 'दोहावली' तो किसी कथा-प्रसंग से रहित, प्रकीर्ण नीतिवाक्यों के संग्रह के तौर पर, स्वयं उन्हीं के स्वर में प्रस्तुत की गयी है। यदि 'प्रसंगगत' का बहाना कर कटूक्तियों के अपराध से तुलसी को बरी किया जाता है, तो 'प्रसंगगत' का ही विचार कर कथित सदुक्तियों का श्रेय भी तुलसी को नहीं दिया जाना चाहिए। पर, उन्हीं कथित सदुक्तियों की बार-बार दुहाई देते तुलसी-प्रेमी थकते नहीं। तुलसी-रक्षक कई बार यह भी कहते हैं कि दुर्वचन कथा के खल पात्रों के होते हैं, अतः उन्हें प्रामाणिक मान कर नहीं चलना चाहिए। इस पर पहली बात यह समझ लेने की है कि रावण आदि ने ही नहीं, राम आदि ने भी खूब स्त्री-दूषण बखाने हैं। दूसरी बात, यदि खल पात्र के ही वे कथन हैं, तो भी उनका स्वर गाली-गलौज-नुमा नहीं, सिद्ध नीतिवचन-नुमा होता है। तुलसी के भक्त जो यह कहें कि 'तुलसी नारी-निन्दक होते तो सीता-कौशल्या आदि के प्रशंसक न होते', तो इसकी असलियत हम पहले ही जान चुके हैं। ऐसी प्रशंसा या स्त्री के गौरव का चरित्र अन्यत्र भी देखने को मिलता है। सामंती समाज में औरत की कथित सम्मान-रक्षा के लिए राज्य दाँव पर लग जाते थे। पद्मावती को अलाउद्दीन ने माँगा, तो वही तो हुआ। स्पष्ट होना चाहिए कि यह स्त्री के व्यक्तित्व का सम्मान नहीं, मर्दों की मूँछ का

मामला था, क्योंकि स्त्री को कब्जे में रखना पुरुषत्व की कसौटी थी। यह घटना, उस प्रकार की घटनाओं का दूसरा पहलू है, जिनमें किसी स्त्री (की देह) को पाने के लिए भी पूरा राज्य झोंक दिया जाता रहा। किसी सामन्त की ताकंत का अन्दाजा इस बात से लगाया जाता था कि वह कितनी स्त्रियों या जमीन को अपने अधीन रखकर भोग रहा है? औरत मर्द के भोग का साधन या इज्जत का जरिया थी, व्यक्ति नहींतब की बात नहीं, यह अब की भी बात है। इसीलिए, लड़की घर की शोभा मानी गयी और उसे पराये घर की शोभा बनाना कन्यादान का महापुण्य। 'तुलसी के युग में नारी की दशा पतनशील थी, अतः कवि द्वारा वह निन्दित हुई' या 'तुलसी नारी को युग, राष्ट्र, परिवार की उदात्त निर्माणकर्त्री के रूप में देखना चाहते थे, इसी से उसे अपने सुख हेतु सक्रिय होने पर उनका बौखलाना स्वाभाविक था' जैसे उनके भक्तों के तर्कों पर तो कुछ न ही कहा जाए, तो बेहतर है। अन्तिम बात, जो बार-बार दुहरायी जाती है, उसे भक्त इस प्रकार पेश करते हैं कि तुलसी की नारी-भर्त्सना वस्तुतः उनके अपने अतिशय अनुरक्त मन की आत्म-भर्त्सना समझनी चाहिए। यदि यह सच है तो कहना होगा कि उन्होंने अपनी कमजोरी को सीधे-सीधे (विनय-पत्रिका की तरह) निन्दित न कर, उसके लिए नारी-विरोधी भाषा क्यों रखी? (क्या शूद्र-विरोधी वचन भी आत्म-भर्त्सना के ही अंग हैं?) क्या उन्हें यह समझना नहीं चाहिए था कि उससे 'मानस' के उच्च काव्यत्व के कंचन-कलश में कितना ज़हर इकट्ठा हो जाएगा? विसंगत मूल्य-व्यवस्था का ज़हर!

इस प्रकार की मूल्य-संरचना में रूपायित तुलसी का 'मानस' विलक्षण लोकप्रियता को प्राप्त हैसमस्या यह या इतनी ही नहीं है; समस्या का विकराल पक्ष यह है कि उसकी लोकप्रियता का मूलाधार बहुआयामी-समर्थ साहित्यिकता या रामकथा की अपेक्षा उसमें पिरोयी या घोली गयी मूल्य-व्यवस्था है। वह मूल्य-व्यवस्था, जिसमें शूद्र और उससे सौ गुना अधिक नारी के इंसान बनने की किसी संभावना का गला घोंट दिया गया है। तुलसी या इलेक्ट्रॉनिक तुलसी रामानन्द सागर आखिर हिट होते हैं, तो उसी भारतीय मानसिकता के तहत, जिसमें पारिवारिक फ़िल्में या सिरियल हिट होते हैं। परिवारवाद की जयकार से गूँजते ऐसे कलालोक ही स्त्री को अशिक्षित, जुबान-वंचित, परजीवी, बीमार-घरेलू जनन-मशीन बनने और बिना वेतन के रसोई में खाना पकाने एवं पति के बिस्तर पर खाने की तरह पक जाने के लतखोर समर्पण का महान सांस्कृतिक मार्ग दिखाते हैंइन्हें सहते जाने की कायरता/चुप्पी को स्त्री का असली 'सौंदर्य' बताते हैं और सब मिलाकर 'घरेलू हिंसा से स्त्री की सुरक्षा के अधिनियम' (2005) को फालतू शब्दाडंबर में परिणत कर देते हैं।

## मीरा : तोड़ के बन्धन बाँधी पायल

भक्ति-आन्दोलन ने अपने विकास-क्रम में जब सगुण-सांस्थानिक रूप धर



लिया, उस काल में मीरा का उभार एक क्रान्तिकारी घटना है। मध्यकाल में स्त्री-रचनाकारों की व्यापक उपस्थिति थी, जो अधिकतर (पुरुषों की तरह) आचार्यों या मठों की परम्परा में दीक्षित न होकर, घरों या राजघरानों में सृजनरत थीं, जिनमें एक तरफ संस्कृत-फ़ारसी के माध्यम से काव्यरूढ़ि-मय लेखन के अभिजात चेहरे थे, तो दूसरी तरफ लोकभाषा में चारण-स्वर, रीति-सिद्धि, सन्त-ध्वनि के साथ लोकानुभव को काव्यबद्ध करने वाले आम चेहरे भी थे।[128] इनके अलावा, भारतीय लोक-साहित्य/लोकगीतों में बिखरीं, कई प्रकार के चरित्र रचने वाली नाम-अनाममय नारियाँ थीं, जो एक ओर परिवार, समाज व राजसत्ता से अपने स्तर पर लड़तींस्त्री की बहुविध गुलामी, अशिक्षा, बेमेल विवाह, प्रजनन/मातृत्व-बाध्यता, पति-विरहिता विधवा व प्रोषितपतिका, घरेलू हिंसा, कन्या-जन्म की विरोधी मानसिकता, कन्या-बलि, यौन-दलन व उस की संस्थागत क्रूरता यानी वेश्यावृत्ति, सती-प्रथा आदि से जुड़े दिल-दहलाऊ दस्तावेज की तरह थीं; तो दूसरी तरफ़ मात्र में पति-पत्नी के समतापूर्ण मधुर गृहस्थी के स्वरों से भी सनी थीं। परन्तु, तथाकथित मुख्य धारा के इतिहासकारों व साहित्यालोचकों की पुरुष-जमात ने उन की नोटिस तक न ली। यदि उन में अद्वितीय न होतीं, तो मीरा भी उसी तरह सूचना से परे रह जातीं। तथापि, कटु सत्य यह है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल उन को नोटिस मात्र सा ही उद्धृत कर सके। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' में 'भक्तिकाल के प्रमुख कवियों का व्यक्तित्व' अध्याय में सुन्दरदास, रज्जब तक को गिना, पर आश्चर्य है कि मीरा को भूल गये। अगली कृति 'हिन्दी-साहित्य का उद्‌भव और विकास' में जाकर उन्होंने अपनी भूल सुधारी। वैसे भी आम सच है कि मीरा का आज तक जो उल्लेख/चित्रण (साहित्य, सिनेमा या लोकश्रुति में) हुआ है, वह भक्ति की दुनिया में प्रेम-समर्पण व माधुर्य की तीव्रता की मिसाल के तौर पर ही हुआ है । इस तथ्य को अनजाने में या जान-बूझ कर छिपाया गया है कि मध्ययुगीन साहित्य में मीरा का जीवन और साहित्य नारी-विद्रोह का रचनात्मक आगाज़ है।[129] हिन्दी-साहित्य के हज़ार सालों के इतिहास में जिस तरह कबीर अकेले हैं, उसी तरह मीरा भी हैं।[130] बल्कि, स्त्री और साथ में राजघराने की स्त्री, फिर ऊपर से वधू होने के कारण उनकी साधना कबीर से भी कठिन है, अतः उनका विद्रोह कबीर से भी महँगा और कीमती है (जिस प्रकार तसलीमा का संघर्ष सलमान रुसदी के संघर्ष से कठिन और कीमती है)। एक साथ वे राजसत्ता, पितृसत्ता, सिसोदिया कुल की मर्यादा (कुलकानि) और सामन्ती समाज की रूढ़ियों (लोकलाज) से लड़ रही थीं;[131] जिनके बारे में यही कहा जा सकता है कि इनमें से कोई एक रहे, तो भी ग्रसने के लिए काफी है, जबकि मीरा के साथ तो चारों थे और वे चारों परस्पर अन्तःक्रियात्मक संयुक्ति के साथ भीषण रूप से ताकतवर होकर उनके जीवन को कठिन से कठिनतर बना रहे थे।[132] सामाजिक पितृसत्ता के साथ मीरा को 'संस्थागत धर्म' की पितृसत्ता से भी लोहा लेना पड़ा। इन में से किसी की परवाह उन्हों ने नहीं

की। सबको धता-बताकर अपनी शर्त्त पर ज़िन्दगी जीने का प्रचण्ड दुस्साहस करने वाली मीरा ने नारी-जीवन पर आरोपित सर्वग्रासी, सर्वाच्छादी संरचना 'पत्नीत्व' के विधि-निषेधों को पग-पग पर अस्वीकार किया था'विधवा' होने पर भी विधवा के झूठे सच के परखच्चे उड़ा दिये थे। कदाचित यह आधुनिक बोध मीरा को था कि कोई स्त्री विधवा होती नहीं, बनायी या बतायी जाती है। 'वैधव्य' एक काल्पनिक दुख है जो स्त्री पर थोप कर, उसे आजीवन दुखी रहने को धर्म ठहराया जाता है। इसके तहत सामाजिक व्यवहार, वस्त्र-विन्यास, यहाँ तक कि खान-पान तक में उसे शोक-सूचक स्थितियों में पड़ी रहने को बाध्य किया जाता है। उससे अपेक्षा की जाती है कि अपनी ज़िन्दगी को पाप का फल समझते हुए, उसकी लाश को आमरण घसीटती रहे। वैधव्य के पीछे है 'विवाह' की पितृसत्तात्मक धारणा तथा 'विवाह' के सन्दर्भ में स्त्री के मानवाधिकार'विवाह करें या न करें अथवा किस से करेंइसकी स्वतन्त्रता' को कुचलते रहने की परम्परा। मीरा ने ऐसे विवाह को खारिज कर दिया था। उस युग में पति के मरने पर रूपकुँवर बनायी जाने वाली स्त्रियाँ कितनी थीं, उनके उत्प्रेरक रूप में 'जनसत्ता'[133] जैसे ज्ञानी अखबारों के पूर्वज भी ढेर सारे होंगे, पर 'रूपकुँवर बनने' से इनकार करने वाली मीरा तो एक ही थीं। वह भी कहीं छुपकर नहीं, बल्कि खुले मैदान में ताल ठोंककर खड़ी, समाज की इस कुत्सित माँग को खारिज करतीं''गिरिधर गास्याँ, सती न होस्याँ।''

पत्नीत्व व मातृत्व के घेरे से बाहर स्त्री की किसी चहलकदमी या उड़ान को प्रतिबन्धित करने वाले, यानी इस से इतर स्त्रीत्व की किसी वैकल्पिक धारणा की सम्भावना को कुचल डालने वाले, 'खानदानी' या 'कुलवन्ती' नारी के मिथ को तार-तार कर देने वाली मीरा पाँच सौ साल पुरानी बिल्कुल बुढ़िया नहीं लगतींयद्यपि इक्कीसवीं सदी की तसलीमा की वे बहन भी नहीं लगतीं, पर किसी रिश्ते में उनकी नानी जरूर लगती हैं। किन्तु, 'स्वतन्त्रता के दम्भ में जीतीं', पर पितृसत्तात्मक बाज़ार द्वारा शोभालंकरण, फ़ैशन व मॉडलिंग से निरन्तर तराशी जातीं और इस प्रकार तराशे जाने में (कर्म/करण बनने में) कर्तृत्व के आभास से इतरातीं बहुतेरी कॉलेज-बालाओं की तुलना में सहज वेश की सहजता में गातीं-नाचतीं मीरा अवश्य आधुनिक हैं। यदि यह लोकश्रुति सत्य है कि वे रैदास[134] (कुछ के अनुसार कच्छ के सन्त रोहीदास) से दीक्षित हुई थीं, तो यह उनकी ज़िन्दगी में वर्ण-व्यवस्था से विद्रोह का भी उपयोगी तत्त्व जोड़ देती है; जिससे स्त्री-मुक्ति दलित-मुक्ति के साथ जुड़कर जन्म से अकारण दण्डित समूहों की बृहत्तर मुक्ति का का सम्पूर्ण आख्यान बन जाती है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने सही कहा है''मीरा का जीवन और काव्य उस काल के अन्य भक्त कवियों की स्त्री-सम्बन्धी मान्यताओं का प्रतिकार है और प्रत्युत्तर भी।''[135] ये ही वे तथ्य हैं, जो अब तक की हिन्दी-आलोचना में रेखांकित किये गये भक्तिकालीन इतिहास और उस के प्रारूप को झटके दे-देकर तोड़ डालना चाहते हैंभक्ति-साहित्य



के राजमार्ग को स्पष्टतः दो भागों में बाँट देना चाहते हैं, ताकि स्त्री-रचनाकारों की गाड़ियाँ भी समानान्तर दौड़ सकें। मीरा इस की डिवाइडर भी हैं और स्त्री-राजपथ की सबसे तेज ड्राइवर भी।

आज हमें मीरा का जो रूप प्राप्त है, वह है उनके तमाम विद्रोहों के साथ सन्तत्व के आवरण में लिपटा हुआ। इसी को आधार बना कर कुछ ऐसी व्याख्याएँ होने लगती हैं, जो उनके व्यक्तित्व को एकमात्र अध्यात्म की अन्धेरी गलियों में विलीन कर देती हैं और असली मीरा को गुमनाम। उदाहरणस्वरूप डॉ. विद्यानिवास मिश्र का यह कहना कि ''मीरा का विद्रोह कबीर के विद्रोह की तरह साधन है, साध्य नहीं। इन दोनों का साध्य ऐसे भाव की प्राप्ति में है, जो समस्त दुविधाओं, द्वैतों और भेदों से ऊपर उठा दे, सर्वात्मभाव में प्रतिष्ठित कर दे।''[136] ऐसा कहने वाले डॉ. मिश्र अकेले या एक व्यक्ति नहीं, एक वर्ग हैं, जो नाभादास ('भक्तमाल') के युग से आज तक व्याप्त है, वह भी पूरे संस्थागत तामझाम के साथ। नाभादास देश व काल में मीरा से बहुत दूर नहीं हैं, तथापि 'पितृसत्ता + राजसत्ता' के विरुद्ध उनके संघर्ष को सही परिप्रेक्ष्य में रख पाने में नाकामयाब रहे। वे मीरा को जानते हैं, पहचानते भी हैं, परन्तु किसी निहित उद्देश्य के तहत, उनके विद्रोह को, साहस को कृष्ण-प्रेम के अर्थ विनियुक्त बतलाकर उनके व्यक्ति-तेज का ही सफाया कर डालते हैं।[137] साथ ही, उस युग के स्त्री-अधिकार-दलनकारी या स्त्री-ग्रासी होने के नंगे सच पर भी लीपापोती कर डालते हैं। वे व्यक्ति मीरा को भक्ति-प्रतीक में बदल डालते हैं। नाभादास हों या उनके आधुनिक विस्तार डॉ. मिश्र आदिवे किसी ज्वलन्त व्यक्तित्व को 'उपेक्षा' या 'उपहास' से मारने का आम रास्ता छोड़कर, उसे 'पूजा' से मारना चाहते हैं। उपेक्षा या उपहास के बाद भी ऐसे किसी अस्तित्व के देर-सबेर प्रकट होने की गुंजाइश बनी रहती है, पर पूजा तो उस के प्राण ही हर लेती है, उसे पत्थर बना कर। यहाँ आचार्य हज़ारी प्रसाद को सन्दर्भित कर यह कहना उचित होगा कि जब वे खण्डनात्मक या सुधारवादी प्रवृत्तियों को कबीर का लक्ष्य न बता कर, उनकी भक्ति का बाईप्रोडक्ट बता रहे होते हैं, तब जाने-अनजाने उपर्युक्त वर्ग को ही नैतिक समर्थन क्या वे नहीं दे रहे होते, जो अकेली मीरा की बेमिसाल ज़मीनी दौड़ को उड़ान बताकर अपनी महाभाववादी व्याख्या के आकाश में गुम करने पर आमादा था?

सवाल उठता है कि मीरा का सन्तत्व स्त्री के लिए हर प्रकार से विषम तत्कालीन परिस्थितियों में अपने व्यक्तित्व को सहारा देने के लिए ग्रहण किया गया सुरक्षा-कवच है क्या? या, उन्हें सन्त रूप में किसी सहज बोध अथवा साज़िश के तहत ढाल दिया गया है? यह विचारणीय है। हो सकता है कि स्त्री-जीवन की उनकी पीड़ा, एकाकीपन, असुरक्षा और दुस्साहसी संघर्ष के सभी सबूतों को सिरे से मिटा कर उन्हें आदर्श सन्त के फ्रेम में धीरे-धीरे मढ़ दिया गया हो। श्री माधव हाड़ा ने बड़े क्रमबद्ध ढंग से मीरा के सन्तीकरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया को एक आलेख में प्रस्तुत किया

है।[138] उनका स्पष्ट मत है कि अपने समय की पितृसत्ता व राजसत्ता के विरुद्ध अपने विद्रोह को समाज-स्वीकार्य बनाने के लिए ही मीरा भक्ति को माध्यम बनाती हैं। उनके दिये विवरण से यह भी संकेत मिलता है कि माध्यम-रूप में चुनी गयी भक्ति भी स्वरूपतः मीरा की निजी खोज थी, जो उनके द्वारा अपने स्त्री-अस्तित्व को सार्थक करने के लिए आविष्कृत की गयी तथा जो मध्यकालीन प्रचलित सांस्थानिक भक्ति के चौखटे से आग्रहपूर्वक बाहर रखी गयी थी। मीरा की भक्ति उस समय के किसी मतवाद से असम्बद्ध, बिना किसी साम्प्रदायिक दीक्षा या गुरु की छाया के चलने वालीउन्मुक्त और वैयक्तिक भाव-साधना वाली भक्ति थी। भगवान् के नाम, रूप, लीला और धाम का वर्णन (यानी, बाह्य वर्णन) वैष्णव भक्ति का मुख्य अंग है। पर, उसमें मीरा की प्रवृत्ति अत्यल्प है। मुख्यतः उनका झुकाव अपने हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति की ओर है। कारण, प्रेम की गम्भीरता में प्रिय के रूप की चिन्ता गौण हो जाती है। उनके भक्ति का स्वरूप सगुण-निर्गुण तक की सीमा का अतिक्रमण कर जाने वाला है। जाहिर हो कि भक्ति के अपने विशिष्ट बोध को लेकर तत्कालीन धर्म-व्यवस्था से भी दो-दो हाथ उन्हें करने पड़े होंगे। इससे मीरा के मौलिक (मौलिकता-आग्रही) व्यक्तित्व का एक और पक्ष उजागर होता है।

श्री हाड़ा के विचार से मीरा-साधित भक्ति के खास (उक्त) रूप की लोकप्रियता के आगे झुककर भक्ति के (ब्रजमण्डल में व्याप्त) सांस्थानिक/साम्प्रदायिक रूपों ने उन्हें अपनी दीक्षा/ शिष्यत्व-परम्परा में शामिल करने की पुरजोर कोशिशें कीं और हार कर उनके स्त्री-अस्तित्व को सन्त-भक्त की शक्ल में ढालने के उपक्रम कियेउनके व्यक्तित्व में कुछ जोड़कर, कुछ उससे काट-छाँटकर, यानी अस्तित्व को भोंथरा बना कर। यदि यह सच है, तो मीरा हाड़-माँस की, इसी लोक की संघर्षशील लौकिक नारी के रूप में स्थापित होती हैं, जिनके लिए भक्ति या कृष्ण-प्रेम स्त्री-मुक्ति का एक रास्ता था। परन्तु, अभी जो उनका काव्य-सत्य उपलब्ध है, उस के आधार यही मानना संगत है कि उनके लिए भक्ति भले साधन भर रही हो, पर कृष्ण के प्रति प्रेम साधन भी है, साध्य भी, जिसे वे खूब इंज्वाय भी करती हैं। यह 'प्रेम' सामन्ती समाज में गढ़े गये, पर आज तक निरन्तर व्याप्त उस प्रेम की अपेक्षा भिन्न रेशों से बुना हुआ है, जो मर्दों द्वारा औरतों को प्रवंचित करने और गुलाम बनाकर जीवन के आनन्द और हर सार्थकता से वंचित करने का साधन, बल्कि ताकतवर हथियार रहा है।[139] मीरा का यह प्रेम तो इतने सहज घनत्व को उपलब्ध है जिसमें सगुण व निर्गुण के भेद भी विलीन हो जाते हैं। इन दोनों प्रकार की अनुभूतियों में पगे, उन के दोनों तरह के पद इस बात के प्रमाण हैं। भक्ति या ईश्वर साधन है, तो सिर्फ़ मीरा के यहाँ नहीं है; बल्कि गहरे अर्थ में यह साधन ही तो है। ईश्वर में विश्वास इसलिए नहीं किया जाता कि ईश्वर को पाना है, बल्कि प्राप्य तो है 'सत्य', जिस तक पहुँचने के अनेक रास्तों में से एक है 'ईश्वर में विश्वास'[140] (उसी तरह का एक रास्ता है विश्वमानस में सदियों



से जड़ जमाये बैठे 'ईश्वर' को नकारने वाला गतिशील अविश्वास, यानी नास्तिकता)। मीरा का व्यक्ति-रूप में संघर्ष अहम चीज है, जिसे आत्मकथात्मक शैली में अपने पदों में उन्होंने प्रचुर मात्रा में उल्लिखित किया है । प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है कि ''मीरा का विषपानमध्यकालीन नारी का स्वाधीनता के लिए संघर्ष है और अमृत उस संघर्ष से प्राप्त तोष है। विष मीरा का लौकिक यथार्थ है और अमृत उनके भाव-जगत का परमार्थ।''[141]

यह स्पष्ट है कि आधुनिक स्त्री-विमर्श की तरह व्यापक स्त्री-प्रश्नों को व्यापक स्तर पर उठा कर लौकिक धरातल पर उन का समाधान ढूँढ़ने का माद्दा मीरा के यहाँ सम्भव नहीं था । उन का विद्रोह बौद्धकालीन थेरियों की तरह ही व्यक्तिगत है। पर, थेरियों की परम्परा में उन्हें इसलिए नहीं रखा जा सकता क्योंकि विवाह-व्यवस्था व ससुराल में अपना अनुभूतस्त्री के बहुमुखी उत्पीड़न-दलन, आर्थिक घुटन एवं उसके प्रति जारी (प्रकट बर्बर के साथ महीन किस्म की भी) घरेलू हिंसाका जो कच्चा चिट्ठा थेरियाँ खोलती हैं, जिससे आम स्त्री की समस्या से वे जुड़ जाती हैं; वैसा मीरा के यहाँ नहीं है। न विवरण में उतनी व्यापकता है, न कथन में ही उतनी प्रत्यक्षता की आग। अपने समय के लोक-साहित्य में प्रतिबिम्बित नारी-प्रश्नों के विशाल दायरे से भी मीरा को उपकृत होते नहीं पाया गया है ।

थेरी सुमंगलामाता कहती हैं

*''अहो मैं मुक्त नारी*
*मेरी मुक्ति धन्य है।*
*पहले मैं मूसल से धान कूटा करती थी*
*आज उस से मुक्त हुई।*
*मेरी दरिद्र अवस्था के वे छोटे-छोटे बर्तन*
*जिनके बीच मैं मैली-कुचैली बैठा करती थी*
*आज उनसे मुक्त हुई।*
*और मेरा निर्लज्ज पति मुझे उस छाते से भी तुच्छ समझता था,*
*जिसे वह अपनी जीविका के लिए बनाया करता था।''*[142]

थेरी कृशा गौतमी ने सामन्ती विवाह के अभिशाप के साथ उसके बाईप्रोडक्ट 'मातृत्व' की त्रासदी को जो वाणी दी है, वह एक साथ हमारे कितने सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की धज्जियाँ उड़ा देती है

*''स्त्री होना दुख है...*
*विद्वेषी सपत्नियों के साथ*
*एक घर में रहना दुख है*
*बच्चों को तीव्र पीड़ा में जनना दुख है*
*कोई-कोई जनने वाली माताएँ*

*एक बार ही मृत्यु चाहती हुईं*
*अपना गला काट लेती हैं*
*ताकि दुबारा यह दुख सहना न पड़े*
*कुछ सुकुमारियाँ*
*विष खा लेती हैं*
*बच्चा जन्म नहीं लेता*
*बीच में रुद्ध हो जाता है*
*तब जच्चा-बच्चा दोनों विपत्ति में पड़ जाते हैं।''*[143]

यह सुनते ऐसा लगता है कि आग के दरिया से हम गुज़र रहे हैं! ऐसा चित्रण मीरा के यहाँ नहीं है। फिर भी है बहुत कुछ, जो उन्हें थेरियों की बेटी-नातिन ठहरा सकता है। जैसे

*''हेली म्हांसू हरि बिन रह्यो न जाय।*
*सास लड़े मेरी ननद खिझावै, राणा रह्यो रिसाय।*
*पहरो भी राख्यो, चौकी बिठायी तालो दियो जड़ाय।''*[144]

व्यक्तित्व-प्राप्ति के लिए जूझ रही विवाहिता स्त्री को घर-घर में (पितृसत्ता के हथियार बनकर खड़ीं) सास-ननदें संत्रस्त करती रहती हैंपहरे बिठाकर, उन पर ताले भी जड़ दिये जाते हैं। साथ ही, भूखों मरने का भय दिखाया जाता है अथवा भूखी तक रखा जाता है, ताकि दम टूट जाए और वह हार मान ले। मीरा की कविता इस भोगे सत्य का बयान करने में पीछे नहीं है। देवरानी ऊदा मीरा को समझा रही है कि भाभी! यदि तुम अपना हठ नहीं छोड़तीं, तो दण्ड-स्वरूप तुम्हें बासी-कूसी मिलेगा, खट्टी छाछ मिलेगी, रो-रोकर भूखों मर जाओगी। अतः, हठ छोड़ो। अच्छा खाओ और अच्छा पहनो।[145] यह है स्त्री को व्यक्ति बनने से रोकने, उसे अपने दायरे में रखने के लिए, 'भय' और 'प्रलोभन' के दो छोरों से बनायी गयी पितृसत्ता की रणनीति, जिसे लागू करने का जिम्मा बड़ी चालाकी से दिया गया सास-रूपी जेलर व ननद-रूपी जमादार, यानी किसी स्त्री को ही। लेकिन, मीरा झुकीं नहीं। सबको ठोकर मार चल पड़ीं स्वतन्त्रता के मार्ग पर, स्वेच्छा से भिक्षुक-वृत्ति अपनाती हुईं। अपने ऊपर ससुराल वालों के ढाये गये तमाम जुल्म और इस राह में मिले तमाम कष्टलोकनिन्दा का शिकार बनाना, आर्थिक अभाव, दैहिक यातना, यहाँ तक कि प्राण-हरण की उनकी हरकतें (साँप व ज़हर भेजना) भी झेल लीं। सहने की यह ताकत निश्चय ही गिरिधर-गोपाल की शरणागति या अनुराग ने दी। उन्हें राजसत्ता से सीधे टकराने की हिम्मत है, जो बहुत कम लोगों में होती है। सीधे नाम लेकर वे ललकारती हैं'राणा! तुम तो आदमियों में इतने गुणहीन हो, जितना वृक्षों में कैर।'[146] 'सिसोदिया कुल रूठ कर मेरा क्या कर लेगा?'[147] 'मैंने कुल-मर्यादा और लोक-लाज की परवाह छोड़ दी है, कोई मेरा क्या कर लेगा?'[148] फिर भी, विषम स्थितियों की लगातार पड़ती चोट कभी उन्हें



अबलापन का भी अहसास करा देती है, तब वे गिरिधर को अपने निकट पाती हैं। सच तो यह है कि वे गोविन्द के सामने आत्मसमर्पण इसलिए करना चाहती हैं ताकि उससे अर्जित शक्ति से अपनी लड़ाई जारी रख सकें। यह आत्मसमर्पण ही है, जो मीरा को स्त्री-मुक्ति की आधुनिक चेतना से थोड़ा पीछे कर देता है। तमाम विद्रोहों के बावजूद वे कृष्ण से बराबरी का रिश्तादोस्ती (गर्लफ्रेंड-ब्वायफ्रेंड का रिश्ता) न साध सकीं, जैसा मराठी भक्त-कवयित्री जनाबाई ने साधा है।[149] मीरा कृष्ण को 'पति' ही बना सकी हैं और खुद उनकी दासी बन गयी हैं। दासित्व कभी-कभी यहाँ तक मुखर हो जाता है कि कह उठती हैं

*''जो पहिरावैं सोई पहिरूँ, जो दै सोई खाऊँ,*
*जहाँ बैठावें तितहीं बैठूँ ,बेचे तो बिक जाऊँ।''*[150]

मीरा की ऐसी उक्तियों का स्रोत क्या सामन्तवादी-पुरुषसत्तात्मक समाज में बहुविवाही मर्दों पर निर्भर, परजीवी नारी का 'हारे को हरिनाम' नहीं है? जल में रहकर मगर से बैर वह कर सकती थी? रोकर या गाकर उसे तो यही स्वीकार करना था कि जो पति खिलाएगा, वह खाऊँगी; जो पहनाएगा, वह पहनूँगी। इस स्तर पर आकर यह साफ होता है कि मीरा ने स्वयं पितृसत्ता से कितना भी बड़ा विद्रोह किया हो, कितने भी संघर्ष झेले हों, पर आध्यात्मिक स्तर पर पातिव्रत यानी दासित्व का ही विकल्प ग्रहण कर, जिस प्रतीक की स्थापना वे करती हैं, वह भारतीय समाज में आम स्त्री को जकड़ने के लिए बनाए गये परम्परागत नियमों को ही परिपुष्ट करता है। लौकिक पत्नीत्व से विद्रोह किया, कारण वह थोपा हुआ थासम्भवतः राजपूतों की गठबन्धन की राजनीति का हिस्सा बनाकर लाया गया। पर, उससे की गयी अपनी बगावत को पूर्णतः रचनात्मक वे न बना सकींउसके बाद स्वतंत्रता का वरण न कर के उन्होंने पितृसत्तात्मक धर्म द्वारा निश्चित किये गये सिद्ध प्रतीक कृष्ण को ही, उसी रूप में स्वीकार कर, उससे स्तरीकृत (स्वामी-दासी का) गठजोड़ जो बनाया। यह सब वाकई विडम्बना-पूर्ण था। कृष्ण चाहे ग्वाले के रूप में हो या राजाधिराज के रूप में, वह अनेक स्त्रियों का है। पहले रूप में पूरी ब्रज-नारियों का, दूसरे रूप में सोलह हज़ार एक सौ आठ रानियों का स्वामी। फिर भी पहला रूप अधिक सहज हैगोपियों का कम से कम स्वामी नहीं, सखा है। सम्भव है, इसी से मीरा गोपाल-गिरिधर नागर रूप से ही अपने गीतों में ज़्यादा मुखातिब हुई हों।

जैसा कि पूर्वोक्त है, भक्ति के लिए प्रेमिका भाव/स्त्री-स्वर कबीर आदि ने भी प्रयुक्त किये हैं, पर मीरा का स्त्री-स्वर अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि प्रेमिका-भाव स्त्री-अनुभव से सीधे-सीधे जुड़कर उन्हीं के यहाँ अभिव्यक्त हो सकता है, वे स्त्री जो हैं। पर, पुरुष कबीर (वह भी विचारों से स्त्री-विरोधी) को यह भाव साधने के लिए अपना रूपान्तरण, यानी चेतना के स्तर पर कठिन अनुवाद-कार्य करना पड़ता है। हाँ, यदि ईश्वर को माशूक मानकर, स्वयं पुरुष बनकर (जो वे थे) प्रेम करते, तो सफलता

अधिक सम्भावी थी। कबीर ऊपर से पुरुष और भीतर से स्त्री थे, मीरा भीतर बाहर हर ओर से स्त्री थीं; वहीं तुलसी भीतर-बाहर हर ओर से मर्द थे। मर्दसत्ता स्थापित करने में वे कबीर आदि सबसे आगे निकल गये तो इसका एक कारण उन्हें प्रबन्धात्मकता की सुविधा, अवसर या धैर्य की उपलब्धि होना भी है ।

## 'धर्म' का जंजाल : औरत बदहाल

'धर्म' को लेकर वैसे तो बड़ी-बड़ी बातें की जाती हैं, आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए, मानवीय समता व भौतिक सुख के क्षेत्र में भी उसकी रचनात्मक भूमिका के बड़े-बड़े दावे किये जाते हैं। कहा जाता है कि 'धर्म' का अर्थ मानवीयता की उस स्थिति से है, जिसमें व्यक्ति कुछ विशेष गुणों को धारण करता है, जिससे एक इन्सान दूसरे से प्रेममय जुड़ाव महसूस करता है, आपसी समता में जीता है, दीन-दुखियों की सेवा करता है, आदि-आदि। संस्कृत शब्द 'धर्म' के मूल धातु 'धृ' का अर्थ धारण करना होता है। इस सन्दर्भ में, उन विशेष गुण-धर्मों को धारण करने की अवस्था है 'धर्म', जिन्होंने किसी वस्तु-विशेष का अस्तित्व बरकरार (धारणकर) रखा है। जिस प्रकार आग का धर्म जलना-जलाना या नदी का धर्म बहना है, उसी प्रकार मनुष्य का धर्म है 'मनुष्यता' है, जिसके उपर्युक्त लक्षण कहे जा सकते हैं। नदी में नहाना, तिलक लगाना, पूजा-पाठ करना, प्रार्थना/जप करना, रोजा-नमाज, व्रत, तीर्थयात्र आदि धर्म नहीं, बल्कि उसके नाम पर किये जाने वाले बाहरी आचार भर हैं। धर्म तो सकल आध्यात्मिक व भौतिक उन्नयन का मार्गदर्शक है। आदि-आदि। पर, अफसोस! मानव-इतिहास का अधिकतर हिस्सा ऐसे धर्म की मौजूदगी से वंचित रहा है। धर्म का ऐसा चेहरा कभी भूले-भटके धर्म-सुधारकों द्वारा दिखाया भी गया, तो वह बिजली की कौंध जैसा ही क्षणिक रहा, जो हर बार अपने पीछे दुनिया में लम्बा व भयानक अन्धकार ही छोड़ कर गया है। इसके तहत, धर्म इन्सान का तथाकथित ईश्वर से सीधे सम्बन्ध का विषय न होकर एक संस्थागत रूप में मौजूद रहा है, जिसके कारण खुदा और इन्सान के बीच कोई तीसरा (बिचौलिया/दलाल या ठेकेदार) ही बैठा रहा है, जो धर्म का धन्धा चलाता और अधिकतर लोगों के जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता व समता के अधिकार को ही नहीं, कभी जीने तक के उन के अधिकार को भी बेरहमी से कुचलते रहा है। किसी बड़े से बड़े युद्ध में मारे गये लोगों की कुल संख्या पर धर्म के नाम पर हुए ज़ेहाद या दंगे में मारे गये लोगों की संख्या बराबर भार पड़ी है। धर्म के नाम पर कराये गये इन सनकी हुड़दंगों की सब से ज्यादा कीमत हर बार समाज के सबसे अभावग्रस्त सदस्योंस्त्रियों और बच्चों को चुकानी पड़ी है, अपनी जान तक देकर। इस तरह से 'धर्म' ने पूरी दुनिया में एक बेहद निर्मम खूनी यात्रा की है।

भक्तिकाल के विवेचन के सन्दर्भ में जैसा कि पूर्व-कथित है, किन्हीं सन्दर्भों में क्रान्तिकारी रही धर्म की भूमिका सगुण भक्ति के वर्चस्व तक आते-आते उसी रूढ़ि



का शिकार हो चली, जो 'धर्म' के नाम पर दुनिया में अब तक चले प्रपंचों में आमतौर पर दिखती है। निर्गुण धारा का भी उसी प्रकार का अनुकूलन कर लिया गया। स्पष्ट होना चाहिए कि 'धर्म' के नाम पर अब तक दुनिया में आमतौर पर जो प्रपंच दिखता रहा है, वह मानवीयता व समानता से युक्त किसी समाज-संरचना को प्रेरित करने वाला न होकर एक क्रूर सत्ता के रूप में विद्यमान रहा है। फिर, इस सत्ता की रक्षा के लिए समय-समय पर ईश्वर को पैगम्बर भेजने या अवतार लेने की भी जरूरत पड़ती रही है। सिद्धान्त के अनुसार, प्रभु अवतार लेते हैं 'साधुओं के परित्राण और दुष्कर्मों के विनाश के लिए''गीता' के इस सूत्र [151] का तुलसीदास ने वर्णवादी विस्तार करते हुए अवतार के उद्देश्य को 'विप्र-धेनु-सुर-सन्त-हित' करार दिया।[152] अर्थात्, ब्राह्मण, ब्राह्मणवादी मूल्य (गाय), परलोकवादी मूल्य (सुर = देवता) और लौकिक भक्ति-मूल्य (सन्त, जो प्रायः मर्द हैं) के उद्धार हेतु प्रभु अवतार लेते हैं। पर, समाज के अकारण दण्डितों-शोषितों, सर्वहाराओं, दलितों और सबसे अधिक सर्वहारा स्त्री की अन्तहीन पीड़ा, चीख-पुकार या संस्थागत त्रासदी के निवारण के लिए उन्हें कभी अवतार लेने की फुरसत नहीं मिली। उन्हें तो अवतार लेना है बस धर्म की रक्षा के लिए। इस धर्म पर आफ़त तब आती है जब कोई स्त्री विवाह द्वारा डाली गयी नैतिकता के दमन-पाश से मुक्त होती है या कोई शम्बूक वेद पढ़ने लगता है। स्त्री व शूद्र जब-जब जागने की कोशिश करते हैं, अपनी स्थिति बेहतर बनाने की, जन्मसिद्ध मानवीय स्वतन्त्रता-मानवाधिकार को हासिल करने की स्थिति में आने लगते हैं, तब-तब पण्डित-मुल्ला-पादरी आदि मठाधीशों को धर्म की हानि दिखाई देती हैअपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ रहे ये दलित समूह उन्हें कुलटा, असुर या काफ़िर दिखाई देते हैं। पितृसत्ता व वर्ण-व्यवस्था आधारित समाज-संरचना में इससे हो रही चरमराहट मठाधीशों को कलियुग के रूप में दिखाई देती है, जिसे रोकने के लिए यानी इन स्वतन्त्रता-कामियों/सेनानियों को पुनः दण्डित करने हेतु किसी सवर्ण मर्द को प्रभु बनकर आना होता है। यही है अवतार! उसे जीर्ण हो चली समाज-संरचना को फिर से दुरुस्त करना होता है, इसी जीर्णोद्धार को 'धर्म-संस्थापना' का बिरद मिलता है। इस प्रकार स्पष्ट होना चाहिए कि यह 'धर्म' कोई आध्यात्मिक लौ नहीं, जो इन्सान-इन्सान के बीच की असंख्य दीवारों को जला दे; बल्कि वह स्तरीकृत-जड़ सामाजिक व्यवस्था है, जिसके द्वारा आत्मा-परमात्मा-पुनर्जन्म-परलोक-कर्मफल आदि कल्पनाओं के सहारे आम जनता में भय व प्रलोभन पैदा कर मानवीय चेतना, विवेक आदि को नियंत्रित किया जाताउनका गला घोंटा जाता है तथा जिसमें जन्म के आधार सुविधा-प्राप्त वर्ग (सामन्त, सवर्ण, सम्पत्तिशाली पुरुष) द्वारा अनेक प्रकार के छलों के ज़रिये अधिसंख्य जनता (स्त्री-शूद्रादि) को दबा कर रखा जाता है, उनका दोहन किया जाता है तथा उन्हें अभाव-दैन्य-अपमान व अनीति को चुपचाप सहते चले जाने को प्रेरित, या इस अर्थ उन्हें मज़बूर किया जाता है। जहाँ आम जनता हाड़तोड़ मेहनत के बावजूद दो जून की रोटी जुटाने से भी वंचित

हो, वहाँ धर्म के गढ़ों/मठों में छप्पन भोगों और नाना तरह के विलासों में देवता व उनके पुजारी निमग्न रहे हैं। यह सब उस बेशुमार दौलत से सम्भव होते रहा है, जो जनता के खून-पसीने की कमाई को राजाओं द्वारा लूट कर दिये गये चढ़ावों अथवा धर्म द्वारा भरमायी गयी जनता द्वारा दिये गये दानों से इकट्ठी होती रही।[153] धर्म की यह संरचना अन्धविश्वास और कर्मकांड नामक दो मजबूत स्तम्भों पर टिका कर ही क़ायम रखी गयी है। कर्मकांडों की वैज्ञानिकता पर भी खूब लेक्चर दिये जाते हैं, पर ध्यातव्य है कि इन्हें करते-करते केवल पर्यावरण-क्षति नहीं होती, केवल तालाब-नदियाँ प्रदूषित नहीं होते, बल्कि अक्सर समय व धन की भारी बर्बादी के साथ कई बार हमारी जान तक चली जाती है। इसी सन्दर्भ में राहुल सांकृत्यायन ने धर्म को कोसते हुए कहा होगा''लोगों में इस ख्याल का जोर से प्रचार करना चाहिए कि मज़हब और खुदा गरीबों के सबसे बड़े दुश्मन हैं। वे मरने के बाद स्वर्ग का लालच देकर इस जीवन को नरक बनाते हैं।''[154]

इस तथाकथित धर्म में विश्वास हमें मानवीय चेतना व कर्म-शक्ति की तुलना में भाग्य व कल्पित प्रभुकृपा पर ज्यादा भरोसा करने वाला तथा दूसरों के कष्टों के प्रति उदासीन व सामाजिक सरोकारों से रहित बना देता है (खासकर स्त्री के प्रति)। यह विश्वास अनेक तरह के परलोकवादी नशे दे-दे कर, हमें साम्प्रदायिक द्वन्द्व की मनोभूमि पर भी जिलाता है, जिसका खामियाजा किसी एक सम्प्रदाय की स्त्रियों व बच्चों के प्रति किसी दूसरे सम्प्रदाय के लोगों की हिंसा-बलात्कार आदि के रूप में भी भुगतना पड़ता है; साथ ही वह एक ही सम्प्रदाय के भीतर ज़ेण्डर, वर्ग व वर्ण के आधार पर भेदभाव की व्यवस्था के तहत अधिकतर जनता का शोषण-दोहन व दलन जारी रखता है। सब मिलाकर, शुरु से ही इस धर्म ने धर्म-सत्ता का रूप ले रखा है, जो अर्थ-सत्ता व राजसत्ता के समानान्तर अपना प्रभुत्व दिखलाते रही है। अपनी सत्ता बचाने के लिए धर्म हर खेल, षड्यन्त्र व हिंसा का सहारा लेते रहा है।[155] धर्म द्वारा जो फ़तवेबाजी की जाती है, वह अक्सर सीधे-सच्चे मार्ग पर चलने में समर्थ एक आम इन्सान को गुमराह करने और उसका जन्मप्राप्त मानवाधिकार छीनने की दिशा में होती है, परन्तु उसका बड़ा हिस्सा स्त्री के हर तरह के मानवाधिकार को कुचलने से ही सम्बद्ध रहा है।

ऐसे धर्म को मार्क्स ने अफ़ीम कहा तो गलत क्या कहा? होगा अफ़ीम पुरुषों के लिए, स्त्रियों के लिए तो धर्म वेश्यालय है, वेश्यालय (जो कि शायद श्री अरविन्द जैन का कहना है)।[156] धर्माचार्य अपनी जननी यानी औरत को 'मासिक धर्म के कुण्ड' या 'योनि' के सिवा किसी अन्य रूप में पहचानने में असमर्थ हैं, तभी तो इस आधुनिक युग में भी बनने वाले मन्दिरों या धर्मस्थलों के प्रवेश-द्वार पर यह फ़रमान अक्सर लिखा मिल जाता है कि स्त्री इसमें पूरी टाँगे ढँकने वाले कपड़े पहनकर ही घुसे या जीन्स आदि कसे कपड़े पहन कर न आये। पर, मज़ा यह है कि वे स्त्री को विशेष



इज़्ज़त देने या नारी-पूजा करने की भी बातें कर लेते हैं। यह कौन सा सम्मान है, जो स्त्री को कपड़े पहनने तक की आज़ादी नहीं देता? वे उसे देवी मानते हैं, पर उनमें इतनी तमीज नहीं कि किसी तरह उसे इन्सान मानने को तैयार हो जाएँ। सच तो यह है कि माँ (यानी प्रजनन-मशीन) की महिमा में स्त्री को फुला कर, उसकी चेतना को विमूर्च्छित कर, ये धर्म के ठेकेदार धीरे से उसकी देह पर हाथ रख देते हैं। धर्म द्वारा जिस यौन-नैतिकता में स्त्री जकड़ी गयी, उसका अगला परिणाम यही हो सकता था कि पति द्वारा ठुकराई गयी कोई स्त्री, यदि वह जीना चाहे तो उसके लिए अन्तिम शरणस्थली मठ (की धार्मिक वेश्यावृत्ति) या चकला ही रह जाए। यह ठीक है कि हू-ब-हू या पूरी तरह ऐसी स्थिति अब नहीं रह गयी है, पर साथ ही यह भी तो देखिये कि वैसा तभी हुआ है, जब हमने ऐसे धर्म से किसी हद तक तौबा किया है। कोई कहेगा कि ये सब किसी धर्म ने नहीं, समाज-व्यवस्था ने किया है, पर उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि वैसी समाज-व्यवस्था को सम्भव बनाने में धर्म ने कितनी बड़ी भूमिका निभायी है। कुछ नहीं तो, उसे धर्म का अथाह समर्थन तो प्राप्त रहा ही है। धार्मिक फ़िल्मों-सीरियलों, चैनलों और धार्मिक अन्धविश्वास के बाज़ार की शक्ल में आज भक्तिकाल विकृत रूप में पुनर्जन्म लेकर विस्फोटक प्रसार की ओर है। अन्यान्य चेहरों के साथ, उसका सबसे क्रूर चेहरा यही है कि हमें अमानवीय व स्त्री-स्वतन्त्रता का विरोधी बना छोड़ता है। अब इसमें कोई शक नहीं रह जाता कि ऐसे धर्म के ऑक्टोपसी जाल से स्त्री जितना ही मुक्त होगी, उतनी ही मात्रा में अपने कुचले गये मानवाधिकार को प्राप्त कर सकेगी, उतना ही वह इन्सान बन कर उभर सकेगी। स्त्री ही क्यों, हर मनुष्य उसी मात्रा में सुकून प्राप्त करेगा, जिस मात्रा में इस जंजाल से छूटेगा।

इस जड़-विसंगत धर्म-संस्था में मानवीयता व लोकतन्त्रीय समता के लिए कुछ स्पेस बनाने की कोशिश भी बार-बार होती रही है, जिसे धर्म-सुधार-आन्दोलन कहा गया। पर, समय बीतने पर हर सुधार-प्रयत्न का असर जाता रहा और हर बार 'ढाक के वही तीन पात' वाली स्थिति हुई। निर्गुण-भक्ति-आन्दोलन ने भी एक सामूहिक प्रयत्न किया था, संस्थागत रूप से उस की मुक्ति दिलाने की। परन्तु, स्त्री के बारे में वह संस्थागत ही बना रहा'पुरुष-संस्थागत धर्म/भक्ति'। तभी तो, विधवा से जनमे कहे जाने वाले कबीर ने भी स्त्री के लिए पातिव्रत्य के कठोर विधान का समर्थन किया। फिर, उससे भी बाजी मारी सगुण धारा ने, जिसने परमात्मा को स्त्री के लिए 'वाया पति' बना छोड़ा। वैसे डाइरेक्ट भी होता, तो क्या अन्तर पड़ता? परमात्मा भी तो मर्द ही था (मीरा कौन सा अन्तर ला सकीं?)। इसीलिए, तो स्त्री (-शूद्रादि) के लिए कभी उसने अवतार नहीं लिया। उसके लिए, तो ज्योतिबा फुले, राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानन्द, गाँधी, आम्बेडकर, पेरियार, लोहिया या अन्ना साहब कर्वे आदि मनुष्यों के प्रयत्न ही काम आये।

## उपसंहार

भक्तिकाल/काव्य अपनी साहित्यिकता के स्तर पर उत्कृष्ट रहकर भी, (स्त्री के प्रति) अन्यायी अपनी विचित्र मूल्य-संरचना के कारण कठघरे में खड़ा किया जाना चाहिए। यद्यपि कवि-गत संवेदनशीलता (जायसी, तुलसी, सूर) ने विचारधारात्मक कठोरता को कहीं-कहीं तोड़ा भी है, किन्तु वह 'सागर में बूँद भर मधु के समान' है। यहाँ ध्यातव्य है कि प्रबन्ध-रचना की फ़ुरसत, धैर्य व उसमें चित्रित जीवन की व्यापक परिधि में ऐसी कठोरता के विलीन होने के अधिक अवसर आते हैं (क्या कबीर में स्त्री-सम्बन्धी दुराग्रह इसीलिए बिल्कुल न टूटे?) क्योंकि जीवन के बहुरंगे-व्यापक पक्षों की इन्सानी आँच कभी न कभी, किसी न किसी मात्र में उस लोहे को पिघलाएगी ही, जिसका स्त्री (शूद्रादि ) के लिए ज़ंजीर बनाने हेतु उपयोग करने के इरादे से रचनाकार बैठा है। परन्तु, इसका दूसरा पक्ष भी सम्भव है कि प्रबन्धता की फ़ुरसत व धैर्य, और अधिक पाषाण व लौह जुटाने में मददगार हो सकता है, जो मुक्तक या प्रगीत की संक्षिप्त अवधि में कदाचित् न हो पाए?

मध्यकाल की सन्त/भक्त-जमात, जो एक स्वर से नारी मात्र को 'माया', 'कुलटा', 'नरक का द्वार' आदि कहकर कोस रही थी तथा पितृसत्ता (पतिव्रता, सती, माँ, घरेलू स्त्री) में फ़िट हो चुकी स्त्री को धन्यता के खिताब बाँट रही थी, तब दरिया जैसों के मुँह से एकाध स्त्री-पक्षीय उद्‌गार निकल गये हों, तो भी वे नक्कारखाने में तूती की आवाज़ से बढ़ कर क्या होंगे? किन्तु, वे सुखद आश्चर्य अवश्य लगते हैं। 'मारवाड़ वाले दरिया साहब की बानी' में आयी यह फटकार सराहनीय है, जिसकी अनसुनी की गयी है

*नारी जननी जगत् की पाल-पोस दे तोस।*
*मूरख राम बिसारि कै ताहि लगावै दोस ॥*[157]

इसमें निहित तर्क से ज्यादा दमदार है फटकार। तर्क इसलिए पुराना पड़ जाता है, क्योंकि वह अनजाने में मातृत्व (गर्भाशय) से ही स्त्री को बाँध देता है, यह भूलकर कि उसके पास दिमाग, हाथ और पेट आदि भी हैं। किन्तु, जिन्हें यह फटकार थी, उनके लिए यह तर्क पुराना नहीं था, क्योंकि वे यह भूल चुके थे कि स्त्री का गर्भाशय केवल मासिक स्राव की नहीं, हम सभी (महापुरुषों?) की भी जन्मभूमि है, वे जिसे गाली दे कर उसे उपनिवेश बनाने वालों को ही नैतिक समर्थन दे रहे हैं। जहाँ हर तरफ से हिंस्र जानवर हों, वहाँ दरिया का उक्त मृगछौना भी उद्धारक से कम क्या लगता होगा? पर, क्या किसी को लगा भी और फिर लगने से क्या होता है? भक्तिकाल की जिस सरकार को वह फटकार थी, वह तो आम सहमति या बहुमत की नहीं, एकतंत्र-एकदलीय व्यवस्था की सरकार थी, जो नारी की सक्रियता (व्यक्तित्व-जागरण) की ही विरोधी नहीं थी, वरन उसकी निष्क्रिय उपस्थिति मात्र की भी निन्दक थी। इस प्रकार, स्त्री किसी भी स्थिति में हो, उसे ख़तरनाक लगती थी। तो, सवाल है कि वे



कन्या-जन्म के ही विरोधी थे ताकि न रहे बाँस, न बजे बाँसुरी?

मध्यकाल की स्त्री की दाहक-दुर्दान्त, दिल दहला देने वाली वास्तविकता से निगाहें फेरकर बैठे और उसे कुछ आदर्श की बेड़ियों से और भी जटिल बनाते 'भक्तिकाल' की इस वास्तविकता को भी असिद्धि, अर्द्धसिद्धि और अवान्तर सिद्धि के रास्ते, हमारे साहित्येतिहासकारों व आलोचकों का बड़ा हिस्सा झुठलाते, ढँकते या अनदेखा करते रहा है[158] और कई बार 'भक्तिकाल की प्रगतिशीलता' के अतिवादी दावे भी करते रहा है[159], किन्तु अपने दावों की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक या साहित्यिक साक्ष्य रखने की जरूरत उसे महसूस न हुई। अब भी राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित कई विद्वानों और राष्ट्रीय स्तर की कई अकादमियों को यह स्वीकारने का साहस नहीं होता कि कबीर, तुलसी, जायसी आदि ने कुछ ग़लत भी कहा होगा। आलोच्य युग का साहित्यिक इतिहास लिखते समय हमारे 'जीनियस' तत्कालीन नारी की जलती (सती), घुटती, अपहृत होती, वासना-वेदी पर बलि चढ़ती (वेश्यालय, हरम), बहु/अनमेल/बाल-विवाह में धकेली जाती, बाध्यकारी प्रसव मौत मरती, परजीवी और अशिक्षित, असूर्यम्पश्या होकर हर तरह से तरसती-छछनती हक़ीकत की कितनी नोटिस ले पाते हैं? अक्सर वे इस के विरुद्ध पड़े इक्का-दुक्का उदाहरणों/प्रतिमानों (जो हर सन्दर्भ में, हर युग में होते ही हैं) के ज़रिये पूरी वास्तविकता को अधूरी तक पहुँचाते हुए, कई बार पूरी तरह गायब भी कर देते हैं। कभी-कभी वे समस्या का रूप ही उलट देते हैं, जिस में सतीत्व की दमनकारी व्यवस्था से बची हुईं स्त्रियाँ ही उन्हें असली समस्या दिखती हैं।[160] ऐसी अवस्था में तत्कालीन साहित्य में प्रवृत्तियों का निर्धारण करते समय उस की 'स्त्री-निरपेक्षता से स्त्री-घात तक' व्याप्त मूल्य-दृष्टि को एक प्रवृत्ति के रूप में निर्धारित करना उन्हें काहे को सूझेगा? भीषण हालात की शिकार स्त्री को काव्य के ज़रिये और भेदभाव-मूलक प्रस्थिति सौंपने वालों की आलोचना करते समय उन की दृष्टि 'गोल-मटोलवाद' से आगे बढ़कर 'बेशर्म चुप्पी' की परमहंसावस्था में चली जाती है। तब, वे उन स्थितियों और उनके रचनाकारों के प्रतिरोध में उठीं ताक़तों (खासकर स्त्री-रचनाकारों) को भी नहीं देख पाते या उन्हें हाशिये पर/फुटकल खाते में धकेल देते हैं। वे यह देख पाने में असमर्थ होते है कि कण-कण में व्याप्त एक ही परम तत्त्व के बोध का दावा करने वाले सन्त/भक्त, इस 'पारमार्थिक सत्य' के समानान्तर न सिर्फ 'व्यावहारिक सत्य' (भेदभाव-कारी समाज-व्यवस्था) को भी प्रश्नहीन एक वास्तविकता के रूप में ग्रहण करते हैं, बल्कि व्यावहारिक सत्य को नारी के सन्दर्भ में और ज्यादा अव्यावहारिक बनाने में लग जाते हैं। इसी से वे सन्त-भक्त यदि सदय हुए, तो दो घरों के बीच हुई बाहरी टकराहट को तो समस्या मानकर चिन्तित हुए, परन्तु घर-घर के भीतर जो दो दुनिया हैअन्तःपुर व बैठकाखाना बनाने वाली और (मीन-मेख निकालते उसे) खाने वालेगहने पहनने वाली और उसे गहनों से गूँथने वालेशोषक और शोषितस्त्री और पुरुषके द्विधा

संसार हैं, इस यथार्थ को न देख सके। वे यह न देख सके कि 'अनेकता में एकता' के अध्यारोपित नारे के वर्चस्ववाद के तले भारत आम्बेडकर के द्वारा चिह्नित दो टुकड़ोंद्विज भारत और (बहिष्कृत) शूद्र भारतमें ही सीधे-सीधे नहीं बँटा है, बल्कि 'स्त्री भारत' और 'पुरुष भारत' के प्राथमिक विखण्डन के रास्ते विखण्डनवादी अनन्त ऊर्जा के विध्वंस का इन्तज़ार कर रहा है। 'भाईचारा' के समन्वयवाद में उसका समाधान नहीं था, क्योंकि इससे वह अधिक से अधिक गाँधीवादी सुधार (रिपेयरिंग) के यथास्थितिवाद तक ही जा सकता था, जिस का चरित्र प्रायः भेदवादी व्यवस्था के प्रतिरोधक स्वरों को सहलाकर उनके नख-दन्त छीन लेने के साथ, उस अद्‌भुत शान्तिवाद को लक्ष्यीभूत रखता है, जो कदाचित् इस में विश्वस्त हो

*हिलो-डुलो मत हृदय-रक्त अपना मुझ को पीने दो।*
*अचल रहे साम्राज्य शान्ति का, जियो और जीने दो ॥*[161]

निर्गुण सन्तों के सुधारवाद (और वह भी स्त्री-निरपेक्ष एकांगी) से क्रान्तिकारी स्थितियों (डी-कंस्ट्रक्शन से रि-कंस्ट्रक्शन की ओर जाने वाली) की उम्मीद नहीं की जा सकती थी, क्योंकि न उनके पास भौतिक समस्याओं की व्याख्या का कोई ठोस भौतिकवादी दर्शन था, न ही 'ज़ेण्डर-जस्टिस' की सन्तुलित दृष्टि। केवल 'सामाजिक न्याय' की आध्यात्मिक पहल, उसे धारण करनेवाली समाजार्थिक संरचना के बिना, बहुत नाकाफी थी और बाद में सगुण-भक्ति के उभार के पश्चात् तो वह भी बेमानी हो चुकी थी।

फिर भी, भक्तिकाल ने अपने उभार के शुरुआती दौर में एक स्तर पर नवजागरण या स्वाधीनता-आन्दोलन सा कुछ जरूर पैदा किया थाभले वह मर्दाना बन कर रह गया। परन्तु, ध्यातव्य है कि पराधीनता की चाहे जिस कड़ी को झटका दें, उससे जुड़ीं बाकी कड़ियाँ भी कम-अधिक झनझनाती ही हैं। समाज में यदि दो पुरुषों की ज़ंजीरों को तोड़कर उन्हें मिलाने का आयोजन करें, तो हर ज़ंजीर से जुड़ी/जोड़ी गयी नारी की ज़ंजीर भी कुछ न कुछ टूटेगी ही। न पराधीनता एकाकी होती है, न उससे मुक्ति की प्रक्रिया। इसलिए, यह कहना भी ग़लत ही होगा कि भक्तिकाल में स्त्री का कुछ भी नहीं बदला, भले भक्तिकाल ने न बदला हो। रामानन्द की कथित शिष्याएँ (सुरसुरी, पद्‌मावती), आलवार आण्डाल, अक्क महादेवी, कश्मीर की ललद्यद, दया, सहजो, बावरी साहिबा आदि के साथ 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्त्ता' में उल्लिखित ढेर सारी भक्तिनों और इन सबकी मूर्द्धन्य मीराबाईभले समाज, संस्कृति, धर्म या साहित्य की पितृसत्तात्मकता का विकल्प न साध सकीं, परन्तु किसी हद तक प्रतिरोध तो रच ही सकीं। यह ठीक है कि आमतौर पर विद्रोह होने भर का महत्त्व नहीं होता, बल्कि विद्रोह के स्वरूप, उसके प्रतिफलसामाजिक प्रदेय के आधार पर उसका मूल्यांकन होता है।[162] परन्तु, यह भी सच है कि किन्हीं सन्दर्भों में विद्रोह होना भर बड़ी बात हो जाता है। कारण, वह चाहे जैसा हो, पर जड़ता को किसी न किसी मात्रा में तोड़कर, कुछ न कुछ अग्रगामी संक्रमण रचता ही है। अठारह



सौ सत्तावन का जन-विद्रोह अपने स्वरूप में चाहे लाख अनगढ़, अव्यवस्थित या किन्हीं मतों से सामन्ती छाया में रहा हो तथा अपने निर्धारित उद्देश्य में वह भले सफल न हो सका, पर यह सच कौन झुठला सकता है कि ब्रिटिश पराधीनता से ग्रस्त देश का वह पहला स्वाधीनता-संग्राम था? यह दृष्टान्त मीरा के मूल्यांकन के समय सतत स्मरणीय है। यह ठीक है कि मीरा पितृसत्तात्मक संरचना का विध्वंस न कर सकीं, पर क्या यह कम बड़ी बात है कि स्त्री को हर प्रकार से दलने-छलने और उसकी जुबान तक छीनकर उसे पूरी तरह निगल जाने वाली, तत्कालीन धर्म-समाज व राजनीति की संगठित गुंडागर्दी को वे अपने जीवन में उठाये गये कुछ कदमों, कुछ चुनावों के द्वारा खुली चुनौती दे सकीं, बल्कि उसके लिए व्यवस्थित वाणीकाव्यभाषा भी साध सकीं, वह भी स्त्री की बेजुबानी के उस दौर में? अपने विद्रोह के संक्रामक प्रभाव के साथ पितृ-संरचना में भूचाल लाते हुए, किसी सीमा तक दूसरी परम्परा का प्रतिसंसार वे रच सकींक्या यह कम बड़ी चीज है? उस समय के लिहाज से तो बेशक यह बड़ी बात है, पर आज के समय में भी एक आम मध्यवर्गीय भारतीय कन्या/स्त्री का मीराबाई बनना, स्त्री पर थोपे गये सारे विधि-निषेध तोड़कर, खुलेआम अपना मनचाहा कुछ कर पाना, रच पाना या बोल पाना अथवा अपने मनचाहे को खुलेआम गले लगाना ही बहुधा एक बड़ी बात (बल्कि विद्रोह तक) माना जाता है, तो ऐसी स्थिति में मीरा की बात कितनी बड़ी हो जाती है, सहज अनुमेय है। पाकिस्तान में बेनजीर, बंगला देश में शेख हसीना या भारत में इन्दिरा के हाथों स्त्री का यदि कुछ (विशेष) न हो सका, तो भी इनका राष्ट्र-नायिका बनना ही उस समाज में क्या कम बड़ी बात है, जहाँ सबबिध व सबसे लायक रज़िया को सुल्तान बनाने की बात पर व्यवस्था की मूँछें नीची होने लगती थीं? भक्तिकाल में सत्ता (फ़ारसी) व शास्त्र (संस्कृत) की भाषा से वंचित व बहिष्कृत शूद्र-वर्ग के साथ स्त्रियों ने भी बोलना सीखाअपनी मातृभाषा में कुछ कहना-गाना सीखा, भेद-व्यवस्था के तिरस्कार का साहस तो उनमें जगाकुछ नहीं तो वे पहचान में तो आने लगीं। यही क्या छोटी बात थी? परन्तु, यक्षप्रश्न से भी बड़ा द्रौपदी-प्रश्न[163] है कि इसमें भक्तिकाल का क्या योग-दान था? क्या यह सब बाई-प्रोडक्ट नहीं था? तमाम देश-कालों, स्थितियों, स्तरों से निकले भक्तिकालीन साहित्यिक व साहित्येतर (धार्मिक आदि) स्वरों से छनकर जो मूल्य-संरचना संस्थागत आकार लेती है, वह क्या स्त्री की पीड़ा/उत्पीड़न को महसूस करने, समझने व बदलने का आह्वान करती थी? शायद नहीं। उस युग में जब बुद्धि/ज्ञान से वंचित ढेर सारे समूह शास्त्र/ब्राह्मण के समानान्तर, आत्मानुभवी सन्तों की छाया में बैठकर ज्ञान-पिपासु हो रहे थे, तब उनमें क्या स्त्रियाँ भी थीं? यदि हाँ, तो सन्त रूप गुरु मर्द न थे? शिक्षा के भी बहाने स्त्री को सीमित करने वाले न थे? 'स्त्री को शिक्षा मिलेगी, तो उसमें विवेक जगेगा, विवेक से उसे अपनी प्रस्थितियों का अवबोध होगा, अवबोध से उनके प्रति विद्रोह पैदा होगा और विद्रोह से जगेगा उस का दला-कुचला-सुलाया गया

व्यक्तित्व!' क्या इस शृंखलाबद्ध प्रक्रिया के लिए उक्त मूल्य-व्यवस्था का समर्थन भाव था? समर्थन नहीं, तो सहने का ही भाव था? शायद नहीं। यह 'शायद' शायद 'बिल्कुल' में बदल जाए, यदि हम भीतर से स्त्री होकर सोचें (कबीर की तरह स्त्री बनकर नहीं), चाहे ऊपरी/जैविक रूप से पुरुष हों या स्त्री। सामन्ती समाज में घर के संत्रास से बचने के लिए, (एंगेल्स के अनुसार) चकलाघर का ही विकल्प मौजूद रहता हैतब भक्तिकाल ने उसमें एक और विकल्प जोड़ा गिरजाघर/मठ का, बिना पहले विकल्प को छेड़े या ध्वस्त किए। लेकिन, वहाँ पहले से बैठे जो डँसने वाले साँप, नोच-नोच कर खाने वाले गिद्ध या चबा डालने वाले भेड़िये हैं, उनसे स्त्री को बचाने का कोई उपाय या आश्वासन भक्तिकाल के पास या भक्तिकाव्य में था? उसकी देह से भी ज्यादा मन पर पड़े घावों को सहला भी पाने की तमीज़ उसके पास थी? या, धर्म के नशेड़ी आज के इस समाज के पास है? इन सवालों के उत्तर चाहिए तो उन कारणों से औरतों के पेट पर पड़े बेडौल भार अथवा गटर में फेंके गये नवजातों/अजन्माओं (के पार्थिव शरीरांशों) को देखिये और पूछिये अपने-आप सेजिन्हें नाज़ है हिन्द पर वे कहाँ हैं?[164]

## संदर्भ और टिप्पणियाँ

1. दक्षिण भारत का भक्ति-आन्दोलन आलवारों के साथ 7-8वीं शताब्दी में शुरु होता है। तमिल में भक्ति-साहित्य की रचना जब (13वीं शताब्दी में) थम जाती है, तब वह हिन्दी में शुरु होती है। भक्ति-आन्दोलन व साहित्य-रचना की व्याप्ति हिन्दी-प्रदेश में चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक रही है, जो इतिहास में तुगलक वंश (1320-1414) से मुगलवंश (शाहजहाँ, 1627-1658) का शासन-काल रहा है। भक्ति-आन्दोलन के शास्त्रीय/दार्शनिक आधार निर्मित करनेवाले प्रमुख आचार्य हैंरामानुजाचार्य (1017-1137), निम्बार्काचार्य (1114-1162), मध्वाचार्य (1197-1276), रामानन्द (1400-1476), वल्लभाचार्य (1479-1530) आदि।
   हिन्दी भक्ति-साहित्य का प्रारम्भ महाराष्ट्र के निर्गुण सन्त नामदेव (1270-1350) से माना जा सकता है। मराठी के साथ उन्होंने हिन्दी में भी कुछ छन्द रचे थे। उनके बाद आये कबीर हिन्दी-प्रदेश के प्रथम प्रभावी रचनाकार हैं।
2. Houslisting and housing dataè वेबसाइट http://censusindia.gov.in Census of India 2011
3. प्रेमचन्द की कहानी 'बड़े घर की बेटी'।
4. ढोल गँवार सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी ॥ (लंकाकाण्ड-58/3, रामचरितमानस)
5. नारी कुण्ड नरक का बिरला थम्भै बाग।



   कोई साधुजन ऊबरै, सब जग मूँवा लाग ॥
   ('कामी नर कौ अंग', 15/कबीर-ग्रन्थावली)
6. सुकदेव कह्यौ सुनौ हो राव। नारी नागिनि एक सुभाव ॥
   नागिनि के काटैं विष होइ। नारी चितवत नर रहै न भोइ ॥
   'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड-3, नवम स्कन्ध, पद-230, पृष्ठ 198
   'सम्पूर्ण सूरसागर'लोकभारती टीका (5 खण्ड) के सम्पादक डॉ. किशोरीलाल गुप्त के अनुसार दो सूरदास हुए हैं। पहले हैं वल्लभाचार्य के शिष्यअष्टछापी सूरदास सारस्वत, जिनका काल 1535-1640 ई. के बीच तथा जन्मस्थान दिल्ली-मथुरा के बीच का सीही ग्राम है। दूसरे हैंचन्द के वंशज सूरदास ब्रह्मभट्ट हैं, जो अकबर के दरबारी गायक तथा (वल्लभाचार्य के पौत्र व विट्ठलनाथ के पुत्र) गोकुलनाथ के शिष्य थे, जिनका रचनाकाल 1667-1690 ई. तथा जन्मस्थान आगरा-मथुरा के बीच का साही ग्राम था। डॉ. गुप्त के अनुसार, पहले सूरदास का पद-संग्रह श्रीकृष्ण-लीलात्मक है, जिसे उन्होंने 'सम्पूर्ण सूरसागर' के प्रथम दो खण्डों में संयोजित किया है तथा दूसरे सूरदास का पद-संग्रह द्वादश-स्कन्धात्मक है, जिसे उन्होंने 'सम्पूर्ण सूरसागर' के शेष 3 खण्डों में संयोजित किया है।
   इस आलेख में 'सूरसागर' और उसके रचनाकार का इस प्रकार द्विविभाजन न करते हुए, उन्हें एकीकृत/समेकित रूप से उद्धृत व विचारित किया गया है।
7. ''भक्ति आंदोलन का आविर्भाव एक ऐतिहासिक-सामाजिक शक्ति के रूप में, जनता के दुःखों और कष्टों से हुआ, यह निर्विवाद है।''मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू' आलेखमुक्तिबोध।
8. 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास' पुस्तकों में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत।
9. 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ-34।
10. 'मध्ययुग के सन्तों का सामान्य विश्वास' ('हिन्दी-साहित्य की भूमिका' से/आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी)
11. डॉ. विद्यानिवास मिश्र का कथन है''सगुण-निर्गुण की भूमियाँ ऐसी अलग नहीं हैं, जैसा कि इतिहासकारों ने अन्तिम सत्य के रूप में मान लिया है। तथाकथित दोनों की नींव में सदाचार पर बल है, परपीड़ा से द्रवित होने में ही भगवद्-उपस्थिति का प्रमाण माना गया है दोनों में नाम-जप का विशेष माहात्म्य है। दोनों में भक्ति के लिए गुरु से दीक्षा प्राप्त करने पर बल है और दोनों में भेदों के अतिक्रमण, जाति, कुल, पद-प्रतिष्ठा, धन-वैभव की विशेषताओं का अतिक्रमण करना भक्ति का प्रमुख लक्षण है। दोनों ही में जन-सामान्य तक भगवद्भक्ति के सन्देश को पहुँचाना परम अभीष्ट है। दोनों में उल्लेखनीय

यह है कि सहज होना भगवत्कृपा की पात्रता के लिए सबसे अधिक आवश्यक है।'' (भूमिका, 'रैदास-रचनावली'गोविन्द रजनीश)

12. मुक्तिबोध ने इस स्थिति का बेहतर बयान किया है''जो भक्ति-आंदोलन जनसाधारण से शुरु हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका मनुष्य-सत्य बोलता था, उसी भक्ति-आन्दोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया और उससे समझौता करके (कृष्ण भक्ति काव्य में), फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके, और अनंतर जनता के अपने तत्त्वों को उनमें से निकालकर, उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व (रामभक्ति काव्य द्वारा) स्थापित कर लिया।...इन कवियों ने भ्रमरगीतों द्वारा निर्गुण मत से संघर्ष किया और सगुणवाद की प्रस्थापना की। वर्णाश्रम धर्म की पुनःस्थापना के लिए सिर्फ एक ही कदम आगे बढ़ना जरूरी था। तुलसीदास जी के अदम्य व्यक्तित्व ने इस कार्य को पूरा कर दिया। इस प्रकार भक्ति-आन्दोलन जिस पर प्रारंभ में निम्न जातियों का सर्वाधिक जोर था, उस पर अब ब्राह्मणवाद पूरी तरह छा गया और सुधारवाद के विरुद्ध पुराण-मतवाद की विजय हुई।''मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू' आलेख

निर्गुण और सगुण रचनाकारों में केवल संवेदना का नहीं, भाषा का भी द्वन्द्व है। निर्गुण कवि अपनी-अपनी मातृभाषा में रचते थे, जो सीधी जन-भाषा थी। सगुण कवि जन-भाषा के संस्कारित/गढ़े गये रूप में रचते थे, जिनका उनकी मातृभाषा/उनके रचना-समाज की भाषा से सम्बन्ध होना कोई जरूरी नहीं थाजिसे कुछ लोग भाषा के स्तर पर रूढ़ि का सर्जन/पालन कहेंगे।

इसके साथ, निर्गुण और सगुण काव्यों की परिणतियों में भी फ़र्क है। सगुण काव्य (विशेषतः कृष्णकाव्य) की ही परिणति रीतिकाव्य में हुई, निर्गुण काव्य की नहीं।

13. ''आश्चर्य है कि कई प्रकार से विष्णु और जीव के रूप की व्याख्या करने वाले सभी आचार्यों के बीच ब्राह्मण की सर्वश्रेष्ठता को लेकर कोई विवाद नहीं है। मतलब यह है कि ईश्वर के नाम पर आचार्य बँटे हुए थे, पर जाति के नाम पर सभी एक थे। जाहिर सी बात है कि भक्ति के लिए जाति-बन्धन की ढील एक प्रकार से श्रद्धालु वर्ग की आबादी को विस्तार देने का औज़ार थी।''हिन्दी-साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास', राजेन्द्र प्रसाद सिंह।

इसके साथ, यह भी ध्यातव्य है कि तुलसी द्वारा निर्गुण व सगुण में अभेद का प्रस्तावित दर्शन वस्तुतः सगुण अवतारवाद को निर्गुण-प्रेमियों तक भी स्वीकार्य बनाने के उद्देश्य से प्रेरित है, जो एक तरह से निर्गुणपंथियों द्वारा जातिवादी समाज के ध्वंस हेतु उठायी गयी आवाज़ों को कमजोर करने के लिए, वर्णाश्रम-संरक्षक सगुण अवतारवाद को व्यापक स्वीकृति दिलाने के लिए किया गया बौद्धिक प्रयास है।

14. कबीरजौ पै पतिब्रता ह्वै नारी, कैसे ही रही सो पियहिं पियारी।
तन मन जीवन सौपि सरीरा, ताहि सुहागिन कहै कबीरा ॥
('कबीर-ग्रन्थावली', पद -139)

तुलसीएकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा ॥
(अरण्यकाण्ड- 4/5, रामचरितमानस)

सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभगति लहइ।
(अरण्यकाण्ड5-क, रामचरितमानस)

सुन्दरदासपति ही सूँ प्रेम होय, पति ही सूँ नेम होय,
पति ही सूँ छेम होय, पति ही सूँ रत है।....
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
सुन्दर सकल बिधि एक पतिब्रत है ॥('सुन्दर-बिलास'/रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 49 से उद्धृत)

दादूपतिव्रता गृह आपणे करे खसम की सेव।
ज्यों राखे त्यों ही रहे आग्याकारी टेव ॥('निहकर्मी पतिव्रता का अंग'-35, 'दादू-ग्रन्थावली')

केशवदासजोग-जाग ब्रत आदि जू कीजै। न्हान मानगुन दान जु दीजै।
धर्म-कर्म सब निष्फल देवा। होहि एक फल पति कै सेवा ॥ ('रामचन्द्रिका')

सूरदासजुवती सेवा तऊ न त्यागै, जौ पति करै कोटि अपकर्म।'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड-3, पद 912

जायसीसोई पियारी पियहि पिरीति। रहे जो सेवा आयसु जीती ॥ ('पदमावत')

नानककुंचिल कुरूप कुनारि कुलखनी पिउ कउ सहज न जानियाँ।

15. 'मध्यकालीन उत्तर भारत में हिन्दू महिलाओं की सामाजिक स्थिति' (सन् 1206-1707 ई. तक) पुस्तक (डॉ. कमला गुप्ता) में उद्धृत के.एम. अशरफ़ ('लाइफ़ ऐण्ड कण्डीशन्स ऑफ़ दि पीपुल ऑफ़ हिन्दुस्तान', दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1959, पृष्ठ 26) से।

16. बिहँसी धनि सुनि कै सत भाऊ। हौं रामा तू रावन राऊ ॥
('पद्मावती-रतनसेन-भेंट खण्ड', चौपाई 28/1)

पुहुप सिंगार सँवार सब, जोबन नवल बसन्त।
अरगज जिमि हिय लाइ कै, मरगज कीन्हेउ कन्त ॥33॥
बिनय करै पद्मावति बाला। सुधि न, सुराही पिएउ पियाला ॥
पिउ आयसु माथे पर लेऊँ। जो माँगै नइ नइ सिर देऊँ ॥
पै, पिय! बचन एक सुनु मोरा। चाखु पिया! मधु थोरै थोरा ॥

('पद्मावती-रतनसेन-भेंट खण्ड', दोहा 33 व चौपाई 33/1-3)

17. स्रक चन्दन बनितादिक भोगा। देखि हरष बिसमय बस लोगा ॥
('अयोध्याकाण्ड'214/4, 'रामचरितमानस')

18. 'मध्यकालीन उत्तर भारत में हिन्दू महिलाओं की सामाजिक स्थिति' (सन् 1206-1707 ई. तक) पुस्तक (डॉ. कमला गुप्ता) मध्यकाल में व्यापक तौर पर हो रहीं सती-हत्याओं का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। उसमें बल-प्रयोग द्वारा स्त्री को सती बनाने और वैधव्य की भावी लांछना, तिरस्कार, अभाव आदि परिस्थितियों की बाध्यता से सती बनने की विवशता का उद्‌घाटन इब्न बतूता (मोरक्को, 1304-1368 या 1369) के वृत्तान्त, ट्रेवेनियर (फ्रान्स, 1605-1689, 'ट्रैवल्स इन इण्डिया'), फ्रांसिस्को पैल्सर्ट (1591-1630, 'जहाँगीर्स इण्डिया'), विलियम फोस्टर ('अर्ली ट्रैवेल्स इन इण्डिया') आदि को उद्धृत कर किया गया है। उसमें फ्रान्सिस बर्नियर (फ्रान्स, 1625-1688, 'ट्रैवेल्स इन मुगल इण्डिया') की आँखों-देखी घटना का जिक्र है, जिसमें लाहौर में बारह साल की लड़की, जो जार-बेजार रो रही थी, काँप रही थी, उसे हाथ-पैर बाँधकर चिता पर जलाया गया था।

स्त्री व पुरुष को ले कर स्मृतिकारों के अन्यायपूर्ण दुहरे मानदण्ड (Double Standard) का उल्लेख करते हुए डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने कहा है''स्त्रियों के चरित्र के सम्बन्ध में इन्होंने बड़े परिश्रम से वृहती आचार-संहिता (code of conduct) का निर्माण किया, परन्तु पुरुषों के लिए किसी छोटे से भी आचार के नियमों को नहीं बनाया। जहाँ इन धर्म-शास्त्राचार्यों ने विधवा स्त्रियों के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करते हुए उनके द्वारा निषिद्ध कर्मों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत की, वहाँ विधुर पुरुषों के कर्त्तव्य के समय इनकी वाणी मौन-व्रत का अवलम्बन कर लेती है। इसी प्रकार से सती स्त्री के लिए जहाँ सहमरण या अनुमरण की व्यवस्था की गयी है, वहाँ पत्नी के अभाव में पति को कैसा आचरण करना चाहिए, इसका कहीं भी प्रतिपादन नहीं पाया जाता। इन स्मृतिकारों ने अक्षत-योनि बाल-विधवाओं के भी विवाह का बड़ी निर्दयता के साथ विरोध किया है, जिससे समाज में अनाचार न फैल सके, परन्तु पुरुषों के सम्बन्ध में इनकी इस सदाचार-प्रियता का कहीं पता नहीं चलता। पुरुषों के लिए बहुविवाह की छूट देकर इन स्मृतिकारों ने एक प्रकार से उन्हें अनाचार के लिए 'लाइसेन्स' प्रदान कर दिया है। जहाँ दुधमुँही अक्षतयोनि बाल-विधवा को काम-वासना से पराङ्‌मुख होने का उपदेश दिया गया है, वहाँ उच्च वर्ण के पुरुषों के लिए दो, तीन किंवा चार विवाह तक करने की व्यवस्था दी गयी है। 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी, नववर्षा तु रोहिणी' का उपदेश करने वाले इन धर्मशास्त्रियों ने एक ओर तो बाल-विवाह का प्रचार किया है



और दूसरी ओर विधवा-विवाह का प्रचण्ड विरोध करके, असहाय अबलाओं को सामाजिक अत्याचार के महोदधि में डूबने के लिए डाल दिया है, जिसमें घुट-घुटकर वे मर जाएँ। स्त्रियों के दाय-भाग के सम्बन्ध में भी इन स्मृतिकारों के विचार बड़े ही संकुचित हैं। पुत्रहीन विधवा स्त्री अपने पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकती, इस कठोर नियम का विधान करना इनके लिए न्यायोचित नहीं था। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन स्मृतिकारों के लिए पुरुष तथा स्त्री के चरित्र एवं आचरण को नापने के लिए दो भिन्न-भिन्न मापदण्ड थे। अतः, वे निष्पक्ष तथा न्यायपूर्ण निर्णय करने या व्यवस्था देने में असमर्थ पाये जाते हैं।''हिन्दू-विवाह की उत्पत्ति और विकास', पृष्ठ 366-367

19. 'भक्ति-काव्य और हिन्दी-आलोचना' ('अनभै साँचा' पुस्तक में पृष्ठ 13)

20. अरे इन दोहुन राह न पाई।....
मुसलमान के पीर-औलिया मुर्गी-मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहै घरहि में करै सगाई ॥
बाहर से एक मुर्दा लाए धोय-धोय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिलि जेंवन बैठीं घर-भर करत बड़ाई ॥
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई ॥
('अन्तरा' भाग-1, पृष्ठ 121, एन.सी.ई.आर.टी.)

21. ''लड़कियों को भी पढ़ाइये, किन्तु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई की जाती है जिसमें उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिये कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति करैं और लड़कों को सहज में शिक्षा दें।'' ('भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, 'अन्तरा भाग 1, पृष्ठ 113)

22. जीववैज्ञानिक साक्ष्य है कि स्त्री-युग्मक (अण्डाणु) ही भ्रूण रूप में ढलता है। पुरुष-शुक्राणु तो उसे सिर्फ़ द्विगुणित (डिप्लायड) करने का हेतु है। फिर, क्लोनिंग तो इस प्रकार के द्विगुणन यानी शुक्राणु की अनिवार्यता को भी ठेंगा दिखा रहा है। इस के साथ, भ्रूण के सन्तान रूप में परिणत होने के लिए आवश्यक क्षेत्र (गर्भाशय) तो स्त्री के ही पास है। इस तरह, स्त्री ही इन्सान मात्र का समूचा जैविक कारण है। ठीक है कि उस समय जीववैज्ञानिक उन्नति इस सीमा तक न थी कि लोगों को यह समझ में आ जाता, किन्तु 'निर्माणाधीन (गर्भगत) सन्तति का भार वही ढोती है और जन्म-बाद दूध पिलाना ही नहीं, बल्कि हर तरह के उस लालन-पालन के लिए भी सर्वाधिक जिम्मेदार वही है, जो जिम्मेदारी कमोबेश पुरुष भी उठा सकता था'यह

प्रत्यक्ष सत्य भी क्या लोगों को समझ में नहीं आया अथवा वे समझना ही नहीं चाहते थे? आज भी इस नज़रिये में कोई ज्यादा फ़र्क नहीं आया है। तभी तो बच्चे का अभिभावक (चाहे प्रतीकात्मक हो या वास्तविक) प्रायः हर जगह पिता ही है।

23. 'मनमौजी' (1962) फ़िल्म का गीत।

24. 'दुर्गासप्तशती' के सह-अंग 'अर्गलास्तोत्र' का 24वाँ श्लोक दर्शनीय है
पत्नीं मनोरमां देहि मनोवृत्तानुसारिणीम्। तारिणीं दुर्गसंसारसागरस्य कुलोद्भवाम् ॥चण्डी-पाठ में हर साधक इसे पढ़ता है। सवाल है, साधक यदि स्त्री हो, तो क्या करेगी? चण्डी-पाठ की वह अधिकारी बनायी गयी होती, तो ऐसे श्लोक क्यों बनते?

25. यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति ॥('दुर्गासप्तशती', 5/120)

25.1 केरल के 'सबरीमाला मन्दिर' में 10 से 55 वर्ष की स्त्रियों के प्रवेश पर रोक है, क्योंकि इस दौरान वे रजस्वला होती हैं। इस रहस्य के खुल जाने पर कि अभिनेत्री जयमाला वहाँ 1987 में प्रविष्ट हुई थी, 2006 में पुजारियों ने 'मन्दिर भ्रष्ट हो गया' का शोर मचाया । उन्होंने कहा कि मन्दिर को पवित्र करने में दो वर्ष का समय और कई लाख रुपये लगेंगे। जयमाला पर कानूनी कार्रवाई की बात भी चल रही थी। ('कादम्बिनी', अगस्त-2006)
लोगों के दावों के अनुसार जो ईश्वर सब को पवित्र व पापमुक्त करने वाला है, वह भी अपवित्र हो गया! इस ज़ाहिलपन और संगठित दुष्टता का ठिकाना है!

26. नारी बैरण पुरुष की, पुरुषा बैरी नारि।
अंत काल दोनों मुये, दादू देखि बिचारि ॥
नारि पुरुष को ले मुई, पुरुषा नारी साथ।
दादू दोनों पच मुये, कछू न आया हाथ ॥
नारी पीवे पुरुष को, पुरुष नारी को खाइ।
दादू गुरु के ज्ञान बिन, दोनों गये बिलाइ ॥
('माया का अंग'- 168, 169, 171, 'दादू-ग्रन्थावली')

27. कामणि काली नागणीं, तीन्यूँ लोक मँझारि।
राग सनेही, ऊबरे, बिषई खाये झारि ॥
काँमणि मीनीं पाँणि की, जे छेड़ीं तौ खाइ।
जे हरि चरणाँ राचियाँ, तिनके निकटि न जाइ ॥
जहाँ जलाई सुंदरी, तहाँ तूँ जिनि जाइ कबीर।
भसमी ह्वै करि जासिसी, सो मैं सवा सरीर ॥



नारी नाहीं नाहेरी, करै नैन की चोट।
कोई एक हरिजन ऊबरै पारब्रह्म की ओट ॥
नारी सेती नेह, बुधि बबेक सबही हरै।
काँढ गमावै देह, कारिज कोई नाँ सरै ॥
नारि नसावै तीनि सुख, जा नर पासैं होइ।
भगति मुकति निज ग्यान मैं, पैसि न सकई कोइ ॥
एक कनक अरु काँमनी, विष फल कीएउ पाइ।
देखै ही थे विष चढ़े, खायै सूँ मरि जाइ ॥
एक कनक अरु काँमनी दोऊ अंगनि की झाल।
देखें ही तन प्रजलै, परस्याँ ह्वै पैमाल ॥
सुंदरि थे सूली भली, बिरला बचौ कोय।
लोह निहाला अगनि मैं, जलि बलि कोइला होय ॥
कामी अमीं न भावई, विषई कौं ले सोधि।
कुबधि न जाई जीव की, भावै स्यंभ रहो प्रमोधि ॥
('कामी नर कौ अंग',1,2,5,6,8,10,11,12,16,19, 'कबीर-ग्रन्थावली')

28. अपनी हालिया प्रकाशित बहुचर्चित कृति 'अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उन का समय' में प्रो. पुरुषोत्तम अग्रवाल ने यह प्रतिपादित किया है कि कबीर परम्परा (भारतीय सूफ़ी-परम्परा) से कान्ता-भाव की साधना-पद्धति प्राप्त करते हैं, पर 'नारी बनने की साधनात्मक युक्ति अपनाते-अपनाते कबीर उस युक्ति से आगे बढ़ जाते हैंक्योंकि वे कवि हैं।'
(पृष्ठ- 369) इस प्रक्रिया में, परमात्मा के प्रति प्रेम के गहनतम क्षण की रचना के दौरान उन के अभ्यन्तर का सहज/स्वतः स्त्रीकरण हो जाता है। 'केवल साधनात्मक युक्ति के रूप में औरतपन को अपना लेने की बजाय कबीर की कविता प्रेमानुभूति के प्रसंग में नारी की कविता ही बन जाने का बोध कराती है। (पृ. 365) 'वह प्रेमाभिव्यक्तियों के धरातल पर नारी की कविता है, नारी के बारे में कविता नहीं। (पृ. 368)
कबीर की अन्तश्चेतना का नारीभवन (= स्त्री हो जाना) और उसके तहत प्रेम को स्त्री की तरह देखना एक तथ्य है। पर, सवाल है उसकी व्याख्या का। इस तथ्य को प्रो. अग्रवाल इस व्याख्या में रूपायित करते हैं कि कबीर कम से कम शुरुआत तो करते हैंकाव्य-संवेदना में नारी बन कर। 'कबीर की महत्ता इस बात में है कि कम से कम कविता के क्षणों में तो शाश्वत स्त्रीत्व को अपने आप में व्यापने देते हैं।', बकौल प्रो. अग्रवाल, कबीर की कविता मर्यादावादी संस्कारों पर टिके संसार के समानान्तर संवेदना और प्रश्नाकुलता का एक प्रतिसंसार रचने का काम करती हैसारी मर्यादाओं और संस्थाओं

के आकलन का मानदण्ड प्रेम को बना कर (बजाय इसके कि प्रेम को संस्थाओं के अनुकूल बना दिया जाए) प्रेम की निजी पीर को हर तरह के अन्याय के प्रतिकार का मुहावरा बनाती है। (पृ. 365) किन्तु, असली सवाल हैकबीर का यह नारीभवन स्त्री के पक्ष में पड़ता है कि विपक्ष में? (भले कबीर के सन्दर्भ में समस्या की शक्ल इस तरह न हो'जान बचाने के लिए, कथित जनानी पोशाक (सलवार-कमीज या बुरका) पहनने को जब हमारे बाबा व मुल्ला बाध्य होते हैं, तो वह स्त्री के पक्ष में जाता है कि विपक्ष में?) समस्या यह उठती है कि उन्हें प्रेम-काव्य की संवेदना के लिए स्त्री बनने की ज़रूरत क्यों पड़ी? अग्रवाल जी का कहना है'स्त्रीत्व कबीर के लिए प्रेम करने की क्षमता का, प्रेम के कर्त्ताभाव का रूपक है। प्रेम की क्षमता पाने के लिए ही वे कविता में नारी का रूप धारण करते हैं।' (पृ. 379) क्या प्रेम स्त्री के लिए ही ज्यादा सहज चीज है, बिल्कुल स्वभाव जैसी? इस सम्बन्ध में, उनका मत है'असल में स्त्री और पुरुष अलग अलग तरह से प्रेम करते हैं। एक तरह में प्रेम एडवेंचर है, तो दूसरी में समूचा जीवन।'( पृष्ठ 385) अग्रवाल जी के अनुसार, इस अन्तर्दृष्टि को आयत्त कर लेते हैं कबीर। ऐसा होना कबीर की उपलब्धि की तरह वे देखते हैं, किन्तु ज़रूरत है इसे समस्या की तरह देखने की। कबीर ऐसी नारी का रूप भी तो धर सकते थे, जो थोपे गये विवाह-सम्बन्ध से परे अपने प्रेम के लिए स्पेस (जार?) की तलाश कर रही होजिसे कबीर पानी पी-पी कर कोसते हैं (नारि कहावै पीव की, रहै और सँग सोय। जार सदा मन में बसै, खसम खुशी क्यों होय ॥)। कबीर की सीमा यह है कि प्रेम की क्षमता पाने के लिए वे कविता में सामन्ती विवशता में लिपटी नारी का ही रूप धारण करते हैं, उससे इतर स्वतन्त्र-आत्मचेतस् नारी का नहीं। यानी, कबीर जो नारी बनते हैं, वह पैदा हुई नारी नहीं है, बल्कि बनायी गयी नारी हैयही सबसे ख़तरनाक बात है। उनके ऐसे नारीभवन में अपनी हर दुर्गति के रास्ते पर बढ़ने को मज़बूर स्त्री के स्वाभाविकीकरण का ख़तरा है। 'कबीर की साधना स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को कविता के समानान्तर संसार में नये सिरे से रचती है। संसार में भले ही स्त्री माया होलेकिन कविता के संसार में तो वही प्रेम की विधायिका, कर्त्ता और द्रष्टा है।' (पृ. 367) सवाल तो वही है कि ये सब है कौन सी नारी, जो पैदा हुई है या जो बना दी गयी है (और बना दिये गये को 'माया' आदि रूप में बतायी गयी है जो)? और, विधायिका आदि है किस प्रेम की? स्व-चयनित और समता के धरातल पर घटित रागात्मकता का परिणाम-स्वरूप, गुनगुनाता प्रेम? या, थोपे गये पतित्व/पत्नीत्व के तहत स्त्री को घुट-घुट कर जीने के लिए मज़बूर करने वाला और उसे चिता तक पहुँचा कर दम लेने वाला



सामन्ती संरचना का क्रूर प्रेम?

अग्रवाल जी के मत से, 'कबीर की काव्य-संवेदना की यह फाँक गौरतलब है।' (पृ.357) जो 'साधना के पल को स्त्री की दृष्टि से रचने वाले समाज के सच को स्त्री की दृष्टि से नहीं देख पाते?'(पृ. 382) इसे वे उनकी 'प्रेम-धारणा की सब से दुखद सीमा' करार देते हैं। 'नारी-निन्दा के प्रत्यक्ष उपदेशों के साथ मिल कर यह सीमा कुछ लोगों को अवसर देती है कि वे अपनी स्त्री-विरोधी कुण्ठाओं और घृणाधारित फ़ैण्टेसियों के पक्ष में कबीर तथा अन्य सन्तों को इस्तेमाल कर सकें।' (पृ. 391)

सवाल है, उक्त अन्तर्दृष्टि के रहते समाज के समग्र सच को (असली) स्त्री की निगाह से देख भी कैसे पाएँगे? क्योंकि उक्त अन्तर्दृष्टि को आत्मसात् करने यानी पुरुष व स्त्री के प्रेम करने के ढंग में अन्तर को मान लेने की अगली गति कहीं पुरुष और स्त्री में ही अन्तर को मान लेने तक न चली जाएयानी, जो स्त्री-पुरुष जन्म लेते हैं, उनकी जगह, बनायी गयी स्त्री और बनाये गये पुरुष ही को सत्य मान लेने तक। ऐसा मान लेना ज़ेण्डरवाद के मूलस्त्रीत्व-पुंस्त्व जैसे कोटि-भेदको मान लेना है। वस्तुतः कबीर आदि के स्त्री बनने की अधिरचना के पीछे का आधार हैसमाज की पितृसत्तावादी संरचना और साथ में उसी के तहत परमात्मा के मर्द रूप की अवधारणा। उनके स्त्रीकरण की बुनावट का आधार हैउस समाज में निर्मित हो चुकी स्त्री की छवि व नियति, जिससे (प्रेमकाव्य के संवेदन-क्षण में) वे तदात्म हो जाते हैं। कबीर के आलोचकों को इस दिशा में खुलकर विचार करने की आवश्यकता है।

प्रो. अग्रवाल को इस बात की चिन्ता है कि कबीर के द्वारा अपने 'साधनात्मक स्त्रीत्व को सामाजिक स्त्री-विमर्श में बदलने का जरूरी काम नहीं हो पाता।' (पृ. 391) इस पर पहला प्रश्न जगता है कि प्राथमिक कौन सा है? यदि साधनात्मक स्त्रीत्व आप के पास है, पर सामाजिक स्त्री-विमर्श नहीं है, तो साधनात्मक स्त्रीत्व आया कहाँ से? पोथी/परम्परा से ऊपर-ऊपर? एक सामान्य व्यक्ति जो पोथी या किसी ज्ञान परम्परा से जुड़ा नहीं हो, उस का रास्ता यही होता है कि पहले समाज/लोक में जीते, अनुभव करते, कुछ सामाजिक विमर्श करे, फिर उस के विकास-क्रम में उसे दार्शनिक/आध्यात्मिक/साधनात्मक स्तर तक पहुँचाए । कबीर जैसे व्यक्ति के लिए यही कहा जा सकता है कि जात-पाँत आदि सन्दर्भों में उन का सामाजिक समता का दर्शन प्राथमिक है, वह आध्यात्मिक समता के दर्शन से प्रेरित हो कर नहीं खड़ा हुआ है, बल्कि उनकी अनुभूति में पहले आये कटु सामाजिक यथार्थ-बोध से उपजा है। इसी तरह उन का साधनात्मक स्त्रीत्व भी स्त्री के बारे में उनकी प्रत्यक्ष संवेदनाओं व सोच का ही रूपान्तर होना चाहिए, जिसके लिए प्रो. अग्रवाल

के ही शब्दों में कहा जा सकता है'उनकी कविता नारी के समर्पण भाव के साथ उसकी सामाजिक स्थितियों की भी व्यंजना करने लगती है। ....साधना में नारी-भाव साधते-साधते कवि कबीर नारी की नियति और उसकी अवश मनोरचना से तद्रूप हो जाते हैं।' (पृ. 369) जिससे प्रेम में नारी बनते कबीर के लिए जितनी आत्मीय है उनके पिया की सेज, उतनी ही निकट है श्मशान को मीत कहती, चिता पर बैठी सती की पुकार। (पृ. 367) यानी, कबीर की तत्त्व-नारी वस्तुतः लोक में उनके द्वारा दिन-रात अनुभूयमान पिण्ड-नारी की ही परिणति होनी चाहिए। अग्रवाल जी कहते हैं कि 'शाश्वत स्त्रीत्व की अवधारणा यदि रूपक की बजाय काव्य-वस्तु बन कर कबीर की कविता में व्यापती तो वे साधना के बाहर भी स्वयं को और समाज को स्त्री की निगाह से भी देख पाते।'यहाँ भी पूछना चाहिए कि समाज को देखना पहले होता है या काव्यवस्तु बनाना पहले, वह भी कबीर जैसे कवि के बारे में जिस की कविता सामाजिक सवालों से जुड़ी है?

एक जगह प्रो. अग्रवाल कहते हैं कि 'स्त्री-रूप धारण करने की उनकी विवशता, उनका साधनात्मक स्त्रीत्व स्वयं ही उनकी संस्कारगत नारी-निन्दा के सामने सवाल बनकर खड़ा हो जाता है। ज़रूरत इस सवाल को और मुखर, और सघन करने की है।'(पृ. 391) उनके मत से, कबीर की ऐसी विवशता 'पॉलिटिकली करेक्ट प्रोजेक्ट' वाली न होकर, प्रेम-संवेदना-जनित है। पर, इसके साथ, वे एक और कोटि की विवशता की चर्चा करते हैं'शाश्वत स्त्रीत्व उन पुरुषों की भी मज़बूरी बन जाता है, जो न तो स्त्री की प्रेम-क्षमता को स्वीकार कर पाते हैं, न बोध-क्षमता को।' (पृ. 373) तो, फिर इस कोटि की मज़बूरी के आरोप से कबीर को वे क्यों बरी सा करने लगते हैं? यदि प्रो. अग्रवाल की उपर्युक्त सिद्धि के अनुसार यह मान लें कि कबीर को स्त्री की प्रेम-क्षमता पर भरोसा था (जिसके कारण वे अन्तर से अनायास स्त्री बन जाते हैं), तो भी यह कैसे मान लें कि उनका उस स्त्री की बोध-क्षमता पर भरोसा था, जो (कबीर के मत से) नागिन है, माया है, खुद गिरी हुई है और पुरुष को गिराने वाली है? वास्तविक सामाजिक धरातल पर स्त्री के प्रति संवेदनहीन (या उससे बढ़कर घोर निष्ठुर) व्यक्ति के, स्त्री की किसी क्षमता पर भरोसे की बात किसके गले उतरेगी?

29. सती पुकारै सलि चढ़ी, सुनी रे मीत मसाँन।
लोग बटाऊ चलि गए, हम तुझ रहे निदान ॥
सती बिचारी सत किया, काठौं सेज बिछाइ।
ले सूती पीव आपणा, चहुँ दिसि अगनि लगाइ ॥
सती सूरा तन साहि करि, तन मन कीया घाँण।



दिया महौल पीव कूँ, तब मड़हट करै बषाँण ॥
सती जलन कूँ नीकली, पीव का सुमरि सनेह।
सबद सुनन जीव निकल्या, भूति गई सब देह ॥
सती जलन कूँ नीकली, चित धरि एकबमेख।
तन मन सौंप्या पीव कूँ, तब अंतर रही न रेख ॥
हौं तोहि पूछौं हे सखी, जीवत क्यूँ न मराइ।
मूँवा पीछे सत करै, जीवत क्यूँ न कराइ ॥
('सूरा तन कौ अंग', 33-38, 'कबीर-ग्रन्थावली')

कौन ठगवा नगरिया लूटल हो?
चन्दन खाट कै बनत खटोला, तापर दुलहिन सूतल हो।
उठो सखी, मोर माँग सँवारो, मोसे पिया रूठल हो।
चारि जने मिलि खाट उठाइन, चहुँ दिसि धू-धू ऊठल हो।
('अकथ कहानी प्रेम की' पुस्तक से गृहीत, पृष्ठ 367)

दुलहिनि तोहि पिय के घर जाना।
काहे रोवो, काहे गावो, काहे करत बहाना?
काहे पहिर्‌यौ हरि-हरि चुरियाँ, पहिर्‌यौ प्रेम कै बाना?
कहैं कबीर सुनो भाई साधो पिया बिन नाहिं ठिकाना ॥
'कबीर' (आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी) में संकलित 'कबीर-वाणी' का 179वाँ पद (पृष्ठ 252)

30. दादू पुरुष हमारा एक है, हम नारी बहु अंग।
जे जे जैसे ताहि सौं, खेलैं तिस ही रंग ॥
('निहकर्मी पतिव्रता का अंग'-57, 'दादू-ग्रन्थावली')

31. ''जिस तरह पत्नी की असंदिग्ध आज्ञाकारिता ही पति की पितृसत्ता को सम्पूर्णता देती है, ठीक उसी प्रकार सम्पूर्ण समर्पण ईश्वर की सत्ता को स्थापित व परिपूर्ण करता है। साफ तौर पर यह दासता, चाहे सामाजिक हो या पितृसत्तात्मक, बदले में कुछ पाने की चाह रखती है। जहाँ यह अपना कर्त्तव्य स्वीकारती है, वहीं अधिकारों पर भी उस का दावा है।''कुमकुम संगारी ('मीराबाई और भक्ति की आध्यात्मिक बाज़ार-नीति', 'स्त्री-काल' पत्रिकाअंक 4, पृष्ठ- 23)

32. ''इस भक्ति-दर्शन में तत्कालीन सत्ता वर्ग की जीवन-पद्धति की गहरी छाया है। कृष्ण के वात्सल्य, बाल-लीला और बाल-पराक्रम में उस समय के कम उम्र में बनने वाले राजा, उनके जीवन-यापन की महिमा और उनके द्वारा जीती जाने वाली जंगों की छवि साफ देखी जा सकती है। इससे तत्कालीन सत्ता-वर्ग में चल रहे प्रसंगों को न्यायपूर्ण ठहराया जाता है, तो दूसरी तरफ राज-वर्ग के

अन्तःपुरों में स्त्रियों के साथ इस बालक राजा द्वारा किये जा रहे सभी प्रकार के क्रिया-कलापों को मान्यता मिलती है। दर्शन को इस रूप में सामने लाकर वे शासक-वर्ग के सब सहयोगों के पात्र हो गये। कृष्ण-भक्ति परम्परा यदि कालान्तर में राजाश्रयी हो गयी, तो उसके लिए भी यह दर्शन ही जिम्मेदार रहा। ....यदि वल्लभ-सम्प्रदाय के पूरे यूटोपिया को ध्यान से देखा जाए, तो आगरा की सत्ता के समानान्तर वृन्दावन, रत्न-जड़ित पूरा का पूरा तामझाम, हरम की तर्ज पर हज़ारों स्त्रियाँ, बादशाह की जीवन-प्रक्रिया से टक्कर की अष्टयाम सेवा। झरोखा-दर्शन की तरह के मन्दिरों के पट खुलना, बन्द होना। सब कुछ और उससे इक्कीस।''अनुराधा ('स्त्री- वस्तुकरण की प्रक्रिया और राधा का विकास', 'फ़िलहाल', मई 2009)

33. ''गुरु गोरखनाथ द्वारा निर्दिष्ट योग-साधना के अन्तर्गत बीज-रूप में प्रायः वे ही सब बातें प्रधानतः दीख पड़ती हैं, जिनका प्रचार आगे चलकर कबीर साहब आदि सन्तों ने किया।''आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ('उत्तर भारत की सन्त परम्परा')
34. ''ब्रह्म हिन्दुओं की विचार-पद्धति में ज्ञानमार्ग का एक निरूपण था, उसी को कबीर ने सूफ़ियों के ढर्रे पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का भी विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया।''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ('हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 43)
35. दिवसै बाघणि मन मोहै राति सरोवर सोषै।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया घरि घरि बाघणि ॥
नदी तौरै बिरषा नारी संगै पुरुषा अलप जीवन की आसा।
मनथैं उपज मेर षिसि पड़ई ताथैं कन्ध बिनासा ॥
'राग-सामग्री','गोरखबानी', पृष्ठ 156-157
(स्त्री के साथ रहने वाले पुरुष की अवस्था नदी किनारे के पेड़ के जैसी होती है। उसके जीवन की कम आशा होती है। माया नारी रूप में मन को मोहती है और रात्रि को शुक्र-स्खलन द्वारा अमृत सरोवर को सोखती है। इस प्रकार मूर्ख लोग जान-बूझकर घर-घर में बाघिन को पोसते हैं।)
36. ''जब हम स्त्री में लिप्त होते हैं, प्रेम करते हैं तो वह शृंगार होता है और जब हम भागते हैं, तब वह अध्यात्म होता है।''राजेन्द्र यादव ('स्त्री-काल, अंक-4 में दिये साक्षात्कार से)
37. गंगयमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी। बलात्कारेण गृह्णीयात् तद् विष्णोः परमं पदम् ॥('हठयोग-प्रदीपिका' 3-101, 2, 'कबीर'आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 73 से उद्धरण)
ब्रह्मरन्ध्रे हि यत्पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम्। तत्र कन्दे हि सा योनिः तस्याः



चन्द्रो व्यवस्थितः ॥ त्रिकोणाकृतिस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम्। ( 'शिवसंहिता', 5-103, 'कबीर'आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी), पृष्ठ 49) से उद्धरण।

38. योषा वा अग्नि गौतम तस्य उपस्थ एव सम्मिल्लोमानि धूमो योनिः अर्चिर्यदन्त करोति ते अंगाराः। अभिनन्दा विस्फुलिंगाः तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ। देवा रेतौ जुह्वति तस्मादाहुत्यै पुरुषः सम्भवति।'बृहदारण्यकोपनिषद्', 6-2-13
सा चेदस्मै न दद्यात् काममेनाभवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात् काममेनां यष्ट्या वा पाणिनावोप हन्याति क्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति।'बृहदारण्यकोपनिषद्', 6-4-7
(पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से पत्नी के पास पति के जाने पर) वह पति को यदि मैथुन न करने दे, तो पहले उसे वस्त्राभूषण देकर अपने प्रति प्रेमासक्त करे। इतने पर भी वह मौका न दे, तो पति इच्छानुसार दण्ड का भय दिखा कर उससे जबरदस्ती समागम करे। यदि यह भी सम्भव न हो, तो कहे कि तुझे शाप दे कर बन्ध्या बना दूँगा।
39. ''खसम का अर्थ सब समय उन्होंने निकृष्ट पति समझा। इन्द्रिय-वधुओं का खसम के साथ सूतने अर्थात् यौगिक क्रियाओं द्वारा मुग्ध बने रहने को उन्होंने कुछ इसी अर्थ में प्रयोग किया। फिर खसम वह पति है जो अपनी पत्नी को वश न कर सके और इन्द्रियों के दास मन को भी, इसीलिए कबीरदास ने कभी-कभी खसम कहा है।''('कबीर', पृष्ठ-70)
40. तुम्ह तिरिया मति हीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै घर-नारी ॥
राजा भरथरि सुना जो ग्यानी। जेहि के घर सोरह सै रानी ॥
कुच लीन्हें तरवा सहराई। भा जोगी कोउ संग न लाई ॥
('जोगी खण्ड' 6/1 व 6/4-5, 'पदमावत')
41. 'जायसी'- प्रो.विजयदेव नारायण साही
42. एक दिवस पदमावति रानी। हीरामन तई कहा सयानी ॥
सुन हीरामन कहौ बुझाई। दिन-दिन मदन सतावै आई ॥
पिता हमार न चालै बाता। त्रासहि बोल सकहि नहि माता ॥
देस देस के बर मोहि आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं ॥
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह-देह हम लाग अनंगा ॥
('जन्म खंड' 6/1-5, 'जायसी का पदमावत : शास्त्रीय भाष्य')
(किसी प्रति में यह पाठ भी मिलता है )
कँवल भँवर ओही बन पावै। को मिलाइ तन तपनि बुझावै ॥
नववधू की मिलनाकांक्षा की परवाह न कर, युद्ध के लिए उतावला होकर बादल प्रस्थान कर रहा है। रोकने पर पत्नी को वह डाँट देता है। तब वह कहती हैहे कन्त! यदि युद्ध करना ही चाहते हो तो शृंगार-क्षेत्र में युद्ध-सज्जा

सजाए हुई मुझ स्त्री से रति-युद्ध करो। तब संग्राम में जाना। मेरा यौवन आज तुम्हारे सामने युद्ध करने को खड़ा है। मेरी भौंहें धनुष हैं, नैन बाण हैं और काजल की रेखा डोरी। अलकों का फन्दा गरदन में ऐसा अटूट हो गया है कि अधरों से अधरों की भिड़न्त हुए बिना वह छूट नहीं सकता। मैं हाथी के कुम्भस्थल की तरह अपने दोनों मदमस्त कुच तुम्हारी तरफ ठेल रही हूँ, उनकी चोट सम्हालो!

जौं तुम्ह जूझि चहौ पिय बाजा। किहें सिंगार जूझि मैं साजा ॥
जोबन आइ सौंह होइ रोपा। बिखरा बिरह काम दल कोपा ॥ ....
भौंहें धनुक नैन सर साँधे। काजर पनच बरुनि बिख बाँधे ॥ ....
अलक फाँस गियँ मेलि असूझा। अधर अधर सौं चाहै जूझा ॥
कुम्भस्थल दुइ कुच मैमन्ता। पेलौं सौंह सँभारहु कन्ता ॥

('गोरा-बादल युद्ध-यात्रा खण्ड', पद - 7)

42.1. स्त्रीणां द्विगुण आहारो बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा।
साहसं षड्गुणं चैव कामोष्ट गुण उच्यते ॥मूल चाणक्य नीति, 1-17

43. युद्ध के लिए प्रस्थान करते बादल को उस की नव-विवाहिता पत्नी रोकती है, तो वह उत्तर देता हैस्त्री और भूमि खड्ग के अधीन रहती है। जो खड्ग का विजेता होता है, उसी के अधीन वह हो जाती है। जिसके हाथ में तलवार होती है, उसकी ही मूँछ गाढ़ी रहती है। जहाँ खड्ग नहीं, वहाँ मूँछ और दाढ़ी भी नहीं रहती। हे स्त्री! तू अबला है, भ्रष्ट-बुद्धि या मूढ़मति है। तू युद्ध के महत्त्व को नहीं समझती। जिस पुरुष के हृदय में वीर रस है, उसे शृंगार अच्छा नहीं लगता।

तिरिया पुहुमी खड़ग कै चेरी। जीतै खड़ग होइ तेहि केरी ॥
जेहि घर खड़ग मोंछ तेहि गाढ़ी। जहाँ न खड़ग मोंछ नहिं दाढ़ी ॥

('गोरा-बादल युद्ध खण्ड', दोहा 5 के बाद )

तुइ अबला धनि कुबुध बुधि जानै काह जुझार।
जेहि पुरुषहि हिय बीररस भावै तेहि न सिंगार ॥

('गोरा-बादल युद्ध खण्ड', दोहा-6)

नागमती को धाय समझाती है या कवि का ही प्रतिपादन है कि जो स्त्री पति की आज्ञा में रहती है और हीन बन कर उस की सेवा करती है, वही निर्मल चाँद की तरह शोभा पाती है, उसी का जन्म मलिन नहीं होता

रहै जो पिय के आयुस औ बरतै होइ हीन।
सोह चाँद अस निरमल, जनम न होइ मलीन ॥

('नागमती सुआ संवाद खण्ड', दोहा - 7)

44. 'रत्नसेन सत्ता और शक्ति को पीछे छोड़ कर केवल प्रेम के सहारे पद्मिनी को



पाने का प्रयत्न करता है और सफल होता है। अलाउद्दीन पद्मिनी के लिए चित्तौड़ पर चढ़ाई करता है। उसके पास प्रेम के सिवा सब कुछ है सत्ता, शक्ति और धार्मिक उन्माद भी।''भक्तिकाव्य और हिन्दी-आलोचना' ('अनभै साँचा', पृष्ठ 19)

45. 'जायसी'प्रो. विजयदेव नारायण साही।

46. ''कवि का आग्रह है कि पद्मावत की कथा पर, निर्दिष्ट संकेतों को ध्यान में रखकर विचार किया जाए, पर वैसा करने पर भी पाठक की उलझन पूरी तरह सुलझ नहीं पाती। संकेतों का स्पष्ट रूप इस प्रकार होगाचित्तौड़ = तन, रत्नसेन = मन, सिंहल = हृदय(मन), पद्मावती = बुद्धि, नागमती = दुनिया-धन्धा (माया), अलाउद्दीन = माया, राघवचेतन = शैतान, हीरामन तोता = गुरु। ....शुक्ल जी ने पहले तो पद्मावती को 'परमात्मा से मिलाने वाला ज्ञान या बुद्धि' माना है पर पीछे बात बनती न देख, उसे चैतन्यस्वरूप परमात्मा कह दिया है। ....बुद्धि (पद्मावती) की प्राप्ति के बाद रत्नसेन को माया (नागमती) से दूर जाना चाहिए ...परन्तु रत्नसेन उससे दूर क्या होगा, उसके पास पुनः लौट आता है तथा पद्मावती (बुद्धि) और नागमती (माया) को समान भाव से देखता है! यही नहीं; नागमती (माया) अन्त अन्त तक उसका साथ नहीं छोड़ती। बल्कि रत्नसेन के शव के साथ सती हो जाती है, अतः दूसरे लोक में भी उसने साथ नहीं छोड़ा होगा! माया का ऐसा दृढ़ बन्धन तो अदृष्टपूर्व है! यदि पद्मावती को परमात्मा का प्रतीक मानें तो और भी गड़बड़ है। तब तो इसका अर्थ यह होगा कि साधक (रत्नसेन) परमात्मा को प्राप्त करने के बाद भी लौट कर सांसारिक माया-जाल में उलझ जाता है, जो न उचित है, न सम्भव!''आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ('हिन्दी कवियों का मूल्यांकन', पृष्ठ 74-76)

47. 'जायसी'प्रो. विजयदेव नारायण साही।

48. 'त्रिवेणी' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ 22, 24, 27।

49. ऐ रानी! मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी ॥
जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलन आजू ॥
पुनि सासुर हम गवनब काली। कित हम, कित यह सरवर पाली ॥
कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलि कै खेलब एक साथा ॥
सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारुन ससुर न निसरै देहीं ॥
पिउ पियार सिर ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख, दहुँ कस जनम निबाह ॥2॥ ('मानसरोदक खण्ड', चौपाई 1/3-7 व दोहा 2)

50. राखत बारि सो पिता निछोहा। कित्त बियाहि अस दीन्ह बिछोहा ॥

मिलहु सखी! हम तहवाँ जाहीं। जहाँ जाइ पुनि आउब नाहीं ॥
हम तुम मिलि एकै सँग खेला। अन्त बिछोह आनि गिउ मेला ॥
कन्त चलाई का करौं आयसु जाइ न मेटि।
पुनि हम मिलहिं कि ना मिलहिं, लेहु सहेली भेंटि ॥6॥
धनि रोवत रोवहिं सब सखी। हम तुम देखि आपु कहँ झँखी ॥
तुम्ह ऐसी जौ रहै न पाई। पुनि हम काह जो आहिं पराई ॥
आदि अन्त जो पिता हमारा। ओहु न यह दिन हिये बिचारा ॥
छोह न कीन्ह निछोही ओहू। का हम दोष लाग एक गोहूँ ॥
मकु गोहूँ कर हिया चिराना। पै सो पिता न हिये छोहाना ॥

('रतनसेन बिदाई खण्ड', चौपाई 4/7, 5/2, 5/6, दोहा 6 व चौपाई 6/1-5)

51. कंचन करी जरी नग जोती। बरमा सौं बेधा जनु मोती ॥
नारँग जानि कीर नख दिए। अधर आमरस जानहुँ लिए ॥

('पद्मावती-रतनसेन-भेंट खण्ड', चौपाई 29/6-7)

भएउ जूझ जस रावन रामा। सेज बिधाँसि बिरह संग्रामा ॥
लीन्हि लंक कंचनगढ़ टूटा। कीन्ह सिंगार अहा सब लूटा ॥
औ जोबन मैमन्त बिधाँसा। बिचला बिरह जीउ जो नासा ॥
टूटे अंग अंग सब भेसा। छूटी माँग, भंग भए केसा ॥
कंचुकि चूर-चूर भइ तानी। टूटे हार, मोति छहरानी ॥
बारी, टाँण सलोनी टूटी। बाँहू कँगन कलाई फूटी ॥
चदन अंग छूट अस भेंटी। बेसरि टूटि, तिलक गा मेटी ॥
पुहुप सिंगार सँवार सब, जोबन नवल बसन्त।
अरगज जिमि हिय लाइ कै, मरगज कीन्हेउ कन्त ॥33॥

('पद्मावती-रतनसेन-भेंट खण्ड', चौपाई 32/1-7 व दोहा 33)

बेलि जो राखी इन्द्र कहँ, पवन बास नहिं दीन्ह।
लागेउ आइ भौंर तेहि, कलि बेधि रस लीन्ह ॥37॥
हँसि-हँसि पूछहिं सखी सरेखी। मानहुँ कुमुद चन्द्रमुख देखी ॥
रानी! तुम ऐसी सुकुमारा। फूल बास तन जीव तुम्हारा ॥
सहि नहिं सकहु हिये पर हारू। कैसे सहिउ कन्त कर भारू?
मुख अम्बुज बिगसौ दिन-राती। सो कुँभिलान कहहु केहि भाँती?

('पद्मावती-रतनसेन-भेंट खण्ड', दोहा 37 व चौपाई 37/1-4)

आजु मरम मैं जाना सोई। जस पियार पिउ और न कोई ॥
हिया थार कुच कंचन लाडू। अगमन भेंट दीन्ह कै चाँडू ॥

('पद्मावती-रतनसेन-भेंट खण्ड', चौपाई 38/3 व 39/5)



52. हिया थार कुच कंचन लारु। कनक-कचोर उठे जनु चारु ॥
कुन्दन बेल साजि जनु कूँदे। अमृत रतन मोन दुइ मूँदे ॥
बेधे भौंर कण्ट केतकी। चाहहि बेध कीन्ह कंचुकी ॥
जोबन बान लेहि नहिं बागा। चाहहि हुलसि हिये हठ लागा ॥
अगिनि-बान दुइ जानौं साधे। जग बेधहि जौं होहि न बाधे ॥
उतँग जँभीर होइ रखवारी। छुइ को सकै राजा को बारी ॥
दारिउँ दाख फरे अनचाखे। अस नारंग दहुँ का कँह राखे ॥
राजा बहुत मुए तपि लाइ लाइ भुँइ माथ।
काहू छुवै न पाए, गए मरोरत हाथ ॥

('नख-शिख खण्ड', 15 वाँ पद)

चन्दन-माँझ कुरंगिनी खोजू। दहुँ को पाउ, को राजा भोजू ॥

('नख-शिख खण्ड', 19वें पद की चौपाई - 3)

53. 'जायसी का पदमावत : शास्त्रीय भाष्य' के पृष्ठ 153 पर श्री गोविन्द त्रिगुणायत ने लिखा है कि स्त्री के गुह्यांग को हरिण के चरण-चिह्न (कुरंगिनि-खोजू या हरिण-खुर) की उपमा प्राचीन काल से दी जाती रही है। जैसे'हरिणीखुर-मात्रेण मोहितं सकलं जगत्।' मंझन ने उसे केवल 'मदन-भंडार' कहकर छोड़ दिया है।
54. 'सौदागर' फ़िल्म (1973) का गीत।
55. 'कबीर-ग्रन्थावली', पद - 126।
56. 'त्रिवेणी' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), पृष्ठ 18।
सती-दहन को महिमा-मण्डित और दाह-दुख को नगण्य बतलाते हुए जायसी का कथन है
सती जो जरै प्रेमसत लागी। जौ सत हिये तौ सीतल आगि ॥
कवि ने सती होने जा रही पद्मावती-नागमती के शृंगार का सम्मोहक चित्रण करते हुए कहा कि पति के प्रेम में अनुरक्त वे जल कर इस दुनिया से चली गयीं। उनके प्रेम की अरुणिमा से स्वर्ग भी अरुणिम हो उठा। 'रातीं पिउ के नेह गईं, सरग भएउ रतनार।' ('पद्मावती नागमती सती खण्ड', 'पदमावत : शास्त्रीय भाष्य')
57. 'फ़िलहाल (संघर्ष-चेतना का मुखर सहयात्री)', अंकनवम्बर, 2007
58. 'मीरा का काव्य' (प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी)।
59. 'मध्यकालीन उत्तर भारत में हिन्दू महिलाओं की सामाजिक स्थिति' (सन् 1206-1707 ई. तक)' पुस्तक (डॉ. कमला गुप्ता) में पृष्ठ 215 पर, ट्रैवेनियर ('ट्रैवेल्स इन इण्डिया', पृष्ठ 406) के हवाले से कहा गया है कि पुरोहित लोग उस स्त्री को कुछ द्रव पदार्थ पिला देते थे, ताकि उसकी चेतना शून्य हो जाए

और मृत्यु के बारे में उसका डर खत्म हो सके और वह उस के लिए तैयार हो जाए।

'धर्मशास्त्र का इतिहास' में पांडुरंग वामन काणे का विचार है कि किसी की मौत के बाद उसके निकट सम्बन्धी के जल मरने की (सती-) प्रथा की शुरुआत किसी धार्मिक दबाववश नहीं हुई थी। वह राज-परिवारों से शुरु हुई, परन्तु जब चल पड़ी तब स्मृतिकारों ने उसे (पुण्य के प्रलोभन/नरक का डर और नाना विधि-विधानों से जोड़ कर) स्थायित्व प्रदान किया। काणे के अनुसार पुरुष भी अपनी स्वामिभक्ति आदि के चलते सहमरण करते थे तथा एक उद्धरण में उन्होंने माता का भी पुत्र-शोक में सहमरण करने का जिक्र किया है। चाहे कुछ भी हो! इस ज़ालिम प्रथा का आधार तो पारलौकिक धार्मिकता और मूलतः स्त्री-विरोधी सामाजिकता ही रहा है। आमतौर पर जो सहमरण/अनुमरण हुए हैं, वे स्त्री द्वारा पति के मरने पर हुए हैं। उसी के लिए शास्त्रों में धार्मिक विधि-विधान बड़े पैमाने पर उपलब्ध हैंयह अकाट्य सत्य है।

सती होने का सब से पुराना अभिलेख गुप्त संवत् 191 का प्राप्त होता है। सती होने वाली अधिकतर स्त्रियाँ बंगाल की रही हैं। वहाँ 'दाय-भाग' (-जीमूतवाहन) के तहत पुत्रहीन विधवाओं को भी पति की सम्पदा का अधिकार था। ऐसी अवस्था में, लालची-निष्ठुर परिवार-जन उसका माल हड़पने के लिए, उसकी पतिभक्ति को उत्तेजित करके, चली आ रही कुप्रथा के तहत उसे भस्म करवा डालते थेउसे मौत के घाट उतार कर, चैन की बंसी बजाते थे। पति-विहीन होने के बाद, भावी दुर्गति से डर कर भी स्त्रियाँ जल मरती थीं। ('धर्मशास्त्र का इतिहास', प्रथम भाग, पृष्ठ 350-352)

60. 'कबीर' ('हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली', खण्ड-4, पृष्ठ 349)।
61. 'कबीर' ('हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली', खण्ड-4, पृष्ठ 72)।
62. ''भक्त के आत्म-बलिदान की झलक कहीं दिख सकती है, तो वह सती और शूर में ही दिखती है।''कबीर'(आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली', खण्ड-4, पृष्ठ 349)।
63. 'कबीर' (आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली', खण्ड-4, पृष्ठ 376)
64. रही एक की भई अनेक की बेस्या बहुत भतारी।
    कहिन कबीर काके सँग जरिहै बहु पुरुसन की नारी ॥
    ('स्त्रीकाल' पत्रिका, अंक 5, पृष्ठ 17)
65. राम पियारा छाँड़ि कर करै आन को जाप।
    बेस्वा केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सूँ बाप ॥
    कबीर ('हिन्दी कवियों का मूल्यांकन', देवेन्द्रनाथ शर्मा से, पृष्ठ 47)



66. हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देइ।
    बेस्या के पाइन तर सोवै, यह देखो हिन्दुआई ॥
    ('अन्तरा' भाग-1, पृष्ठ 121, एन.सी.ई.आर.टी.)
67. सतवन्ती को गजी मिलै नहिं बेस्या पहिरै खासा है।
    जेहि घर साधु भीख न पावै भँडुआ खात बतासा है ॥
    कबीर ('हिन्दी कवियों का मूल्यांकन', देवेन्द्रनाथ शर्मा से, पृष्ठ 58)
    नारि कहावै पीव की, रहै और सँग सोय।
    जार सदा मन में बसै, खसम खुशी क्यों होय ॥
    कबीर ('हिन्दी कवियों का मूल्यांकन', देवेन्द्रनाथ शर्मा से, पृष्ठ 46)
68. दादू बूड़ रह्या रे बापुरे, माया गृह के कूप।
    मोह्या कनक अरु कामिनी, नाना विधि के रूप ॥
    ('माया का अंग'-39, 'दादू-ग्रन्थावली')
69. एक कनक अरु कामिनी, ए दोऊ बटमार।
    मीठी छूरी लाइ के मारा सब संसार ॥
    (सन्त मलूक ग्रन्थावली, सम्पादक बलदेव वंशी, पृष्ठ 31)
70. उदर में नरक, नरक अध द्वारन में, कुचन में नरक, नरक-भरी छाती है।
    कण्ठ में नरक, गाल-चिबुक नरक किंब, मुख में नरक जीभ लालहु चुचाती है ॥
    नाक में नरक, आँख-कान में नरक बहै, हाथ पाँउ नख-सिख नरक दिखाती है।
    सुन्दर कहत नारी नरक को कुण्ड मह, नरक में जाइ परै, सो नरक पाती है ॥
    कामिनी को अंग अति मलिन, महा असुद्ध, रोम-रोम मलिन, मलिन सब द्वार हैं।
    हाड़ मांस मज्जा मेद चाम सूँ लपेटि राखैं, ठौर ठौर रकत के भरेइ भण्डार है ॥
    मूत्रहु पुरीष आँत एकमेल मिलि रहि, और ही उदर माहि बिबिध बिकार है।
    सुन्दर कहत नारी नख-सिख निन्दा-रूप, ताहि जो सराहै सो तो बड़ोई गँवार है ॥ ('सुन्दर-बिलास')
71. कुच-कंचन-कलसा न ये, आम की गाँठ मढ़ील की चाम में।
    बेनी नहिं मृगनैननि की ये नसेनी लगी जमराज के धाम में ॥रसखान
72. कहिसि मेहरिन्ह बुद्धि नहिं रति, हौं अब मरहुँ होहि सती ।उसमान ('चित्रावली' से)
73. जैसे पनहीं पाँव की वैसे तिया सुभाउ। पुरुष पन्थ चलि आपनै, पनही तजै न पाउ ॥ ('चित्रावली' से)
74. कहैं सुजान सुनहु बर नारी। तुम सयानि औ बूझनहारी ॥
    मेहरिन्ह कहैं लोग सब देहरी। धरै असन थिर सोई मेहरी ॥
    औ पुनि घरनि कहै सब कोई। घरहिं सँभारै घरनी सोई ॥ ('चित्रावली' से)
    हिन्दी में काम का अर्थ कार्य है, संस्कृत में काम-वासना (सेक्स)।

75. 'बालम आव हमारे गेह रे...कबीर का नारी-रूप' ('अकथ कहानी प्रेम की' पुस्तक)
76. ''यही भय है जो नियंत्रण की मंशा को पवित्रता के विमर्श में सँवार कर पेश करता है।''बालम आव हमारे गेह रे...कबीर का नारी-रूप' ('अकथ कहानी प्रेम की' पुस्तक)
77. देखिये सन्दर्भ86।
78. असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ ('गीता', 13/9)
    अर्थात्, पुत्र-स्त्री-घर और धन आदि में आसक्ति का अभाव, ममता का न होना तथा प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा ही चित्त का सम रहना ... (यह सब ज्ञान है )।
79. सूर की गोपियाँ जितनी भावुक हैं, उतनी तार्किक नहीं। नन्ददास के 'भँवरगीत' की ब्रज-नागरियाँ भावुक-मात्र नहीं, सही में नागरी (चतुर) हैं, तार्किक हैं। उद्धव के साथ उन का कथनोपकथन पंडित व प्रेमी का डिबेट/ बाकायदा शास्त्रार्थ जान पड़ता है। जैसे
    **उद्धव**जब करियै नित कर्म भक्ति हू या मैं आई।
    कर्म रूप तें कहौं कौन पै छूट्यौ जाई॥
    क्रम क्रम कर्मै के किये कर्म नास ह्वै जाय।
    तब आत्मा निहकर्म ह्वै निर्गुन ब्रह्म समाय॥
    सुनौ ब्रजनागरी!
    **ब्रजबालाएँ**जौ हरि के नहिं कर्म कर्म-बन्धन क्यों आयौ।
    तौ निर्गुन होइ वस्तु मात्र परमान बनायौ॥
    जो उन को परमान है तौ प्रभुता कछु नाहिं।
    निर्गुन भए अतीत के सगुन सकल जग माहिं॥
    सखा! सुनि स्याम के॥
    **उद्धव** जे गुन आवैं नाहिं माहिं नस्वर हैं सारे।
    इन सबहिन तें वासुदेव अच्युत हैं न्यारे॥
    इन्द्री दृष्टि विकार तें रहित अधोछज जोति।
    सुद्ध सरूपी ग्यान की प्रापति तिन को होति॥
    सुनौ ब्रजनागरी!
    **ब्रजबालाएँ**नास्तिक हैं जो लोग कहा जानैं निज रूपै।
    प्रगट भानु कों छाँड़ि गहत परछाईं धूपै॥
    हमरें तौ यह रूप बिन और न कछु सुहाय।
    जो करतल आमलक के कोटिक ब्रह्म दिखाय॥



    सखा! सुनि स्याम के॥('भँवरगीत'-नन्ददास, 25-28)
80. 'मीरा का काव्य' (विश्वनाथ त्रिपाठी)।
81. 'भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य' (प्रो. मैनेजर पाण्डेय)।
82. सुत सन्तान स्वजन बनिता रति घन समान उनई।
    राखे 'सूर' पवन पाखँड हति, करी जो प्रीति नई॥
    'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड-1, पद-40, पृष्ठ, 28
    महामोहिनी मोहि आतमा, अपमार गहिँ लगावै।
    ज्यौं दूती परवधू भोरि कै, लै परपुरुष दिखावै॥
    'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड-1, पद-36, पृष्ठ 26
83. सुकदेव कह्यौ सुनौ हो राव। नारी नागिनि एक सुभाव॥
    नागिनि के काटैं विष होइ। नारी चितवत नर रहै न भोइ॥
    नारी सौं नर प्रीति लगावै। पै नारी तिहिं मन नहिं ल्यावै॥
    नारी संग प्रीति जो करै। नारी ताहि तुरत परिहरै॥
    'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड-3, नवम स्कन्ध, पद 230, पृष्ठ, 198
84. कबहूँ बालक मुँह न दीजिये, मुँह न दीजियै नारी।
    जोइ मन करैं सोइ करि डारैं, मूँड़ चढ़त हैं भारी॥
    'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड 4, पद 1179, पृष्ठ 52
85. ब्रजसुन्दरि नहिं नारि, रिचा स्रुति की सब आहीं।'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड -3, पद 676।
86. कपट तजि, पति करौ पूजा, कहा तुम जिय गुनौ।
    कन्त मानहु, भव तरौगी, और नाहिं उपाइ॥
    ताहि तजि क्यौं बिपिन आईं, कहा पायौ आइ।
    विरध अरु बिन भागहूँ कौ, पतित जौ पति होइ॥
    जऊ मूरख होइ रोगी, तजै नाहीं जोइ॥
    यहै मैं पुनि कहत तुमसौं, जगत मैं यह सार।
    'सूर' पतिसेवा बिना, क्यौं तरौगी संसार॥
    'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड - 1, पद-804 / पृष्ठ - 440
    तजि भरतार और जो भजियै, सो कुलीन नहिं होइ।
    मरैं नरक, जीवत या जग मैं, भलौ कहै नहिं कोइ॥
    'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड-1, पद 805, पृष्ठ 440
87. 'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड 3, नवम स्कन्ध, पद 106, पृष्ठ 66।
    यह डॉ. किशोरीलाल गुप्त कृत टीका का अर्थ है।
    प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने इस का अर्थ अगली पंक्ति 'लोक-बेद बरजत सबै, (रे) देखत नैननि त्रस' से जोड़ कर करते हुए कहा है कि यह 'उस प्रथा की

भर्त्सना ही है और उसके जघन्य रूप के त्रासद प्रभाव की ओर संकेत भी है। ('अनभै साँचा', पृष्ठ 8)।

88. अयोध्याकाण्ड, 37-4, 'श्रीरामचरितमानस'।

89. पद 64, 'भ्रमरगीतसार'।

90. 'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड 1, पद 666, पृष्ठ 374।
''रामायण में दशरथ आदि की लज्जास्पद कहानियाँ हैं, वहाँ राम ऐसे लोग भी थे, जो कम से कम अपनी स्त्रियों को काम-वासना की सामग्री नहीं समझते थे। लेकिन, महाभारत में स्त्री का वह रहा-सहा अधिकार भी उठ गया दीखता है। जब हम स्त्री-समस्या को सामने रख कर महाभारत के दो नायकोंश्रीकृष्ण या अर्जुन का चरित्र देखते हैं, तो शर्म से हमारा सिर नीचा हो जाता है।''रामवृक्ष बेनीपुरी ('वेश्या बनाम सती' निबन्ध, 'रामवृक्ष बेनीपुरी रचना-संचयन')।

91. न्हान को खोले कंचुकी के कसना।
सनमुख ह्वै पिय झाँकि झरोखनि तव अंगुरी दीनी बिच दसना ॥
लज्जित तन कम्पित ह्वै धाई लीन्हें और वसना।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धनधर तबहि लाल लगे हँसना ॥
'अष्टछाप के कवि कुम्भनदास', डॉ. हरगुलाल, पृष्ठ 101

91.1. कान्ह भले हो, कान्ह भले हौ।
अंग-दान हम सौं तुम माँगत, उलटी रीति चलौ हौ ॥
'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड 1, पद 1006, पृष्ठ 540

91.2. लैहों दान सबै अंगनि कौ।
अति मद-गलित, ताल-फल तैं गुरु, इन जुग उरज उतंगनि कौ ॥
'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड 1, पद 1005, पृष्ठ 540
जोबन-दान लेउँगौं तुम सौं।
जाकैं बल तुम बदति न काहुहिं, कहा दुरावति हम सौं ॥
ऐसौ धन तुम लिए फिरति हौ, दान देत एतराति ॥
अतिहिं गर्व तैं कह्यौ न मोसौं नित प्रति आवति जाति ॥
कंचन-कलस महारस भारे, हमहूँ तनक चखावहु।
'सूर' सुनौ, बिन दिए दान के, जान नहीं पावहु ॥
'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड 1, पद 1009, पृष्ठ 542
कनक-कलस रस मोहिं चखावहु, मैं तुम सौ माँगत हौं।
'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड 1, पद 1015, पृष्ठ 544
कहा करौं दधि-दूध तिहारौ, मोसौं नाहिन काम।
जोबन-रूप दुराइ धर्यो है, ताकौ लेति न नाम ॥



'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड 1, पद 1014, पृष्ठ 544

91.3. चीरहरण पर यशोदा से शिकायत करतीं गोपियाँ
जसुमति माइ कहा सुत सिखयौ, हम कौ जैसे हाल किए।
चोली फारि, हार गहि तोरै, देखौ उर नख-घात दिए ॥
'सम्पूर्ण सूरसागर', खण्ड 1, पद 605, पृष्ठ 392

92. 'स्त्री-वस्तुकरण की प्रक्रिया और राधा का विकास' ('फ़िलहाल', मई 2009) आलेख में अनुराधा जी का प्रतिपादन है''तत्कालीन राजसत्ता ने स्त्री को परकीया-रूप में ही अधिक महत्त्व दिया। यदि वल्लभ-सम्प्रदाय और कृष्णभक्ति-परम्परा परकीयत्व को अस्वीकार करती, तो यह राजसत्ता से सीधे टकराहट होती।''इसके साथ, अनुराधा जी यह उचित सवाल उठाती हैं कि क्या यही वह कृष्णभक्ति है, जिसे आचार्य शुक्ल के अनुसार जनता के मुरझाये मनों को हरा-भरा करने के लिए खड़ा किया गया है? शुक्ल जी ने सूर-काव्य में जीवनोत्सव देखा। बालक कृष्ण युवती राधा की नीबी में हाथ डाल दे और युवती उसे रोक पाने में असमर्थ हो! पितृसत्तात्मक विलासिता या सामन्ती उच्छृंखलताओं को जीवनोत्सव कहना कैसा?

93. ''आत्मसमीक्षा के अभाव में भक्ति-काव्य के एक अंश ने आगामी रीति-कवियों को एक भोगवादी मार्ग दिखाया, इस में शक नहीं। ....भक्तियुग किसी हद तक रीतियुग को सरंजाम दे रहा था। नतीजे में उसके लिए यह असुविधाजनक हो सका कि भक्तियुग में भोग-विलास से भरा शृंगार जो परिधि पर बैठा था, उसे केन्द्र में बिठाया जा सके और भक्ति को परिधि की तरह उसकी सुरक्षा का साधन बनाया जा सके।''प्रो. प्रभाकर श्रोत्रिय ('कालयात्री है कविता', पृष्ठ 42)

94. कत बिधि सृजीं नारि जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ॥ (बालकाण्ड 101-3, श्रीरामचरितमानस)
बहुरि बहुरि भेटहिं, महतारी। कहहिं बिरंचि रचीं कत नारी ॥ (बालकाण्ड, 334-4)

95. 'समाज, संस्कृति और कविता का लोकतांत्रिकीकरण तुलसी जैसे कवियों की दृष्टि में कलियुग का सूचक है।'राजेन्द्र प्रसाद सिंह ('हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास', पृष्ठ 31)

96. नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं ॥
गुन मंदिर सुन्दर पति त्यागी। भजहिं नारी परपुरुष अभागी ॥
सौभागिनीं विभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नवीना ॥
सुत मानहिं मातु-पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं ॥
ससुरारि पियारि लगी जब तें। रिपुरूप कुटुंब भए तब तें ॥
अबला कच भूषन भूरि छुधा। धनहीन सुखी ममता बहुधा ॥

सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता। मति थोरि कठोरि न कोमलता ॥
(उत्तरकाण्ड, दोहा 98-ख तथा 902-क के बीच)

97. काह न पावकु जारि सक का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल केहि जग कालु न खाइ ॥
(अयोध्याकाण्ड, 47, दोहावली, 267)

98. महाबृष्टि चलि फूटि किआरी। जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारी ॥
(किष्किन्धाकाण्ड, 14-4)

99. जिअ बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥
(अयोध्याकाण्ड, 64-4)

100. भ्राता-पिता-पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी ॥
होइ बिकल सक मनहि न रोकी। जिमि रबिमनि द्रब रबिहिं बिलोकी ॥
(अरण्यकाण्ड, 28-4)

101. अरण्यकाण्ड, 5।

102. एकइ धरम एक ब्रत नेमा। कायँ वचन मन पति पद प्रेमा।
(अरण्यकाण्ड, 4-5)
बिनु स्रम नारि परम गति लहइ। पतिब्रत धरम छाड़ि छल गहइ॥
(अरण्यकाण्ड, 4-9)

103. बृद्ध रोग-बस जड़ धनहीना। अन्ध बधिर क्रोधी अति दीना ॥
ऐसेहु पति कर किएँ अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना ॥
(अरण्यकाण्ड, 4 - 4 व 5)

104. पति प्रतिकूल जनम जहँ जाई, बिधवा होइ पाइ तरुनाई ॥
(अरण्यकाण्ड, 4-10)

105. सास ससुर गुरु सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥
अति सनेह बस सखीं सयानी। नारि धरम सिखवहिं मृदुबानी ॥
(बालकाण्ड, 333-3)

106. करेहु सदा संकर-पद पूजा। नारिधरमु पति देउ न दूजा ॥
(बालकाण्ड, 101-2)

107. तुलसीस सीलु सनेहु लखि निज किंकरी करि मानिबी ॥
(बालकाण्ड, 335, छंद)
ऐसा ही भाव उसमान की 'चित्रावली' में दामाद को बेटी सौंपते बाप के जरिये व्यक्त हुआ है
कहिसि लेहु यह चेरी जानी। मैं संकल्पौ दै कुशपानी ॥
बोलसु जैस जग रीति। तैं अपने भुजबल यह जीती ॥

108. शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रिय सखीवृत्तिं सपत्नीजने
भत्तुर्विप्रकृतापि-रोषणतया मास्म प्रतीपं गमः
भूयिष्ठं भवदक्षिणा परिजने भाग्येस्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयोः वामाः कुलस्याधयः ॥
(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास, चतुर्थ अंक)
(बड़े-बूढ़ों की सेवा करना; सौतों के प्रति सखीवत् व्यवहार करना, पति निरादर भी करे या विपरीत आचरण करे तो भी क्रुद्ध हो कर उसके प्रतिकूल न होना, दास दासियों के प्रति उदारतापूर्वक व्यवहार कर अपने सौभाग्य पर घमण्ड न करना। जो स्त्रियाँ इस प्रकार व्यवहार करती हैंवे ही गृहिणीपद को प्राप्त करती हैं। इससे अलग स्त्रियाँ कुल के लिए रोगस्वरूप होती हैं।)

109. सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा ॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता ॥
जैहउँ अवध कवन मुहु लाई। नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई ॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं। नारि हानि विसेष छति नाहीं ॥
(लंकाकाण्ड, 60 ख - 4 व 5)

110. जदपि जोषिता नहीं अधिकारी। दासी मन-क्रम-बचन तुम्हारी ॥
(बालकाण्ड, 109 - 1)
अब मोहि आपनि किंकरि जानी। जदपि सहज जड़ नारि अयानी ॥
प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहहू। जौ मो पर प्रसन्न प्रभु अहहू ॥
(बालकाण्ड, 119 - 2 व 3)

111. गूढ़ कपट प्रिय वचन सुनि तीय अधर बुधि रानि।
सुरमाया बस बैरिनिहि सुहृदय जानि पतिआनि ॥ (अयोध्याकाण्ड, 16)
कीन्ह कपट मैं सम्भु सन, नारि सहज जड़ अग्य। (बालकाण्ड, 57 क)

112. नारी सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया ॥
(लंकाकाण्ड, 15 ख - 1 व 2)

113. सुनहि सती तव नारि सुभाऊ, संसय अस न धरिय उर काऊ ॥
(बालकाण्ड, 50-3)
सतीं हृदयं अनुमान किय सब जानेउ सर्बग्य।
कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अग्य ॥(बालकाण्ड, 57 क)

114. सती कीन्ह चह तरहुँ दुराऊ, देखहु नारि सुभाऊ प्रभाऊ ॥
(बालकाण्ड, 52-3)

115. राखिअ नारि जदपि उर माहीं, जुबती सास्त्रा नृपति बस नाहीं ॥
(अरण्यकाण्ड, 36-5)

116. सत्य कहहिं कबि नारि सुभाऊ। सब विधि अगहु अगाध दुराऊ,

निज प्रतिबिम्बु बरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारिगति भाई ॥
(अयोध्याकाण्ड, 46-4)

117. जद्यपि नीति निपुन नर नाहू। नारि चरित जलनिधि अवगाहू ॥
(अयोध्याकाण्ड, 26-4)

118. बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥
(अयोध्याकाण्ड, 161-2)

119. लोभ के इच्छा दंभ बल, काम के केवल नारी। (अरण्यकाण्ड, 38-ख, दोहावली, 265)

120. काम क्रोध लोभादि मद, प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह मँह अति दारुन दुखद, माया रूपी नारी ॥
(अरण्यकाण्ड, 43, दोहावली, 266)

121. 'दीपसिखा सम जुबति तन, मन जनि हेसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग॥(अरण्यकाण्ड, 46-ख)

122. सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता ॥
जपतप नेम जलासय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी ॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरषप्रद बरषा एका ॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सदा सरद सुखदाई ॥
धर्म सकल सरसीरुह बृन्दा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा ॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहै नारि सिसर रितु पाई ॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधियारी ॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना, बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना ॥
(अरण्यकाण्ड, 43 - 1 से 4)

123. अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ता ते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि ॥(अरण्यकाण्ड, 44)

124. जनम पत्रिका बरति कै देखहु मनहिं बिचारि।
दारुन बैरी मीचु कै, बीच बिराजति नारि ॥(दोहावली, 268 )

125. उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनहुँ आन पुरुष जग नाहीं।
मध्यम परपति देखै कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें ॥
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई।
बिनु अवसर भय ते रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई ॥
पतिबंचक परपति रति करई । रौरव नरक कल्प सत परई॥
(अरण्यकाण्ड 4 - 6 से 8)

126. अनुज-बधू, भगिनी, सुत-नारी, सुन सठ कन्या सम ये चारी ॥
इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकई जोई, ताहि बधे कछु पाप न होई।



(किष्किन्धाकाण्ड, 8-4)

127. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद डॉ. रामकुमार वर्मा, बलदेव प्रसाद मिश्र, डॉ. रामविलास शर्मा, प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ. विद्यानिवास मिश्र आदि ने तुलसी को बचाने की खूब कोशिशें की हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी भी तुलसी की महिमा से आक्रान्त हैं, पर नारी-निन्दा के सवाल पर वे मौन हैं। मिश्रबन्धुओं ('हिंदी नवरत्न' पुस्तक), नगेन्द्र ('विचार और विश्लेषण' पुस्तक में 'तुलसी और नारी' लेख) और माताप्रसाद गुप्त ('तुलसीदास' पुस्तक) व रजनीकान्त शास्त्री ('मानस-मीमांसा') को छोड़ कर पुराने लोगों में, तुलसी की नारी-विषयक अनुदारता का तथ्य स्वीकारने वाला शायद ही कोई हो। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी को तो अपनी पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास (समीक्षात्मक विवेचन)' में 'रामचरितमानस के सुन्दर, भावपूर्ण, नीतिपूर्ण, काव्यगुण-पूर्ण प्रसंग' शीर्षक के अन्तर्गत 'जिमि सुतंत्र भएँ....', 'जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं,' 'बृद्ध रोग-बस जड़ धनहीना...', 'अवगुन आठ सदा उर रहहीं' आदि घोर स्त्रीघाती अंशों का भी चयन करते कोई असंगति महसूस नहीं हुई।

**आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**"उन पर स्त्रियों की निन्दा का महापातक लगाया जाता है। पर यह अपराध उन्होंने अपनी विरति की पुष्टि के लिए ही किया है। उसे उनका वैरागीपन समझना चाहिए। सब रूपों में स्त्रियों की निन्दा उन्होंने नहीं की है। केवल प्रमदा या कामिनी के रूप में, दाम्पत्य रति के आलम्बन के रूप में की हैमाता, पुत्री, भगिनी आदि के रूप में नहीं।" ('गोस्वामी तुलसीदास', पृ. 31)

**डॉ. रामकुमार वर्मा**"यदि मानस पर निष्पक्ष दृष्टि डाली जाए तो ज्ञात होगा कि नारी के प्रति भर्त्सना के ऐसे प्रमाण उसी समय उपस्थित किए गए हैं जब नारी ने धर्म के विपरीत आचारण किया है अथवा निन्दात्मक वाक्य कहने वाले व्यक्ति वस्तुस्थिति देखते हुए नीतिमय वचन कहते हैं। ऐसी स्थिति में वे कथन तुलसीदास के न होकर परिस्थिति-विषेश में पड़े हुए व्यक्तियों के समझने चाहिए।" ('हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृ. 424)

**प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी**"वस्तुतः कबीर आदि सन्त जब नारी निन्दा करते हैं तो उन का आशय नारी के सामन्ती रूप की निन्दा करना होता है। नारी जो केवल रमणी है, शरीर है, माँ नहीं, पुत्री नहीं, पतिव्रता नहीं है। ...नारी निन्दा करते समय कबीर ने जो चित्र खींचे हैं, वे प्रायः गलत किस्म की औरतों के हैं जो माया का रूप हैं, जो साधक को साधना-मार्ग से विचलित करती हैं, जिनमें अनन्यता नहीं है। ...हिन्दी ही नहीं, संसार में ऐसे कम कवि

होंगे, जो नारी को तुलसी से ज्यादा समझते हों ...जिन तुलसी ने ढोल गँवार सूद्र पसु नारी लिखा, उन्होंने लिखाकत बिधि सृजी नारी जग माहीं। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ॥ तुलसी नारी-पराधीनता के कारणों को नहीं समझते रहे होंगे, लेकिन उसकी पराधीनता को पहचानते और महसूस करते थे।'' ('मीरा का काव्य', पृ. 44-46)

**बलदेव प्रसाद मिश्र**''विषयों में सबसे प्रबल है कामोपभोग और पुरुषों के लिए इस का प्रधान साधन है प्रमदा अथवा नारी। इसलिए विषय-वासना की निन्दा को अपना प्रधान लक्ष्य बनाने वाले गोस्वामी जी ने नारी-निंदा में कोई कसर नहीं रख छोड़ी है।'' ('तुलसी-दर्शन')

**डॉ. रामविलास शर्मा**ये तुलसी में नारी के प्रति अपार सहानुभूतिशीलता दिखलाते हैं तथा उन के 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी...' आदि नारी-निन्दक वचनों को क्षेपक करार देते हैं तथा मानस की नारी-विरोधी विचार-संरचना के बहुल प्रसंगों की अनदेखी कर जाते हैं। ('तुलसी-साहित्य के सामन्त-विरोधी मूल्य' निबन्ध, 'परम्परा का मूल्यांकन' पृ. 74-89)

**प्रो. देवेन्द्रनाथ शर्मा**''नारी-जाति के प्रति तुलसीदास का पूर्ण आदर भाव है। ...उन्होंने जहाँ नारी की निन्दा की है वह केवल उस के कामिनी-रूप की, जो पुरुष की वासना को उद्दीप्त कर उस की उच्च लक्ष्य प्राप्ति में बाधक है। यों माता, पत्नी, वधू आदि के रूप में वह समाज की स्थिति और प्रगति की साधक है। 'ढोल गँवार सूद्र पसु नारी' में नारी से उनका तात्पर्य वैसी नारी से है जो अपने कर्त्तव्य एवं अधिकार की सीमा का उल्लंघन कर उच्छृंखल और उन्मार्गगामिनी हो जाए। ...वैसे ही शूद्र का अभिप्राय, शूद्र जाति से नहीं बल्कि समाज के उस दुष्ट, दुराचारी व्यक्ति से है जिसे बिना ताड़न के रास्ते पर लाने का और कोई उपाय नहीं है।''('हिन्दी कवियों का मूल्यांकन', पृष्ठ 147-148)

**श्रीनारायण सिंह**''सच पूछा जाए तो तुलसी ने नारियों की अपेक्षा पुरुषों की निन्दा अधिक की है। ...यदि विषयासक्त नारी के विषय में तुलसी ने यह कहा कि वह भ्राता, पिता, पुत्र आदि मनोहर पुरुषों को देखकर विकल हो उठती है, 'सब नर' के विषय में तो यहाँ तक कह डाला कि वह बहिन वा पुत्रियों तक को नहीं मानता।''('क्रान्तिकारी तुलसी', पृष्ठ - 145-146)

उदाहरणस्वरूप उन्हों ने उत्तरकाण्ड से निम्न अंश उठाये

सब नर काम क्रोध रत क्रोधी। देव बिप्र श्रुति सन्त विरोधी ॥ (98-ख, 2)

पर त्रिय लम्पट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने ॥ (99-ख, 1)

कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा ॥ (101,3)

परन्तु, यहाँ ध्यातव्य है कि कलियुग से बिहाल हो गये उक्त नर की दशा है,



न कि उस की स्वाभाविक दशा है। जबकि नारी के स्वभाव में ही वे सारे दुर्गुण सैंकड़ों बार गिनाये गये हैं। पिता-पुत्र तक के प्रति कामुक हो जाने वाला उक्त दुर्गुण भी नारी मात्र में कहा गया, 'विषयासक्त' की शर्त्त तुलसी ने नहीं, श्रीनारायण सिंह ने उनको बचाते हुए रखी है। दूसरी बात, लेखक ने 'जिमि सुतन्त्र भए बिगरहिं नारी...' के प्रसंग में भी कहा कि यहाँ 'अति स्वतन्त्रता' की बात की गयी है (जबकि तुलसी ने 'अति' शब्द न लगाया है), जो नारी के लिए हितकर नहीं है। (पृष्ठ 139) परन्तु, कथित ऐसी 'अति स्वतन्त्रता' पुरुषों के लिए तो अहितकर नहीं बतायी गयी?

**डॉ. ज्ञानवती त्रिवेदी**इन्होंने अपने ग्रन्थ 'गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में नारी और मानव-जीवन में उसका महत्त्व' (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित पीएच.डी. प्रबन्ध) में नारी-निन्दा के तमाम आरोपों से तुलसी को बाइज्जत बरी कर दिया है।

128. डॉ. सुमन राजे द्वारा लिखित 'हिन्दी-साहित्य का आधा इतिहास' इस जानकारी का स्रोत है। उन्होंने बाबर-पुत्रियों गुलबदन बेगम, गुलरुख बेगम के साथ नूरजहाँ, जहाँआरा, जेबुन्निसा आदि मुगल घराने की कवयित्रियों के फ़ारसी-लेखन का विवरण पेश किया है। फिर, गौरी, तिरुमलाम्बा, देवकुमारिका, मधुरवाणी, रामभद्राम्बा, गंगादेवी जैसी हिन्दू-राजघराने की संस्कृत-कवयित्रियों का जिक्र करती हैं। इन दोनों श्रेणियों के बारे में उनका कहना है कि इनका लेखन पति-भाई व पुत्र की महिमा में डूबा हुआ है, जिसमें स्त्रीत्व की छाप नहीं है और न इनमें लोकभाषा को तरजीह दी गयी है। इसी काल में कुछ चारणियाँ भी हुईंझीगा, पद्मा, चम्पा दे, रानी रणधरी आदि, जिनके काव्य डिंगल में लिखे होकर भी रणभूमि में न जा कर रनिवासों में ही घूमते रहते हैं। शेख, सुजान राय, प्रवीण राय, रूपमती, साँई, चन्द्रसखी, गंगास्त्री, यमुनास्त्री, माधवी, ताज और रत्नावली (तुलसीदास की पत्नी) भी काव्य-रचना में निपुण थीं। सन्त-कवयित्रियों में उमा, महदम्बा, इन्द्रामती, मुक्ताबाई आदि के साथ चरणदास की शिष्याओंदया एवं सहजो का भी विवरण डॉ. राजे देती हैं। इनके अलावा, कृष्णावती, गबरीबाई, आनन्दीबाई, महारानी, वृषभानुकुँवरि, जुगलप्रिया, बाघेली, विष्णुप्रसाद कुँवरि, प्रतापकुँवरि बाई, रत्नकुँवरि, चन्द्रकला, बख्तकुँवरि, रामप्रिया आदि का संक्षिप्त विवरण पुस्तक में है। पर, इन सबमें अग्रगण्य मीराबाई का विस्तार से वे विवेचन करती हैं।'भक्ति में अपने को खोजती हुईं मध्ययुगीन कवयित्रियाँ' ('हिन्दी-साहित्य का आधा इतिहास', डॉ. सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृष्ठ 133-168)

राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने सिद्ध-साहित्य में कम से कम तीन स्त्री रचनाकारों का भी योगदान बतलाया गया हैमणिभद्रा, मेखलपा और लक्ष्मीकरा।

('हिन्दी-साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास', गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, पृष्ठ 27)

129. 'हिन्दी-साहित्य का आधा इतिहास' (डॉ. सुमन राजे), पृष्ठ 148।
130. 'हिन्दी-साहित्य का आधा इतिहास (डॉ. सुमन राजे), पृष्ठ 150।
131. 'भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य'प्रो. मैनेजर पाण्डेय।
132. ''यौवनं धन-सम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥''हितोपदेश'
133. 'जनसत्ता' (18 सितम्बर, 1987) में छपी प्रभाष जोशी की यह टिप्पणी दर्शनीय है''रूपकुँवर किसी के धमकाने या उकसाने पर सती नहीं हुई और न ही उसके अपने जीवन में ऐसी कोई अनोखी निराशा छा गयी थी कि पति के साथ जल मरने के सिवाय उसके पास कोई चारा न बचा हो। ...लाखों विधवाओं में से कोई ही सती होने का संकल्प करती है और उसका यह आत्मोत्सर्ग लोगों की श्रद्धा और पूजा का केन्द्र बन जाए, यह स्वाभाविक ही है। इसलिए इसे न तो स्त्रियों के नागरिक अधिकार का सवाल कहा जा सकता है और न स्त्री-पुरुष के भेदभाव का। यह तो एक समाज के धार्मिक और सामाजिक विश्वासों का मामला है।...जो लोग इस जन्म को ही आदि और अन्त मानते हैं, उन्हें सती-प्रथा कभी समझ में नहीं आएगी। वह उस समाज से निकली है, जो मृत्यु को व्यक्ति का सर्वथा अन्त नहीं मानता, बल्कि उसे एक जीवन से दूसरे जीवन की ओर बढ़ने का माध्यम समझता है। ऐसा समाज ही सती-प्रथा के उचित या अनुचित होने पर कोई सार्थक बहस कर सकता है। ....मगर यह अधिकार उन लोगों को नहीं है जो भारत के आमलोगों की आस्था और मान्यताओं को जानते-समझते ही नहीं हैं। ऐसे लोग कोई फैसला देंगे तो उस की वैसे ही धज्जियाँ उड़ेंगी, जैसी राजस्थान हाईकोर्ट के फैसले और सरकार के आदेश की दिवराला में उड़ीं।'' स्रोत'आदमी की निगाह में औरत', पृष्ठ 46-48
134. ''रैदास सन्त मिले मोहि सन्तगुरु, दीन्हा सुरत सहदानी।
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मेरी पीर बुझानी ॥''
'मीराँबाई की पदावली' (परशुराम चतुर्वेदी)
''गुरु मिलया रैदास जी दीनी ग्यान की गुटकी''मीराँबाई की पदावली' (परशुराम चतुर्वेदी)
डॉ. गोविन्द नामदेव के अनुसार, मीराबाई रैदास की समकालीन नहीं, उनसे काफी परवर्ती हैं। इसलिए, यही सम्भव है कि उन्होंने किसी रैदासी सन्त से दीक्षा ली हो, न कि रैदास से। ('रैदास रचनावली', पृष्ठ 30)
135. 'भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य'प्रो. मैनेजर पाण्डेय।
136. 'मीरा का काव्य' (प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी) की 'भूमिका' से।



137. ''सदृश गोपिका प्रेम प्रकट कलजुगहिं दिखायौ।
निरअंकुश अतिनिडर रसिक जस रसना गायौ ॥
दुष्टनि दोष विचार मृत्यु को उद्यम कीयौ।
बार न बाँको भयो गरल अमृत कर पीयौ ॥
भक्ति निसान बजाय के काहू ते नाहिन तजी।
लोकलाज कुलशृंखला तजि मीरा गिरिधर भजी ॥''
'भक्तमाल' (नाभादास), स्रोत'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास', पृष्ठ 148
138. 'धार्मिक-साम्प्रदायिक चरित्र आख्यानों में मीरानिर्मित छवि और यथार्थ', माधव हाड़ा, 'आलोचना' (त्रैमासिक), जुलाई-सितम्बर, 2007।
139. ''जिस समाज में मर्द औरत का कर्त्ता होऔरत का प्रभु होऔरत का नियंत्रक हो, औरत का नियन्ता हो, उस समाज में औरत के साथ, मर्द का कोई और वास्ता भले हो, प्रेम नहीं हो सकता।
''नमकीन चक्की का कट्टा काटने की तरह औरत के होंठ काटने को पुरुषों ने नाम दियाचुम्बन। जिस औरत को इसी किस्म के चुम्बन का तजुर्बा हो, वह तो इसी को चुम्बन समझती है। उसके लिए चुम्बन का अर्थ हैतीखे दाँतों द्वारा काटना, होंठ फूल जाना, छिल जाना, खून छलक आना।...होंठ काटने के बाद पुरुष औरतों के स्तनों के पीछे पड़ जाते हैं। उसे मसल-पीस कर तबाह कर डालते हैं। बार-बार दबोच लेते हैं, नाखूनों से बकोटते हैं, दाँतों से काटते हैं। ...पुरुष अगर औरत को प्यार करता तो उसके जिस्म को भी प्यार कर पाता।
''पुरुष के लिए नारी-शरीर पाना, बाघ के पंजे में हिरन पाने जैसा है।...जब भूख लगी, शिकार किया और खा-चबा लिया। खा-पी कर डकारें लेते हुए, वह अपने अहाते में लौट जाता है।...पुरुष एक्टिव है, नारी पैसिव। नारी अगर पैसिव न हो तो पुरुष को मुश्किल होती है, जैसे हिरण अगर हिले-डुले तो बाघ को मुश्किल होती है।''छोटे-छोटे दुख' (तसलीमा नसरीन)
140. पतंजलि के 'योगसूत्र' के प्रारम्भिक सूत्र हैं'अथ योगानुशासनम् ॥1॥ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥2॥ तदा द्रष्टुः स्वरूपेवस्थानम् ॥3॥' (यानी, योग चित्तवृत्तियों का निरोध है, जिस से द्रष्टा/साधक की अपने स्वरूप में अवस्थिति होती है। यानी, उसे सत्य की उपलब्धि होती है)। इसके बाद, चित्तवृत्तियों के 5 प्रकारों (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति) का स्पष्टीकरण किया गया है, जिनके निवारण हेतु अभ्यास और वैराग्य को साधन बताया गया है। आगे एक सूत्र है'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' ॥23॥ (तब, 24, 25, 26 व 27वें सूत्रों में पतंजलि अपने परिकल्पित ईश्वर का स्वरूप बतलाते हैं।) यानी, ईश्वर की

शरणागति से भी समाधि या अपने स्वरूप में अवस्थिति होती है। यह बेहद महत्त्वपूर्ण सूत्र है, जो इस बात का संकेतक है कि सत्य को पाने के लिए ईश्वरवाद से अलग भी कुछ रास्ते हैं।

141. 'मीरा का काव्य' (प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी)।

142. 'हिन्दी-साहित्य का आधा इतिहास' (डॉ. सुमन राजे), पृष्ठ 23।
इसी पुस्तक के पृष्ठ 25 पर कश्मीरी कवयित्री हब्बा खातून का अनुभव-चित्र देखना मुनासिब होगा
''ससुराल में मैं सुखी नहीं,
मुझे उबारो।
मायके वालो,
मेरा कष्ट निवारो।
चर्खा कातते आँख जो लगी मेरी,
माला टूट गयी चर्खे की।
सास ने तब बाल मेरे खींचे,
मौत सी पीड़ा हुई,
मुझे बचा लो।
मायके वालो,
मेरा कष्ट निवारो।''

143. 'हिन्दी-साहित्य का आधा इतिहास' (डॉ. सुमन राजे), पृष्ठ 26।

144. 'मीरा का काव्य' (प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी) से।

145. ''खीर खांड को भोजन जीमो भाभी ओढो दिखणी चीर
बस्या कूस्या टूकड़ा ये भाभी और मिलेगी खाटी छाय
रो रो भूखा मरो ये भाभी, नहीं मिलेगो हरि आय।''मीरा का काव्य' (प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी) से।

146. ''थे तो राणा जी म्हांणे इसड़ा लागो ज्यों ब्रच्छन में कैर''इसके अलावा भी मीरा कहती हैं''मूरख जण सिंघासण राजा, पण्डित फिरता द्वारां।''मीरा का काव्य' (प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी) से।

147. ''सिसोदियो म्हारो क्या कर लेसी
राणाजी रूठ्यो वारो देश रखासी।''हिन्दी-साहित्य का आधा इतिहास' (डॉ. सुमन राजे), पृष्ठ 148।

148. ''छाँड़ि दई कुल की कानि कहा करिहै कोइ,
सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोकलाज खोई।''

149. 'कहती हैं औरतें' (अनामिका) पुस्तक में प्रस्तुत जनाबाई के भाव का विस्तारित किया हुआ अंश द्रष्टव्य है
''ऐ माधव,
देखो न
कितने तो काम धरे हैं सिर पर
इतना आँटा गूँधना है अभी
इतने कपड़े कूटने हैं
आओ भी,
हाथ बटा दो थोड़ा
या फिर हेर दो
जुएँ ही जरा
कुछ तो करो न, कुछ करो।''कहती हैं औरतें' (अनामिका), पृष्ठ 32, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद।

150. 'मीरा का काव्य' (प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी) से।
''सामन्ती समाज ने स्त्री को सिर्फ तीन नाम दिये हैंपत्नी, रखैल और वेश्या। इसके अलावा वह किसी चौथे सम्बन्ध को स्वीकार ही नहीं करता है। ...मीरा इसलिए विद्रोहिणी हैं कि उन्होंने ईश्वर और भक्ति के माध्यम से अपने को इन सम्बन्धों से मुक्त करने का प्रयास किया था। न वह वेश्या बनीं, न आत्महत्या की। मगर यहाँ भी यह सिर्फ सम्बन्धों से ही मुक्ति नहीं थी, अपने औरत होने या 'शरीर' और सेक्स से भी मुक्ति थी। यह स्थिति अनायास ही कामू के उस कथन की याद दिलाती है, जहाँ वह कहता है 'यह ईश्वर-भक्ति, वस्तुतः मैटाफिजिकल स्यूसाइड है, यानी तत्त्वतः आत्महत्या।' ...कोई भी औरत आत्महत्या या अध्यात्म का चुनाव स्वेच्छा से नहीं करती। उसके पीछे हमेशा सामाजिक और आर्थिक मजबूरियों के जाने-अनजाने दबाव होते हैं।''राजेन्द्र यादव ('आदमी की निगाह में औरत', पृष्ठ 19)

151. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्म-संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ॥('गीता', 4/8)
अर्थात्, साधुओं के उद्धार के लिए, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिए, सम्यक् रूप से धर्म की स्थापना करने के लिए, मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।

152. बिप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार ॥('बालकाण्ड', दोहा-192, 'रामचरितमानस')

153. विगत दिनों (5 जुलाई, 2011) तिरुअनन्तपुरम् (केरल) के 'श्रीपद्मनाभस्वामी मन्दिर' में से निकले अकूत खजाने (1 लाख करोड़) से धर्म के इस शोषक चरित्र का एक हद तक पर्दाफाश होता है। पर, यही एक उदाहरण नहीं है।

154. राहुल सांकृत्यायन (स्रोत'धर्मनिरपेक्षता के मायने', गीतेश शर्मा, पृष्ठ 41)

155. धर्म की इस राजनीति पर पूर्व-प्रधानमन्त्री स्व. विश्वनाथ प्रताप सिंह की ये पंक्तियाँ प्रासंगिक हैं
''भगवान् हर जगह है
इसीलिए
जब जी चाहता है
उसे मुट्ठी में कर लेता हूँ
तुम भी कर सकते हो
पर
हमारे तुम्हारे भगवानों में
कौन महान् है
निर्भर करता है किसकी मुट्ठी बलवान है?''
('एक टुकड़ा धरती एक टुकड़ा आकाश' से)

156. राहुल सांकृत्यायन ने कहा है''यद्यपि धर्म वाले वेश्यालयों का विरोध करते हैं, तो भी उनका विरोध लीपापोती मात्र है। उनमें से कितने ही तो पूजा-स्थानों में वेश्याओं का रखना जरूरी समझते हैं और कितनों के स्वर्ग वेश्याओं के बिना सजाए नहीं जा सकते। हूरों-अप्सराओं-देवदासियों की आवश्यकता मानने वाले भला कब वेश्याओं का उन्मूलन कर सकते हैं?'' ('साम्यवाद ही क्यों', 1934, पृष्ठ 48)

157. 'हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन'प्रो. वासुदेव सिंह (विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी), पृष्ठ 43।

158. ''यह भी माना जाता है कि सभी कवि नारी-निन्दक हैं और नारी को समस्त दुखों का कारण मानते हैं। विडम्बना यह है कि उनमें से अधिकांश ने अपने को प्रिय परमात्मा की बहुरिया के रूप में देखा है। सूफ़ी कवियों ने परमज्योति को नारी के रूप में देखा है। दोनों ही स्थितियों में नारी महँगी हो जाती है। इसीलिए, ये स्त्री की आसक्ति की चाहे निन्दा करें, पर स्त्री-भाव के प्रतिष्ठापक हैं। इनके अक्खड़ भाव का सन्तुलन कान्ता भाव की तरलता में ही होता है।''डॉ. विद्यानिवास मिश्र ('हिन्दी-साहित्य का पुनरालोकन', पृष्ठ- 49)
वाह! क्या तर्क है! 'परमात्मा की बहुरिया' या 'परम ज्योति' वाले पक्ष की असलियत पर चर्चा तो प्रस्तुत आलेख में विस्तार से हो ही गयी है। यहाँ, बात नारी के महँगी हो जाने से शुरु करें। नारी महँगी हो जाती है, सवाल है किसके लिए? उससे किसका फ़ायदा होता है। नारी के महँगी-सस्ती हो जाने, या वैसा बना-बता देने अथवा स्त्री-भाव की प्रतिष्ठा भर कर देने से क्या नारी इन्सान भी बन जाती है? इस प्रतीकवाद या सीमित पूजा भर से उसकी सहज इन्सानियत के पीछे हाथ धोकर पड़ जाने के सन्तों-भक्तों के भारी अपराध का प्रक्षालन हो जाता है (जो सीधे नारी की ही निन्दा पर उतारू थे, न कि डॉ. मिश्र द्वारा प्रचारित स्त्री की आसक्ति की)?

159. ''भक्ति-आन्दोलन नारी को शरीर मात्र नहीं, मन और हृदय से युक्त मनुष्य के रूप में देखता था।''विश्वनाथ त्रिपाठी ('मीरा का काव्य', पृष्ठ-41)

160. ''सतीत्व के यथार्थ गौरव से अनभिज्ञ नारी और उसकी सन्तान से बना हिन्दू-समाज मध्यकाल की विडम्बना रहा।''आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ('भक्तिकाल : पूर्वपीठिका', 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', सम्पादक डॉ. नगेन्द्र)

161. 'कुरुक्षेत्र', रामधारी सिंह 'दिनकर'।

162. ''विद्रोह होना ही बड़ी बात नहीं है, बल्कि विद्रोह का स्वरूप क्या है और सामाजिक अग्रगति में वह कितना सहायक हैयही बड़ी बात है।''साहित्य में मौलिकता का प्रश्न' आलेख (आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी)।

163. यह शब्द प्रो. मैनेजर पाण्डेय की देन हैजो इलाहाबाद में हुए एक सेमिनार ('उत्तरशती के विमर्श और हाशिये का समाज' विषय पर 18-19 फरवरी, 2011 को, 'श्यामाप्रसाद मुखर्जी राजकीय महाविद्यालय, फाफामऊ, इलाहाबाद) में दिये गये उनके उपसंहार-भाषण (19-02-2011) से मुझे प्राप्त हुआ।एतदर्थ उन के प्रति आभार!

164. 'प्यासा' (1957) फ़िल्म का गीत, गीतकार साहिर लुधियानवी।

## सन्दर्भ ग्रन्थ


**'अकथ कहानी प्रेम की'**, पुरुषोत्तम अग्रवाल, पहला संस्करण 2009, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली - 2।

**'अनभै साँचा'**मैनेजर पाण्डेय, प्रथम संस्करण 2002, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8, दरियागंज, नयी दिल्ली - 2।

**'अन्तरा'** भाग-1, प्रथम संस्करण 2007, एन.सी.ई.आर.टी., दिल्ली।

**'अभिज्ञानशाकुन्तलम्',** कालिदास, टीकाकार बाबूराम त्रिपाठी, रतन प्रकाशन मन्दिर, आगरा।

**'अष्टछाप के कवि कुम्भनदास'**डॉ. हरगुलाल, प्रथम संस्करण 2008, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय (भारत सरकार), दिल्ली - 3।

**'आदमी की निगाह में औरत'**राजेन्द्र यादव, 2006, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली - 2।

**'आलोचना'** (त्रैमासिक), जुलाई-सितम्बर, 2007, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली - 2।

**'उत्तर भारत की सन्त परम्परा'**परशुराम चतुर्वेदी, संवत् 2008, भारती भण्डार, इलाहाबाद।
**'कबीर'**हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, संस्करण 1997, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली - 2।
**'कबीर-ग्रन्थावली'**संपादक श्यामसुन्दर दास, प्रथम संस्करण 2008, प्रकाशन-संस्थान, 4715-21, दयानन्द मार्ग, दरियागंज, दिल्ली-2।
**'कहती हैं औरतें'**अनामिका, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद।
**'क्रान्तिकारी तुलसी'**श्रीनारायण सिंह, 1965, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
**'कालयात्री है कविता'**प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रथम संस्करण 1983, स्मृति प्रकाशन, 124, शहराराबाग, इलाहाबाद।
**'गोरखबानी'**संपादक पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, षष्ठ संस्करण 2004, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
**गोस्वामी तुलसीदास**रामचन्द्र शुक्ल, 13वाँ संस्करण, संवत् 2049, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
**गोस्वामी तुलसीदास** (समीक्षात्मक विवेचन)सीताराम चतुर्वेदी, 1956, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
**गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि में नारी और मानव-जीवन में उसका महत्त्व**ज्ञानवती त्रिवेदी, काशी हिन्दू विष्वविद्यालय, वाराणसी।
**'चित्रावली'** (संक्षिप्त)संपादक सत्यजीवन वर्मा, द्वितीय संस्करण 1945, रामनारायणलाल पब्लिशर्स ऐण्ड डिस्ट्रीब्युटर्स, इलाहाबाद।
**'छोटे-छोटे दुख'**तसलीमा नसरीन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
**'जायसी'**विजयदेव नारायण साही, द्वितीय संस्करण 1993, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद 211001।
**'जायसी का पद्मावत : शास्त्रीय भाष्य'**गोविन्द त्रिगुणायत, 1976, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, रामनगर, दिल्ली-55
**'जायसी-ग्रन्थावली'**संपादक रामचन्द्र शुक्ल, 20वाँ संस्करण, सं. 2058, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
**तुलसी-दर्शन**बलदेव प्रसाद मिश्र, द्वितीय संस्करण, संवत् 1947, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
**'त्रिवेणी'**रामचन्द्र शुक्ल, 47वाँ संस्करण, संवत् 2051, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
**'दादू ग्रंथावली'**संपादक डॉ. बलदेव वंशी, प्रकाशन संस्थान, 4715/21, दयानन्द मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002।
**दोहावली**अनुवादक हनुमानप्रसाद पोद्दार, 44वाँ संस्करण, सं. 2056, गीताप्रेस, गोरखपुर।
**'धर्मनिरपेक्षता के मायने'**गीतेश शर्मा, प्रथम संस्करण 2005, जनसंचार, 19-बी, चौरंगी रोड, कोलकाता-700087।
**'धर्मशास्त्र का इतिहास'** (प्रथम खण्ड)पाण्डुरंग वामन काणे, चतुर्थ संस्करण 1992, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ - 226001।
**'नन्ददास कृत रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत'**संपादक सुधीन्द्र, द्वितीय संस्करण जुलाई 1956, विनोद पुस्तक मन्दिर, होस्पिटल रोड, आगरा।
**परम्परा का मूल्यांकन**रामविलास शर्मा, 2004, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली- 2
**'पातंजल-योगसूत्र',** गीताप्रेस, गोरखपुर।
**'बृहदारण्यकोपनिषद्'** (सानुवाद शांकरभाष्य), गीताप्रेस, गोरखपुर।
**भक्तमाल'** (नाभादास), संवत् 1967, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई।
**भक्ति-आन्दोलन और सूरदास का काव्य',** मैनेजर पाण्डेय, वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-2।
**'भ्रमरगीतसार'**संपादक रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी रोड, इलाहाबाद।
**'मध्यकालीन उत्तर भारत में हिन्दू महिलाओं की सामाजिक स्थिति'** (सन् 1206-1707 ई. तक), कमला गुप्ता, प्रथम संस्करण, जुलाई 2008, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, राजेन्द्र नगर, पटना।
**'मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन का एक पहलू'** आलेख - मुक्तिबोध।
**'मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी-भावना'**उषा पाण्डेय, प्रथम संस्करण 1959, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली - 6।
**'मीरा का काव्य'**विश्वनाथ त्रिपाठी, तृतीय संस्करण, 2006, वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-2।
**'मीराँबाई की पदावली'**परशुराम चतुर्वेदी, 21वाँ संस्करण, 2002, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (इलाहाबाद)।
**'रामवृक्ष बेनीपुरी रचना-संचयन'**, साहित्य अकादेमी, दिल्ली।
**'रैदास रचनावली',** संपादक डॉ. गोविन्द रजनीश, संस्करण 2008, अमरसत्य प्रकाशन, 109, ब्लॉक बी, प्रीतविहार, दिल्ली-92।
**'श्रीरामचरितमानस'**टीकाकार हनुमानप्रसाद पोद्दार, 62वाँ संस्करण, सं. 2057, गीताप्रेस, गोरखपुर।
**'सती प्रथा, भक्तिकाव्य और हिन्दी मानसिकता'**अनुराधा, 'फ़िलहाल (संघर्ष-चेतना का मुखर सहयात्री)', नवम्बर 2007 अंक।

**'सन्त मलूक ग्रन्थावली'**सम्पादक बलदेव वंशी, 2006, परमेश्वरी प्रकाशन, बी-109, प्रीत विहार, दिल्ली-92।
**'सम्पूर्ण सूरसागर'**लोकभारती टीका (5 खण्डों में), सम्पादक डॉ. किशोरीलाल गुप्त, प्रथम संस्करण (2005) की पहली आवृत्ति 2008, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
**'स्त्री-काल'** पत्रिका, अंक 4, सम्पादक - संजीव चन्दन, द मार्जिनलाइज्ड एन इन्स्टीट्यूट फार अल्टरनेटिव रिसर्चेज ऐण्ड मीडिया स्टडीज, थोराट काम्प्लैक्स (अपोजिट सामाजिक न्याय भवन) सेवाग्राम रोड, वर्धा - 442001।
**'स्त्री-वस्तुकरण की प्रक्रिया और राधा का विकास'**अनुराधा, 'फ़िलहाल (संघर्ष-चेतना का मुखर सहयात्री)', मई 2009 अंक।
**'सूफ़ी मत : साधना और साहित्य'**रामपूजन तिवारी, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।
**'हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली',** खण्ड-4, संस्करण 1999, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली।
**'हिन्दी कवियों का मूल्यांकन'** (प्रथम भाग), देवेन्द्रनाथ शर्मा, 1952, मोतीलाल बनारसीदास, बाँकीपुर, पटना-4।
**'हिन्दी सन्त काव्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन',** वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी।
**'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'**रामकुमार वर्मा, 7वाँ संस्करण, 2007, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1।
**'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'**रामचन्द्र शुक्ल, 23वाँ संस्करण, संवत् 2047 वि., नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
**'हिन्दी-साहित्य का इतिहास'**सम्पादक डॉ. नगेन्द्र, 1995, मयूर पेपरबैक्स, ए-95, सेक्टर-5, नोएडा- 201301।
**'हिन्दी-साहित्य का उद्भव और विकास'**हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली - 2।
**'हिन्दी साहित्य का सबाल्टर्न इतिहास'**राजेन्द्र प्रसाद सिंह, प्रथम संस्करण, 2009, गौतम बुक सेण्टर, चन्दन सदन, सी-263 ए, गली नं.9, हरदेवपुरी, शाहदरा, दिल्ली-93।
**'हिन्दी-साहित्य का पुनरालोकन'**ड०. विद्यानिवास मिश्र, प्रभात प्रकाशन, आसफ़ अली रोड, दिल्ली।
**'हिन्दी-साहित्य की भूमिका'**हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. , 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, दिल्ली - 2।
**'हिन्दू-विवाह की उत्पत्ति और विकास'**डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, प्रथम संस्करण, 1974, भारतीय लोक-संस्कृति शोध-संस्थान, दुर्गा कुण्ड रोड, वाराणसी।



# 'स्त्री-विमर्श के दौर में विनोबा की मूल्यवत्ता'

सर्वोदय-आन्दोलन के महान् प्रणेता और वेदान्त की दृष्टि से अनुप्राणित रहे, गाँधीवादी आधुनिक सन्त विनोबा अपने विचारों में बड़े प्रगतिशील रहे हैं। वह प्रगतिशीलता उन्हें अपने समकालीनों में ही नहीं, बल्कि वर्तमान चिन्तकों की पाँत में भी भास्वर बनाती है। समय-समय पर उनके हुए प्रवचन/लेखन की थाह लेने पर आधुनिक मन/बुद्धि को निराश नहीं होना पड़ता, बल्कि उनमें आशा से बढ़कर नवयुगीन ताज़गी का अहसास होता है। यद्यपि उनकी सोच भी किंचित् सीमाओं से ग्रस्त है, पर वह दोष तो शायद ही किसी चिन्तक-विचारक को बख्श पाया हो। उसी पर तूल देकर हमें एक प्रखर चिन्तक व समाज-संरचक की वैचारिक ऊष्मा से वंचित रह जाने की मूढ़ता नहीं करनी चाहिए।

यहाँ मेरी दृष्टि स्त्री-विषयक उन की सोच और भावना पर केन्द्रित रहेगी, जिस से मैं यह दिखलाना चाहता हूँ कि तत्कालीन (और समकालीन भी) अधिकतर पुरुष चिन्तकों की तुलना में विनोबा बेहद स्पृहणीय हैं। तथाकथित भारतीय संस्कृति का रोना रोने वाले उन चिन्तकों की कतार में उन्हें नहीं रखा जा सकता, स्त्री के जागरण और मुक्ति को देखकर जिनकी रातों की नींद उड़ जाती है। यही वह विलक्षण अग्रगामी पक्ष है, जो उन्हें तत्कालीनों में विशिष्ट बनाता है। मेरा यह आलेख समय-समय पर उन के द्वारा प्रवचन/लेख रूप में व्यक्त विचारों के संकलन की तीन पुस्तकों पर आधारित है'स्त्री-शक्ति', 'नारी की महिमा' और 'परिवार-नियोजन और संयम' (जो 'सर्व सेवा संघ प्रकाशन', राजघाट, वाराणसी से प्रकाशित हैं)।

विनोबा की स्त्री-दृष्टि की रचना में वेदान्त-दृष्टि के साथ उनके प्रत्यक्ष जीवनानुभवों का संयोग है। उन में विचार व आचरण का साम्य है। वेदान्त के शब्दों में कहा जाए, तो पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य का समन्वय है। वे वैसे चिन्तक नहीं हैं, जो एक तरफ़ वेदान्त की अभेद-दृष्टि से प्रेरित होने की बात करते हैं, पर व्यवहार में समाज को अनेक स्तरों (देश, जाति, वर्ग, लिंग, नस्ल आदि) पर मानते हैं या उसे वैसा बाँट कर चलते हैंयानी, परम सत्य में तो 'अभेद' को मानते हैं, पर भेदभावमूलक समाज-व्यवस्था को व्यावहारिक सत्य मान कर चलते हैं। यह पाखण्ड भारतीय मानस का रोचक पाखण्ड है। जब बात करेंगे तो आत्मा से नीचे नहीं

उतरेंगे, पर व्यवहार में अपने से नीच किसी न किसी जाति/व्यक्ति की कल्पना कर के बैठे रहेंगे। इसके ठीक उलट, विनोबा स्त्री-सम्बन्धी अपने विचारों को व्यावहारिक धरातल भी प्रदान करते चले हैं और ज्यादा सही यह कहना होगा कि स्त्री-विषयक उन की सैद्धान्तिकी वास्तविक जीवन-प्रयोगों से ही निकलकर आकारवान् हुई है। सामाजिक स्तरीकरण का सबसे सघन और जटिल स्वरूप लिंग-सम्बन्धी स्तरीकरण का होता है। शायद यही कारण है कि स्त्री-पुरुष भेदभाव की पहचान और उसके निर्मूलन का सवाल विनोबा के सामाजिक सरोकारों में महत्त्वपूर्ण जगह रखता है।

## अभेद-दृष्टि

विनोबा ने बिना किसी लाग-लपेट के स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादित किया है कि स्त्री और पुरुष में बाह्य स्तर पर कुछ भेद भले हों, पर आत्मा के स्तर पर कोई भेद नहीं है। इसी से उनके कार्य-क्षेत्र में थोड़ा सा फ़र्क हो सकता है। परन्तु, इतने छोटे आधार पर सामाजिक-पारिवारिक, राजकीय और सांस्कृतिक भेदभाव की जो विशाल इमारत खड़ी कर दी गयी है, वह उन्हें बिल्कुल स्वीकार नहीं है। वे दर्शन की उस व्याख्या पर करारा प्रहार करते हैं, जो सृष्टि के मूल तत्त्वों के नाम प्रकृति (जड़) और पुरुष (चेतन) दे कर समाज में उन्हें क्रमशः स्त्री व पुरुष के रूप में समझाती है। उनके अनुसार, इस का उपयोग कर, स्त्री को निष्क्रिय व संसारासक्त बनाने तथा आध्यात्मिक दृष्टि से उसे अयोग्य ठहराने की गहरी साज़िश रची गयी है। विनोबा का यह नज़रिया जायज है। वे मानते हैं कि कोई गुण न जाति के आश्रित है, न लिंग के। इसी क्रम में उन्हें यह बात बकवास लगती है कि पुरुष स्वभाव से पराक्रमी है और स्त्री स्वभाव से ही सौन्दर्य-भावना, करुणा आदि से भरीइसलिए, उनके अध्ययन के विषय भी अलग-अलग होने चाहिए। विनोबा इस तरह 'स्त्रीत्व' व 'पुरुषत्व' जैसी मिथकीय कोटियों में गहरा अविश्वास दर्ज करते हैं। यह तथ्य काफी महत्त्व रखता है, कारण कि इसी कोटीकरण ने समाज में स्त्री को पुरुष के समक्ष हर तरह से हर स्तर पर हीनतर और पंगु बनाने का कार्य किया है। यदि इस का अन्त हो जाता है तो ज़ेण्डर-भेद की अवस्था का अवसान हो जाएगा, जिससे स्त्री मुक्त होकर पूरी तरह इन्सान बन जाएगी।

समता के इस आख्यान के बाद भी, विनोबा स्त्री का उत्थान मुख्यतः आध्यात्मिक क्षेत्र में करना चाहते हैं, न कि शारीरिक या भौतिक क्षेत्र में। उनकी स्त्री-दृष्टि की ज़मीन की यह कमजोरी लगती है। फिर भी, वे स्त्री को 'देवी' नहीं बनाना चाहते, क्योंकि 'देवी' मानने के ख़तरे जानते हैं, इसलिए प्रतिरोध करते हुए कहते हैं''जैसे स्त्री के लिए अपात्रता समझना गलत है, उसी तरह स्त्री के लिए अधिक भाव या ऊँची भावना रखना गलत है।'' इसमें उन्हें न केवल स्त्री-पुरुष के बीच अलगाव बढ़ने का खतरा दिखता है, बल्कि वासना की बढ़ोतरी होती भी महसूस होती है। अतः, सब



मिला कर विनोबा द्वारा स्त्री को आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत बनाने की मुहिम में कुछ अलग ही रंग दिखता है। इस से उनका आशय शायद मानसिक गुणों की समृद्धि से है, जिसे 'सूक्ष्म प्रतिभा' कहा जा सकता है। फिर भी, ऐसा लगता है कि स्त्री-जागरण के पीछे विनोबा का जोर स्त्री को श्रेष्ठ कर्त्तव्यमयी बनाने पर जितना है, उतना उसे अधिकार-भोग प्रदान करने पर नहीं। यहाँ आधुनिक स्त्री-विमर्श से वे पीछे पड़ते दिखाई देते हैं। फिर भी, कहा जा सकता है कि उन्होंने नारी को कदाचित् श्रद्धा मान लिया हो, परन्तु केवल श्रद्धा मानने की फतवेबाजी तो उन में कतई नहीं है।

## आस्था और विवेक के द्वन्द्व से निर्मित दृष्टि

हिन्दू शास्त्र और माइथोलॉजी विनोबा के दिल के आस्था-केन्द्र में विद्यमान हैं, जो उनके दिमाग को बहुधा नियंत्रित करती रहती हैं। इससे उनके भीतर एक रोचक अन्तर्विरोध घटता रहता है। आधुनिक लोकतांत्रिक मूल्यों एवं वैज्ञानिक चेतना से सम्मोहित उनकी बौद्धिकता, इसी दबाव में पड़कर हिन्दू विश्वासों व शास्त्रीय प्रसंगों को पूरी तरह खारिज कर पाने का जोखिम नहीं उठा पाती, भले वे बहुत पहले आउट-ऑफ़-डेट हो चुके हों। बस, उनकी असंगतियों या उनमें निहित अमानवीय तत्त्वों का आधुनिक व्याख्या से समाहार कर के वे अपनी आस्था पर आँच आने नहीं देते और इस प्रकार लोकतान्त्रिक विवेक से भरी अपनी बौद्धिकता को भी बचा लेते हैं। यह अन्तःक्रिया सिर्फ विनोबा की समस्या नहीं है, बल्कि दुनिया के हर देश-काल के धर्म-सुधारकों और बहुतेरे समाज-सुधारकों का 'यूनिवर्सल प्रॉब्लम' है। इस प्रवृत्ति की झलक विनोबा के स्त्री-सम्बन्धी चिन्तन में बाखूबी देखी जा सकती है। जैसेवे 'मनुस्मृति' में मौजूद 'पिता से सौ गुना महत्त्व माँ का है' जैसे कथनों को तो खूब उछाल देते हैं, पर 'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' (स्त्री स्वतन्त्र होने के लायक नहीं है) जैसी अवधारणाओं को क्षेपक मान कर चल पड़ते हैं। इस प्रकार लिंग-जाति के आधार पर एक विशाल आबादी को दलित-उत्पीड़ित बनाए रखने के प्रेरक शास्त्र (मनुस्मृति) को बेदाग ठहराने की एक लचर कोशिश करते हैं। इसी तरह, 'रामायण'-कथा में राम द्वारा सीता के निर्वासन में 'पति के पावर से लैस पुरुष द्वारा स्त्री के प्रति अन्याय' को स्वीकारने की हिम्मत वे नहीं दिखा पाते। यहाँ, वे राम को निर्दोष ठहराने की कोशिश करते हुए कहते हैं कि उन्होंने दो धर्मों (प्रजा-धर्म व पति-धर्म) में टकराव होने की स्थिति में परिस्थिति-संगत एक धर्म (प्रजा-धर्म) को चुना था। उनके अनुसार, राम को लगा कि सीता को तो वे समझा लेंगे, पर प्रजा को समझाना कठिन हैइसी से वैसा किया। इस पर, पूछा जाना चाहिए कि एक औरत को बियाबान-हिंस्र जंगल में धोखे से छोड़ देनायह कौन सा तरीका है समझाने का? फिर, निर्दोष सीता को अन्याय-सहन हेतु समझाने के इस कुत्सित प्रयास की जगह राम प्रजा को ही मूढ़ की जगह विवेकवान् बनाने में अपनी ऊर्जा लगाते, तो क्या यह बेहतर प्रजा-धर्म का

आदर्श नहीं होता? यह कौन सा प्रजा-धर्म है कि प्रजा के मानसिक रोग (सीता को कलुषित मानना) से भिड़ने, उस के उपचार की जगह, राजा उस की रुग्णता का ही पोषण करने लगे? फिर, किस प्रजा की बात है यह? क्या प्रजा में केवल वे एक या कुछ लोग थे, जो सीता-सम्बन्धी उक्त अन्यायकारी मत रखते थे? सीता या उनके प्रति हो रहे अन्याय के विरोधी लक्ष्मण आदि प्रजा नहीं थे? इस पूरे प्रकरण का सार यही है कि राम ने अपना इमेज बनाए रखने का शॉर्टकट खेला और इसके तहत सामन्ती समाज में पति को मिले (अनुचित) अधिकार का भयंकर दुरुपयोग किया। पर, विनोबा को यह सब देखने की फुरसत नहीं रही। उन्हें लगता है कि मूल रूप से भारतीय परंपरा में स्त्री के प्रति अन्याय नहीं हुआ है, बल्कि स्त्री-पुरुष समता की भावना यहाँ निहित है। उनके अनुसार, कम से कम विचार में तो ऐसा है ही, जिसे आचार में लागू करने की जरूरत है। इस समता का विचार उन्हें 'सीताराम', 'राधाकृष्ण', 'अर्धनारीश्वर' जैसे प्रयोगों/अवधारणाओं में मिलता है। इस कथित समता के वे इतने कायल हैं कि पुरुष-तन्त्र के विरुद्ध पश्चिम में उठे स्त्री-आन्दोलनों की तरह, भारत में (अपने समय तक) वैसा कुछ न घटित हो पाने की स्थिति की व्याख्या एकदम सरलीकृत-सपाट तरीके से करने लगते हैं''क्योंकि यहाँ की हवा में आध्यात्मिक और मानसिक अधिकार समान होने की बात प्राचीन काल से है।'' इसी क्रम में उनकी प्रस्तुति है कि यहाँ स्त्री का मूल नाम 'महिला' (= महान् शक्तिशाली) है'अबला' शब्द तो बाद में विकृतिवश हुआ।

## स्त्री शक्ति है, पर शक्तिमान नहीं

उक्त फाँकदार ऐतिहासिक व्याख्या को आगे बढ़ाते उन्होंने कहा कि यहाँ शक्ति-रूप में स्त्री-मूर्त्ति ही मान्य हुई, पुरुष-मूर्त्ति नहींइस उदाहरण को सामने रखते हुए भी वे ऐतिहासिक सन्दर्भ में इस सवाल पर सोचना भूल गये कि वह शक्ति किस के लिए, किसके इशारे पर कार्यरत रही, उसका संचालक कौन रहा है? कैसा भी घटिया देश-काल हो, पर एक शक्ति तो स्त्री में अकाट्य रूप से सतत विद्यमान है जनन/यौन शक्ति; पर स्त्री का अपनी ही देह में निहित इस बेजोड़ चीज पर कितना अधिकार रहा है? उसे पुरुष-विशेष/समुदाय, समाज व सरकार ने अपने मन-मुताबिक इस्तेमाल किया है। आज भी यह हकीकत लगभग बदली नहीं है। स्त्री के पास यदा-कदा बाकी ताकतें (धन आदि) भी हों, तो उस पर कब्जा पति/परिवार का ही होता है। सत्य तो यह है कि स्त्री यदि शक्ति है, तो उस का शक्तिमान कोई और है।

नारी को किसी हद तक शक्ति से सम्बन्धित मानने के बावजूद विनोबा स्त्री की शारीरिक शक्ति के महत्त्व को नज़र-अन्दाज कर के चलते हैं। उसके जागरण या प्रयोग से वे इस कदर विमुख हैं कि गुण्डों के आक्रमण की स्थिति में भी, अपने महिलाश्रम की स्त्रियों को अहिंसक-आत्मबल से प्रतिरोध की आत्मघाती सीख देते



हैंबस उन्हें एकजुट हो कर बिगुल बजाकर भजन गाने की सलाह देते हैं। उन्हें सैनिक बनने से वे बराबर रोकते हैं। क्या इसका कारण उनका यह मानना तो नहीं है कि आत्मबल के आगे देह-बल कमजोर या घटिया चीज है? स्त्री को सैनिक बनने से दूर रहने की जो वे सीख देते हैं, उसका तर्क लिंगगत गुण-स्थिति न मानने वाले विनोबा भी स्त्री के भीतर किसी स्वाभाविक अहिंसा, करुणा, कोमल भावना, सहिष्णुता, एकाग्रता की अवस्थिति के रूप में देते हैं। 'स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं, स्वरक्षित हों'ऐसा कहते हैं वे, किन्तु उनके विविध सन्दर्भों को देखते हुए इसका आशय यही प्रतीत होता है कि उन्हें आत्मिक बल के आधार पर स्वरक्षा करनी चाहिए। स्त्री और पुरुष की गुणगत समता को स्पष्ट घोषित करके भी विनोबा इस कदर अस्पष्टता के शिकार लगते हैं कि बाल-संगोपन (बच्चे का लालन-पालन) और रसोई-व्यवस्था में पुरुष को भी बराबर भागीदार बनाने की सोच रखकर भी इन कामों के लिए स्त्री को वे ज्यादा उपयुक्त मानते हैं। इसी प्रकार, वे कहते हैं कि खेती, बढ़ईगिरी, बुनाई, सिलाई आदि तथा कुछ कलात्मक कार्य स्त्रियाँ अधिक कर सकती हैं। एक जगह उनका यह भी कहना है कि ''स्त्रियों में एक प्रकार की धर्म-रक्षण की वृत्ति है।'' अहिंसा सिखलाने की जगह महिलाओं की पलटनें बनाने को वे 'स्त्रियों का पुरुषीकरण' कहते हैं तथा इस पर आपत्ति प्रकट करते हैं। पर, परपुरुष द्वारा तलवार उठाने पर स्त्री को भी वैसा करने की छूट देना उन्हें मान्य है; यद्यपि अहिंसा उनकी नज़र में बड़ा मूल्य है। लगता है, सभ्यता के अब तक व्याप्त खास प्रकार के गढ़न में ढलीं स्त्रियों को देख कर 'स्त्री-मनोविज्ञान' नामक तत्त्व-विशेष को मान लेने की भूल से विनोबा बच न पाये हैं। पर, यह भूल भी अकेले उनकी नहीं, बल्कि बड़े-बड़े ढेर सारे नामोंशंकराचार्य, विवेकानन्द, गाँधी, ओशो आदि की भी है।

## शिक्षा

विनोबा की प्रगतिशीलता इस बात में नहीं कि वे स्त्री-शिक्षा समर्थक हैं, बल्कि वह इस बात में निहित माननी होगी कि स्त्री और पुरुष के बीच पाठ्य-विषयों में किसी प्रकार का अन्तर करना वे किसी शर्त्त पर स्वीकार नहीं करते। यह बात इसलिए भी बेहद महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि बीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक के (और यदा-कदा आज के भी) कई शिक्षा-शास्त्रियों व विचारकों ने शिक्षा के ज़रिये स्त्रीत्व को पुनर्गठित करने की कोशिश की। इस तरह से वे शिक्षा को स्त्री के घरेलूकरण के अचूक आधुनिक हथियार की तरह उपयुक्त करने का सपना पालते रहे हैं। वे स्त्री की प्रस्थिति को पुनःपरिभाषित करते हुए, उसे उसे सभ्य-शालीन व आधुनिक गृहिणी, पत्नी आदि बनाने हेतु शिक्षा की वकालत करते रहे हैं, इसके लिए वे स्त्री-पाठ्यक्रम को पुरुष-पाठ्यक्रम की तुलना में 'गृहोन्मुख अन्तर्मुखिता प्रदान करने' का कार्यक्रम बनाते रहेजिसकी वैधता के लिए वे स्त्री के कल्पित मनोविज्ञान का आश्रय भी लेते

रहे हैं। उनका पितृपक्षीय आग्रह स्त्री-शिक्षा के समर्थन व कार्यान्वयन में जहाँ ढला दिखता है, वहीं विनोबा जैसों का उक्त प्रकार का सोचना कुछ अर्थ रखता है। किन्तु, यहाँ यह उल्लेख्य है कि स्त्री और पुरुष के शिक्षा-विषय/विषयों की समानता के पक्षधर होने के बावजूद, आत्मज्ञान को शेष सभी ज्ञानों से श्रेष्ठ मानने के कारण उस में स्त्री का पारंगत होना विनोबा निहायत जरूरी मानते हैं। उनका कथन है''स्त्री के शिक्षण में सत्यनिष्ठा व जीवन-तपस्या की सख्त जरूरत है, ताकि स्त्री को मौजूदा समाज के खिलाफ़ बगावत करने की हिम्मत आए।'' इसी मानसिकता से वे यह भी कह डालते हैं''भूगोल, राजनीति, गणित आदि विद्याओं में पुरुष पारंगत होना चाहें तो हों, आप सब बहनों को ब्रह्मविद्या प्राप्त करनी चाहिए।'' फिर, वे यह भी कहते हैं कि तीन प्रकार का ज्ञान हर स्त्री-पुरुष को समान मात्रा में होना चाहिए1) आरोग्य-ज्ञान 2) नीति-ज्ञान 3) आत्मज्ञान। पर, यह सतत ध्यातव्य है कि शिक्षा हेतु इन सामान्य विषयों के साथ वे स्त्रियों के लिए विशेष विषय ब्रह्मविद्या को मान रहे हैं।

वे स्पष्टतया कहते हैं कि स्त्री व पुरुष की समान शिक्षा अधिक उपयुक्त है, दोनों की अलग-अलग विशेष किस्म की शिक्षा का अंश कम। फिर भी, वे स्त्री-समस्या के समाधान उसके दफ्तर, फ़ौज या सरकार में जाने की अपेक्षा उस के आत्मज्ञानी होने में मानते हैं। सब मिला कर ऐसा लगता है कि विनोबा स्त्री-शिक्षा के उस चरित्र से तो बिल्कुल सहमत नहीं हैं, जो पुरुषों की जरूरतों, उनके सुख या प्रतिष्ठा के अनुरूप स्त्री को शिक्षित करने पर बल देता रहा, किन्तु बार-बार ब्रह्मविद्या को स्त्री के लिए सर्वोपरि विषय घोषित करते वे स्त्री के पूर्ण मनुष्य के रूप में विकसित होने की सम्भावना को भी सीमित कर देते हैं। किन्तु , ध्यातव्य है कि यह सीमा भी अकेले विनोबा की सीमा नहीं है, बल्कि बहुतेरे पुरुष चिन्तकों की है, जो स्त्री को पुरुष के बराबर कहते-कहते भी उसे इस दुनिया का विलक्षण प्राणी मान लेते हैं। इनमें गाँधी, विवेकानन्द, हजारीप्रसाद द्विवेदी, जैनेन्द्र, ओशो जैसे मनीषी भी रहे हैं।

इस के साथ विनोबा की यह भी सीमा है कि वे इक्का-दुक्का ब्रह्मवादिनियों के उदाहरण के बल पर ही यह प्रतिपादित करने की कोशिश करते हैं कि भारत में प्राचीन काल में स्त्रियों के लिए शिक्षा उपलब्ध थी। परन्तु, यह उनका अतिशय आस्थावाद है, जो अनिवार्यतः ऐतिहासिक तथ्यों के प्रति उपेक्षा-भाव से संपृक्त है। सच तो यह है कि पूर्वकाल में अपवाद-स्वरूप कुछ स्त्रियों ने भले पढ़-लिख लिया हो, लेकिन स्त्री के लिए व्यवस्थित शिक्षा की पद्धति आधुनिक काल की देन है। इस क्रम में भारत में लड़कियों के लिए पहला स्कूल 1848 ई. में पुणे के समीप ज्योतिबा फुले ने खोला था।

सहशिक्षा का समर्थन करना विनोबा की आधुनिक चेतना का प्रमाण है। वे स्त्री व पुरुष के एक ही कक्षा में बैठने की भरपूर हिमायत करते हुए, उसका विरोध करने



वालों का मुँह यह कहकर बन्द कर देते हैं कि यदि ईश्वर को सहशिक्षा स्वीकार न होती तो बेटे-बेटी को एक ही घर में पैदा न करता।

## ब्रह्मचर्य व संन्यास

भारतीय जीवन के चार आश्रमों में से स्त्री के ऊपर केवल गृहस्थाश्रम का थोप दिया जाना और इस तरीके से उसे आध्यात्मिक उन्नयन के लिए अपात्र ठहरा देना विनोबा की दृष्टि में स्त्री के विरुद्ध सब से बड़ा षड्यन्त्र है। उन की दृष्टि में स्त्री को ब्रह्मचर्य या संन्यास की पात्रता न देकर उसके लिए अशिक्षा और व्यक्तित्व-कुण्ठा का मार्ग निर्धारित कर दिया गया हैयही सबसे बड़ा अन्याय है। वे शंकराचार्य को इस बात के लिए कोसते हैं कि उन्होंने लड़की के ब्रहमचर्य की कल्पना तक नहीं की, तभी तो उन्होंने ब्राह्मण-ग्रंथ के 'दुहिता पंडिता जायेत' की व्याख्या "पंडिता गृहकार्य-कुशला इत्यर्थः" रूप में की है। इस के प्रतिकार के लिए विनोबा ऐसी किसी स्त्री की जरूरत महसूस करते हैं, जो शंकराचार्य की तरह ज्ञानी हो, ताकि स्त्री-शक्ति सकल अन्याय (विशेषतः आध्यात्मिक अन्याय) के खिलाफ बगावत कर सके और स्त्री का एक पीठ बना सके।

विनोबा के मत से ब्रहमचर्य का अर्थ हैजीवन के सर्वोत्तम ध्येय परमात्म-साक्षात्कार की दृष्टि से आचरण। इस सन्दर्भ में मुख्य बात यह है कि 'ब्रह्मचर्य' व 'संन्यास' का अधिकार स्त्री को देने का भरपूर समर्थन करते हुए, वे उसके स्त्री-विरोधी स्वरूप का प्रक्षालन करते हैं। जैसा कि पिछले अध्याय में भक्तिकाव्य की आलोचना के प्रसंग में स्थापित किया गया है, 'ब्रह्मचर्य' की पूरी थीसिस पुरुषवादी और स्त्री-विरोधी है। इसमें स्त्री का एक व्यक्ति के रूप में समादर न करके, उसे सिर्फ़ वासना-पुतली या मासिक धर्म का कुण्ड समझकर, उससे भागने की मर्दाना हड़बड़ी है। स्त्री को सामने न आने देने अथवा स्त्री के सामने न आने की डरपोक हठवादिता ब्रह्मचर्य-कल्पना का मूल तत्त्व है। पुरुष स्त्री-विषयक अपनी कमजोरी (वासना-लोलुपता) से डर कर कभी उससे मुखातिब होने से कतराए या जीवन-साथी बन चुकी स्त्री को दगा देकर जंगल में भाग जाए, तो उस भगोड़ा-वृत्ति का 'ब्रह्मचर्य' के रूप में महिमामंडन किया जाता रहा है। विनोबा को ऐसा ब्रह्मचर्य एकदम रास नहीं आता। वे कहते हैं''पुरुषों ने विषयासक्ति का साधन बहनों को बनाया है और वैराग्य का साधन भी उसी को माना है।'' स्त्री का व्यक्ति-रूप में सम्मान न भोगवाद में है, न वैराग्यवाद में। दोनों मर्दवाद की अतिवादी दृष्टि के परिणाम हैं। ब्रह्मचर्य मर्द मूल्य है, क्योंकि यह मर्द के लिए ही है। 'गीता' की सिखावन के अनुसार, 'पुत्रादारगृहादिषु' (बेटा-पत्नी-घर से) विरक्त होकर चल पड़ना तो मर्द के लिए ही सम्भव है। क्या स्त्री के लिए ऐसे चल पड़ना सम्भव है? बुद्ध के लिए परिव्राजक बनकर निकल पड़ना आसान है, पर बेचारी यशोधरा क्या करेगी, जिसके पास दूधपीता बच्चा (राहुल) है?

फिर, संन्यास की इस कल्पना में स्त्री को कौड़ी के भाव समझा गया। जब मन हुआ, मर्द पत्नी को ठोकर मारकर चल पड़ा, उसके सिर या पेट पर बच्चा (बच्चे) लादकर। 'ब्रह्मचर्य' का शास्त्रीय विवेचन 'स्वप्न में भी वीर्य-स्खलन न करने' के गुण के रूप में जब है, तब स्पष्ट है कि पुरुष की विशेष (पर अप्राकृतिक) स्थिति है 'ब्रह्मचर्य'। ऐसे एकांगी, स्त्री-विरोधी ब्रह्मचर्य और संन्यास को विनोबा ने स्त्री-पक्षीय बना कर संतुलित दृष्टि का परिचय दिया है। वे औरत का मुँह तक नहीं देखने वाले पुरुष को ब्रह्मचारी नहीं मानते, बल्कि इस दृष्टि को पापमय मानते हैं। फिर, सबसे मुख्य बात यह है कि वे स्त्री का भी ब्रह्मचर्य का अधिकार मानते हैं, वह भी बिल्कुल पुरुष के बराबर। वे कहते हैं कि हिन्दू धर्म में सिर्फ़ विधवा स्त्री को ब्रह्मचर्य का अधिकार (मजबूरी?) है। शेष हिन्दू स्त्रियाँ, पूरी मुस्लिम व प्रोटेस्टेण्ट स्त्रियाँ ब्रह्मचर्य के अधिकार से वंचित हैं। हाँ, कैथोलिकों में स्त्री पुरुष के बराबर ब्रह्मचर्य की अधिकारिणी है। जैन-तीर्थंकर महावीर ने भी पुरुषों के बराबर (कई बार अधिक ही) स्त्रियों को प्रवज्या दी है। उसे विनोबा उत्कृष्ट कार्य मानते हैं।

इसी सन्दर्भ में उनकी प्रगतिशील सोच का एक और आयाम उद्घाटित होता है। वह यह है कि वे स्त्री-पुरुष के बीच के निःसंकोच मेल-जोल को ग़लत नहीं मानते, बल्कि कहते हैं कि ''जिन लोगों में स्त्री-पुरुषों के बीच अधिक मुक्तता है, वहीं पर अधिक पवित्रता है।'' इसी क्रम में वे स्त्री-विरोधी ब्रह्मचर्य के प्रचार अथवा स्त्री को ले कर एक झूठी पवित्रता की भावना पुरुषों में बैठे रहने का कारण उस साहित्य में खोजते हैं, जो वासना से बचने के लिए लिखा गया हो। फिर, उसे वे उस साहित्य से भी गन्दा ठहराते हैं जो विषय-वासना की ओर उन्मुख करने वाले शृंगार से भरा हो (यानी, जिसमें स्त्री यौन-वस्तु के रूप में चित्रित हो)। विनोबा चूँकि पवित्रता को मानसिक गुण मानते हैं, इसलिए अपहरण की गयीं तत्कालीन स्त्रियों को अछूत मान लेने की हिन्दू-समाज की प्रवृत्ति को आड़े हाथों लेते हैं''ये बहनें अपनी इच्छा से नहीं गयी थीं, जबर्दस्ती भगायी गयी थीं। ऐसी हालत में उनको वहाँ बच्चे हो गये, तो भी उन्हें पतिता न माना जाएयह सब हिन्दुओं को समझाना पड़ा।'' दुःख है कि आज भी समाज में स्त्री-उत्पीड़क यह सोच कम हावी नहीं है और यह सिर्फ़ हिन्दू में नहीं, उससे व्यापकतर है।

## विवाह एवं गृह-व्यवस्था

सब मिलाकर, विवाह-व्यवस्था व गृहस्थाश्रम के बारे में विनोबा के विचार बेहद प्रगतिशील हैं। पहली बात तो यही है कि वे हर लड़की का विवाह ही हो जाना जरूरी नहीं मानते, क्योंकि ब्रह्मचर्य व संन्यास में भी स्त्री का अधिकार उन्हें मान्य ही नहीं, इष्ट है। दूसरी बात, वे कन्या का विवाह माँ-बाप की इच्छा से नहीं, बल्कि कन्या की इच्छा से ही होना उचित मानते हैं। कन्या के विवाहाधिकार या विवाह-संबंधी



मानवाधिकार को कुचलते रहने वाली संस्कृति में उनकी ये दोनों बातें बहुत मानी रखती हैं। कन्या के अधिकार का समर्थन करने के क्रम में ही वे कहते हैं कि यदि उसका पसंदीदा लड़का उसके प्रति प्रेम न रखे, तब समाधान यही हो सकता है कि कन्या को उससे दैहिक विवाह का खयाल छोड़कर मानसिक विवाह करके स्वयं संतुष्ट हो जाना चाहिए।

विनोबा 'पातिव्रत्य' नामक मूल्य को खारिज तो नहीं करते पर उसका अर्थान्तर करते हुए पुरुष को भी 'पत्नीव्रती' बनने की जरूरत बताकर 'पातिव्रत्य' के स्त्री-शोषक चरित्र का समापन कर देते हैं। 'पतिव्रता' शब्द को वे 'पति के व्रत में योग देने वाली' के अर्थ में सिद्ध करते हैं, न कि अच्छा बुरा जो भी हो, उस पति का देवता मान कर उसमें लीन होने वाली स्त्री के अर्थ में। वे गाँवों कि ऐसी स्त्रियों के अधिक साहसी होने कि बात कहते हैं, जो पति की गलती पर उसे तमाचा तक लगा देती हैं। उनका स्पष्ट मत है कि अमर्यादित पुरुष को अंकुश में रखने का काम स्त्री का है, पर इस अंकुश में शारीरिक प्रतिरोध की जगह वे सत्याग्रह का समर्थन करते हैं। पति को परमेश्वर मानने की विचारधारा को तो वे खारिज करते ही हैं , फिर पति के ही मार्फ़त परमात्मा से सम्बन्ध बनाने की पत्नी की बाध्यता जो हिन्दू और इसाई परम्परा ने बना रखी है, उस का भी वे खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि यदि पत्नी को पति-रूपी एजेंसी की जरूरत है, तो पति को भी पत्नी-रूपी एजेंसी की जरूरत होनी चाहिए। यानी, पुरुष हो या स्त्री, हर कोई परमात्मा से सीधे सम्पर्क में आ सकता है। वे 'ज्ञानेश्वरी' के किसी संस्करण में 'पतिव्रता' शब्द को बदल कर 'पतिमता' (पति के मत में या पति के मत के अनुसार ढली) कर देने को साहित्यिक अत्याचार मानते हैं। फिर भी, कहा जा सकता है कि विनोबा ने 'पतिव्रता' या 'पत्नीव्रती' शब्दों का आधुनिक विवेक से अर्थ नहीं लगाया है। 'पत्नीव्रती' का अर्थ हो या 'पतिव्रता' का, उनकी निगाह में यहाँ तक न बढ़ पाया कि पत्नी/पति जीवन में यदि कैरियर-निर्माण की राह पर हो, उसमें पति/पत्नी सहयोग करे।

वे 'पतिव्रता' होने के चिह्न (आभूषण) स्त्री पर लाद कर उन्हें 'बैंक' या 'कोलार की खान' बनाने की तीखी आलोचना करते हुए कहते हैं कि जब 'पत्नीव्रती' (जो हर विवाहित पुरुष को होना चाहिए) होने के लिए पुरुष को किसी चिह्न की जरूरत नहीं पड़ती, तो स्त्री को ही नाक-कान छिदवाने या ढेर सारे आभूषणों का निहायत तकलीफदेह बोझ ढोने के लिए क्यों बाध्य किया जाए? ऐसा करते-करते स्त्रियाँ गुड़िया ही नहीं, भीरू (= डरपोक) तक बन गयी हैं, क्योंकि गहने खोने या लुट जाने के भय से वे बाहर भी नहीं जा सकतीं। वे स्पष्ट कहते हैं कि गहनों की जरूरत नहीं थी, इसी से तो प्रकृति ने नाक-कान छेद कर पैदा नहीं किया। स्त्री को गहने पहिराने के लिए प्रयत्न करना या उनके नाक-कान छेदना ईश्वर के खिलाफ़ कार्य है।

इतना कुछ क्रान्तिकारी बात कहने के बाद भी विनोबा 'सिन्दूर' आदि विवाह-सूचक

प्रतीकों से स्त्री को बाँधने की व्यापक घटना पर मौन दिखते हैं। गहनों का निषेध करने के साथ, वे स्त्री को घर से पालकी में बन्द कर ले जाने का भी तेज विरोध करते हैं। वे पर्दा-प्रथा (जो उनके मत से मूलतः इस्लाम में है) का यथाशीघ्र अन्त करना चाहते हैं।

विनोबा सब का विवाह न जरूरी मानते हैं, न एक बार 'विवाह' कर लेने के बाद, अनिच्छा होने पर भी उसी में घुटते रहने को प्रशंस्य मानते हैं। वे ठोस कारण होने की स्थिति में तलाक को मंजूरी देते हैं। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि उन्होंने स्त्री को जबरन डाली गयी विवाह-बेड़ी से मुक्त कराने और हिन्दू स्त्री को सम्पदाधिकार देने को उन्मुख 'हिन्दू कोड बिल' (1951) का समर्थन किया था। यह घटना उन्हें तत्कालीन लोकतान्त्रिक व्यवस्था के कई जड़मति नेताओं के सामने भास्वर बना देती है, जिन्हें 'हिन्दू कोड बिल' के समर्थन में महान् भारतीय संस्कृति का पतन दिख रहा था। (गौरतलब है कि राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद और गृहमन्त्री सरदार पटेल तक इस नारी-हितैषी बिल के सबसे तगड़े विरोधियों में से थे।)

## परिवार-नियोजन और सेक्स

विवाह-व्यवस्था को अनिवार्य तथा अटूट न मानने के बावजूद विनोबा उसकी 'पवित्रता' (?) के प्रति आस्थावान् हैं। परिवार-नियोजन पर उनके विचारों से इसका संकेत मिलता है। सन्तान-संख्या सीमित रखने के गहरे समर्थक होकर भी वे उसके लिए 'वासना-संयम' जैसी अल्प-व्यावहारिक चीज को ही इसके एकमात्र साधन के रूप में पकड़ कर बैठ गये हैं। वे कृत्रिम गर्भ-निरोधकों का पूर्णतः बहिष्कार करते हैं और इसके कारण-स्वरूप वे यह भी पेश करते हैं कि गर्भ-निरोधकों के चलते लोग सन्तान-भय से मुक्त हो जाते हैं, जिसके कारण किसी स्त्री-पुरुष (ब्याहता/ ब्याही या अब्याहता/ अब्याही) का समागम होने में कोई बाधा नहीं रहती। इससे विवाह-संस्था खतरे में पड़ जाती है। स्पष्टतः, विवाह-संस्था की 'पवित्रता' बचाने की यह चिन्ता सामन्तवादी यौन-नैतिकता से प्रेरित है।

विनोबा 'सेक्स' को लेकर निगेटिव सोच से ग्रस्त हैं, जो उन्हें भक्तिकाल की सन्त-परम्परा में खड़ा कर देती है। पहली बात तो, वे विवाह-व्यवस्था के भीतर ही सेक्स-सम्बन्ध को जायज मानते हैं। दूसरी बात, वहाँ भी सेक्स को सिर्फ सन्तान-जनन हेतु उपयुक्त करने में पवित्रता देखते हैं, अन्यथा उसे पाप मानते हैं। 'काम' चूँकि जगत् की स्थिति के आधारभूत प्रजनन-क्रिया का आधार है, अतः वह अपवित्र नहीं हैऐसी सही सोच रखकर भी, उनके द्वारा 'काम' की विधायक भूमिका को पूरी तरह खारिज करके उसे सिर्फ 'रिप्रोडक्शन' (प्रजनन) की बेड़ी में जकड़ देना, उन्हें आधुनिकता की परिधि से बाहर कर देता है।

सन्तति-निरोध के कृत्रिम उपायों को 'मातृत्व की विडम्बना' कहने वाले विनोबा



की दृष्टि में जनसंख्या-वृद्धि का कारण पुरुषों की निर्मर्याद वासना है। यह बिल्कुल मूलभूत बात उन्हों ने पकड़ी है। वे स्त्री की पीड़ा को सही पहचानते हैं, जब कहते हैं''एक तो स्त्री पर विषय का हमला, उसके बाद गर्भ-धारण का हमला और उसके बाद फिर दवाइयों का हमला। इसमें तो स्त्री पर अत्याचार की पराकाष्ठा ही आ जाती है।'' गर्भ-निरोधकों द्वारा बेकसूर स्त्री को सताने की स्थिति में गर्भ-निरोधकों का उनका विरोध तो जायज है। साथ ही, उनकी यह भी चिन्ता सही है कि इनसे स्त्री पुरुष के लिए केवल वासना का साधन बनी रह जाएगी। किन्तु, स्त्री की प्रस्थिति में इन निरोधकों ने जो क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया है, उसे वे नहीं देख सके। उनसे स्त्री गर्भ-धारण की बाध्यता से मुक्त हो गयी, जिससे सेक्स उसके लिए अब हौवा नहीं रह गया कि उसके अनुभव में पड़ने से डरा जाए। फिर, इससे भी बड़ी क्रान्ति यह घटित हुई कि स्त्री का 'बलात्कार' या तथाकथित 'शील-भंग' करने वाले (पर, स्त्री-प्रति अपने दुष्कर्म से वस्तुतः अपना ही 'शील-भंग' करने वाले) भेड़ियों का खौफ भी उस के दिल से जाता रहा और वह भी बेधड़क घर से बाहर निकल कर स्वतन्त्र व्यक्तित्व, कैरियर आदि के निर्माण करने और घरेलू घुटन से निकलकर सोशल लाइफ़ जीने में समर्थ हो गयी है।

विनोबा स्त्री की प्रसव-पीड़ा के प्रति अत्यन्त संवेदनशील हैं। इस पीड़ा की गहराई के कारण ही नारी में वासना के प्रति भय होता हैऐसा सिद्धान्त वे पेश करते हैं। वे कहते हैं कि जो इतनी पीड़ित हो, उसके अन्दर स्वभावतः वासना के प्रति भय होगा। यानी, उनके मत से शास्त्रों में जो स्त्री के अधिक कामुक होने की बातें मिलती हैं, वे दुष्प्रचार हैं। इसके साथ, स्त्री को सदियों से अधिक कामुक, मर्द को वासना-कुण्ड में गिराने वालीऐसा कहने वाली (पुरुष-आध्यात्मिक) परम्परा की वे निन्दा करते हैं। उनका यह कहना तो सही है, पर स्त्री की वासना-अल्पता को उसके यौन-व्यक्तित्व से हीन होने की सीमा तक खींच कर वे उस के 'स्वतन्त्र व्यक्तित्व' को अवश्य क्षति पहुँचाते हैं। यह विचार स्त्री के यौन-तुष्टि के जन्मजात अधिकार का निषेध सा कर देता है; यह अनुचित बात है। स्त्री को यौन-व्यक्तित्व से हीन मानने के कारण ही वे परिवार-नियोजन का उपदेश स्त्री के लिए न दे कर पुरुष-मात्र के लिए देते हैं। वह उपदेश 'संयम' का है। इसका सकारात्मक पक्ष इतना ही है कि जनवृद्धि का कारण वे पुरुष-वर्ग की काम-लोलुपता को मानते हैं। यही मूल कारण है भी।

## मातृत्व-महिमा की गिरफ्त में

विनोबा की विशेषता यह है कि उन्हों ने परिवार-नियोजन की जरूरत मुख्यतः आर्थिक कारणों से बतलाकर भी जनसंख्या बढ़ाने को मजबूर की गयी स्त्री की पीड़ा पर ध्यान दिया है। यानी, जनसंख्या-समस्या के स्त्रीवादी पाठ की सुगबुगाहट उनमें है। परन्तु, उन्होंने स्त्री की देह पर गर्भ लादने और उसे केवल जच्चा-घर/पालन-घर में कैद

कर, उसे व्यक्तित्व-वंचित करने वाली परम्परा/संस्कृति को एक सवालिया निशान के साथ नहीं लिया। यह उनकी बड़ी सीमा है। उस संस्कृति ने 'मातृत्व' (जनन-पालन आदि में लीनता) को स्त्री का चरम मूल्य घोषित करके सदियों से स्त्री के लिए जो सुनहरा पिंजरा तैयार कर रखा है, उसे विनोबा न देख सके। जिस प्रकार स्त्री को वासना-पूर्त्ति का उपकरण बनाना उसके लिए लौह-शृंखला है, उसी प्रकार उसे सिर्फ़ मातृत्व से सम्बद्ध किए रहना उसके लिए स्वर्ण-शृंखला है। बिना इन दोनों को छिन्न-भिन्न किए स्त्री का व्यक्तित्व या सहज नैसर्गिक अधिकार दलित होने से रोका न जा सकेगा, उसे इन्सान न बनाया जा सकेगा। माँ बनना उसका अपना चुनाव हो, तब तो वह स्पृहणीय है, उसमें गरिमा और खुशबू भी है। लेकिन, सदियों से उसे माँ बनने की बाध्यता और त्रासदी में डाले रखनाउसे 'जनसंख्या-वृद्धि की घरेलू बीमार मशीन' बनाए रखना (जिसके कारण उसके व्यक्तित्व या मानवाधिकार के तमाम आयाम बुरी तरह कुचले जाते हैं) कितना बड़ा सांस्कृतिक अत्याचार है! मातृत्व उसके जीवन का एक अनुभव हो सकता है, पर उसके समस्त जीवन का एकमात्र पर्याय नहीं। स्त्री सबसे पहले और सबसे आखिर में एक इन्सान है, माँ-बहन-बेटी-प्रेमिका-पत्नी आदि होना इस मूल स्वरूप के बीच में कहीं गतार्थ है। पर, इसी को उसकी पूरी पहचान बना देना और ऊपर से उसकी महिमा का गान करना उसी तरह है, जिस तरह किसी को जबरन भूखा रखना और ऊपर से यह प्रचारित करना कि उसने व्रतोपवास किया है, वह पुण्यात्मा है आदि-आदि। अफ़सोस की बात है कि स्त्री को पुरुष के बराबर न्याय देकर भी विनोबा उसके उच्चतम विकास को 'मातृमूर्त्ति' के रूप में देखने के मोह से मुक्त न हो सके हैं। वे चाहे 'माता' के अर्थ को कितना भी रिफ़ाइन (परिशोधित) करें'जन्मदात्री' से उठाकर 'ग्राम-माता' ही क्यों न बना डालें, परन्तु 'सन्तान के हित अपने सुख-त्याग कर मुदित रहने वाली' भूमिका से स्त्री मुक्त नहीं हो पाती। स्त्री को माँ, ग्राम-माता, राष्ट्रमाता आदि बनने की सीख में उसके शोषण या अधिकार-वंचना का महिमामण्डन हैयह विनोबा को दिखाई नहीं पड़ता। फिर, यदि ऐसा त्याग महामूल्य है और यह सभ्यता के लिए जरूरी है, तो इस भूमिका में पुरुष भी तो जा सकते हैं; सिर्फ़ स्त्री क्यों बने ग्राम-माता आदि? पुरुष भी क्यों न ग्राम-पिता आदि बने? लगता है, इस विचार तक पहुँचने में उन्हें इस तर्क का सहारा मिला है कि सन्तान के पोषण हेतु स्तन माँ ही के पास होता हैपोषण के कारण उसकी सन्निधि माँ से ही ज्यादा रहती है। अतः, माँ से ही सन्तान पहली भाषा (मातृभाषा) सीखती है। यह बात तो सही है, किन्तु स्त्री एकमात्र इसी/इतने के लिए तो नहीं बनी है। 'माँ' नामक (पितृसत्तात्मक) मूल्य को इतना तूल देकर, स्त्री के अधिकतर मानवाधिकार छीन लिये गये हैं, यह सोचते हुए विनोबा काश यह कह पाते''स्त्री को त्याग की तरह, भोग में भी पुरुष के समान भागीदार होना चाहिए।''



## काम-काज और आर्थिक अधिकार

विनोबा पारिवारिक कार्यों में स्त्री व पुरुष की समानता के आग्रह के साथ बेहद ईमानदार हैं। उन्हें इस बात पर आपत्ति है कि स्त्री अपने बाप-भाई-पति के कपड़े धोती है, परन्तु किसी पुरुष को माँ तक की साड़ी धोने में शर्म महसूस होती है। फिर, पत्नी की साड़ी धोने का उसे मौका लग जाए, तो छिप कर धोना पड़ता है। विनोबा स्त्री व पुरुष के शारीरिक भेद के आधार पर कुछ कामों में अलगाव तो मानते हैं, पर किसी बड़े या मूल अन्तर का वे निषेध करते हैं तथा उसमें सामाजिक विघटन का ख़तरा देखते हैं''अगर हम लड़के और लड़कियों के कामों को अलग बना देंगे, तो समाज के टुकड़े हो जाएँगे और उसका एक अंग बोझ-रूप बन जाएगा।'' उन्हें इस बात का बेहद दुःख है कि स्त्रियों के लिए रसोई के सिवा कोई काम नहीं रह गया है। इसमें उन्हें कार्य-संस्कृति का ह्रास तो दिखता ही है, बल्कि स्त्री व पुरुष को लेकर द्विधा मानदण्ड भी दिखलाई पड़ता है। अपने इस अग्रगामी विचार को लेकर जीवन में भी वे कितने ईमानदार रहे हैं, इसके लिए केवल एक तथ्य का उल्लेख करना काफी होगा। वह यह कि उन्होंने अपने आश्रम के विद्याध्यायी पुरुषों को भी रसोई-कर्म में लगाया था। इसके पीछे उनका तर्क यही था कि भूख उन्हें भी लगती है, अतः उन्हें भी उसके लिए हाथ-पैर चलाना चाहिए।

अपनी आवश्यकताओं के लिए आत्म-निर्भर होने की सीख स्त्रियों को देकर विनोबा एक बेहद महत्त्वपूर्ण तथ्य जोड़ते हैं''आजीविका-सम्पादन की जिम्मेदारी से स्त्री को मुक्त होने की जरूरत नहीं है। हाँ, स्त्रियों को उनके कामों में जरूरी रियायतें मिलनी चाहिए।'' जरूरी रियायतें देने की बात शायद वे स्त्री की विशिष्ट जैविक स्थिति को देखकर करते हैं, जिनमें मासिक-चक्र, प्रजनन आदि आते हैं। भारत की आधुनिक राजव्यवस्था कामकाजी स्त्रियों के लिए विशेष अवकाश सुनिश्चित कर जरूरी रियायत के इसी सिद्धान्त को अमली जामा पहना चुकी है। विनोबा स्त्री को आजीविका-अर्जन से मुक्त कर उसे परजीवी बनाने के पक्षधर तो बिल्कुल नहीं हैं। यह एक ऐसा पक्ष है, जो स्त्री-मुक्ति का मेरुदण्ड है। स्त्री की गुलामियों की मूल उर्वर भूमि उस की अर्थ-वंचना/गरीबी व परजीविता ही तो है।

स्त्री के आर्थिक अधिकार के प्रश्न पर विनोबा के विचार अतिशय क्रान्तिकारी हैं। वे स्त्री का आर्थिक अधिकार पुरुष से कम नहीं, बल्कि थोड़ा अधिक ही मानते। उसे कम मजदूरी देने को अन्यायपूर्ण मानते हुए वे कहते हैं''स्त्रियों को तो ज्यादा देनी चाहिए, क्योंकि उन्हें घर का भी सब देखना होता है। बच्चों का लालन-पालन करना होता है। ज्यादा तो नहीं ही देते, बराबरी का भी नहीं देते। ....स्त्रियाँ तो रात-दिन काम करती हैं, फिर भी उनका भार लगता है, क्योंकि काम की प्रतिष्ठा ही नहीं है।'' स्त्री को पुरुष से ज्यादा मजदूरी देने की बात उन्हें समाजवादी रूस की

उन्नीसवीं सदी के बीस-तीस के दशक से जोड़ती है, जहाँ गर्भ-काल में स्त्री का वेतन बढ़ा दिया जाता था। इस बात पर विचार होना चाहिए कि विनोबा में ऐसी दृष्टि सोवियत संघ में घटित क्रान्तिकारी सामाजिक परिवर्तनों से प्रेरित तो नहीं है?

ऐसे में स्वाभाविक है कि वंशानुगत या पारिवारिक सम्पत्ति में लड़की को हिस्सा न देने से वे बेहद खफा हों। इस सर्वव्यापी दुर्घटना के पीछे दिये जाने वाले उस तर्क को वे सिरे से खारिज करते हैं, जिसमें कहा गया कि पति की सम्पत्ति में लड़की को कुछ न कुछ हिस्सा तो मिलेगा ही, अतः वंशानुगत सम्पत्ति में उसे क्यों हिस्सा दें? वे कहते हैं''इसका यह अर्थ है कि स्त्रियों को केवल गृहस्थाश्रम का ही अधिकार है, अन्य आश्रमों का नहीं।'' वे सवाल उठाते हैं, यदि कन्या विवाहित न हो तब? स्त्री की आर्थिक विकलांगता से खासे चिन्तित विनोबा का यह भी विश्लेषण है कि पुरुषों ने स्त्रियों के धन्धे भी हड़प लिये हैंबुनकरी, सिलाई, रसोई आदि। इस पर प्रश्न जगता है कि 'स्त्रियों के धन्धे' क्या बला है? लगता है, इससे विनोबा का आशय यह है कि परम्परागत रूप से ये धन्धे स्त्री के हाथ में रहे हैं। पर, इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि उनकी दृष्टि में स्त्री की मनोरचना इस प्रकार हुई है कि इन कामों को अधिक कुशलता से वही कर सकती है। 'रसोई कार्य' को पुरुष द्वारा हड़प लिये जाने का उदाहरण देते समय उनका लक्ष्य शायद नवोदित पाक-व्यवसाय (जैसेहोटल-रेस्तराँ आदि) की पुरुष-प्रधानता (वर्चस्व) से है, अन्यथा वे तो खुद घर-घर में मुफ्त की रसोइया बनी स्त्री को देखते और कुढ़ते हैं। (कथित) 'स्त्री के धन्धे' छीनने का स्वरूप उनकी दृष्टि में यह रहा कि हर धन्धे का मुख्य (प्रतिष्ठित) भाग स्त्री से छीन कर पुरुष को सौंप दिया गया तथा गौण (अप्रतिष्ठित) हिस्सा स्त्री के जिम्मे डाल दिया गया। शुरु से बुनने का कार्य स्त्री का थाऐसा विश्वास उन्हें 'वेद' के 'वयन्ती' (= बुन रही) या अँगरेज़ी के 'Wife' (बुनने वाली) जैसे शब्दों को देखकर हुआ। उनके मत से वह कार्य पुरुष ने ले लिया तथा उस धन्धे में काण्डी भरने का काम स्त्री को दे दिया गया। फिर वे कहते हैं कि काण्डी भरने के लिए अधिक औरतें चाहिए थीं, अतः बुनकर पुरुष अनेक स्त्रियों को पत्नी बनाकर रखने लगे, क्योंकि (अमिताभ-नूतन की 'सौदागर' फ़िल्म की तरह) पत्नी बन जाने पर किसी स्त्री को मजदूरी देने से बचा जा सकता था। इस उदाहरण से पता चलता है कि विवाह से जुड़ीं प्रथाएँ किस प्रकार पुरुष-स्वार्थ से निर्मित होती रही हैं।

वैसे तो विनोबा की स्पष्ट मान्यता है कि कोई भी कार्य ऐसा नहीं है, जो स्त्री नहीं कर सकती। फिर भी, उनका जोर स्त्री के द्वारा वैसे कार्यों के सम्पादन पर है, जो उनके अनुसार 'स्त्री-शक्ति' को विकसित करते हैं तथा जिनसे शान्ति की रक्षा होती है। वैसे कार्यों में वे खेती, बुनाई, बढ़ईगिरी, सिलाई, कलात्मक कार्य, तरह-तरह के ग्रामोद्योग, समाज/देश की रक्षा, धार्मिक आयोजन, बुनियादी तालीम आदि को मानते हैं। ये सब कार्य ही स्त्रियों के लिए उनके मत से सर्वाधिक वरणीय हैं। इसके



आधार-रूप में वे स्त्रियों में स्वभावतः 'अहिंसा' की स्थिति को मानते हैं, जो उनके अनुसार गर्भ-धारण की स्थिति व क्षमता की परिणति है। वे स्त्री की इस शक्ति ('अहिंसा') का उपयोग समाज में दुर्व्यसनों के निराकरण एवं शान्ति-स्थापना, समाज-सुधार का अलख जगाने और राजनीति में करना चाहते हैं। वे स्त्रियों को सुझाव देते हैं कि वे राजनीति का कार्य पुरुषों के हाथ से छीन लें और देश के नियंत्रण और सुरक्षा की जिम्मेदारी अपने हाथ में ले लें। पर, इससे उनका आशय है कि स्त्रियाँ दलगत राजनीति की जगह, दल-विहीन राजनीति में भाग लें, क्योंकि दलगत राजनीति विषमता की जननी है। वे स्त्रियों को सेना में नहीं, शान्तिसेना में जाने की सलाह देते हैं। उल्लेखनीय है कि विनोबा के 'सर्वोदय' आन्दोलन में कई जगह 'महिला शान्ति सेनाएँ' बनी भी थीं। उनका विश्वास रहा है कि स्त्री ही सही अर्थों में सर्वोदय ला सकती है।

स्त्रियों की सामाजिक भूमिका वे द्विविध मानते हैंअशान्ति के समय लड़ाई-झगड़े शान्त करना तथा शान्ति के समय सर्वोदय-पात्र बनना, खादी-प्रचार, साहित्य प्रचार आदि। कार्य-विभाजन सम्बन्धी विनोबा के विचारों को देखकर, उनमें अन्तर्विरोधों को बाखूबी महसूस किया जा सकता है। स्त्री व पुरुष की समानता की गहरी बातें कहते हुए भी उनका मन 'स्त्री-तत्त्व' व 'पुरुष-तत्त्व' की अलग-अलग अवधारणाओं से पूरी तरह से मुक्त नहीं हो सका है, जिनमें 'स्त्री-तत्त्व' के अपेक्षाकृत मनोहर, अहिंसक होने की मान्यता भी सम्मिलित है। इसी मान्यता के तहत वे पूरा का पूरा सांस्कृतिक क्षेत्र स्त्री के सुपुर्द करना चाहते हैं। यहाँ वे स्त्री-सम्बन्धी अपने चिन्तन के स्वच्छन्द विहग को पिंजरे का दरवाजा दिखाते प्रतीत होते हैं।

## स्त्रियों का उद्धार स्त्रियों के द्वारा ही सम्भव

स्त्री-जाति के उद्धारकों में वे भारतीय इतिहास से तीन व्यक्तियों को महत्त्व देते हैंकृष्ण, महावीर और बुद्ध। इसके पीछे उनका अपना तर्क है। कृष्ण द्वारा द्रौपदी की लज्जा-रक्षा का गुणानुवाद करते हुए विनोबा ने द्रौपदी की बत्तीस-श्लोकात्मक प्रार्थना का बड़ा महत्त्व दिया है। कहा कि पूरा 'भागवत' इसी कथा पर टिका है। कृष्ण का गोपियों पर प्रेम, बन्धु के नाते स्त्रियों की सहायता आदि को वे इतिहास में अद्वितीय मानते हैं। उनके मत से कृष्ण ने सिखलाया कि स्त्री व पुरुष भक्ति-भावना में समान रहें और अनासक्ति तथा निर्लेप-भाव से किसी प्रकार का संकोच न रखें। यह जीवन का एक बुनियादी विचार है। उनके मत से महावीर ने बिना भय के, बिना आगा-पीछा व्यर्थ सोचे स्त्रियों को बराबर का आध्यात्मिक अधिकार दे दिया। इसी से उन के शिष्यों में श्रमणों से ज्यादा श्रमणियाँ थीं।

स्त्री-उद्धार या उसके हित को किसी खास अर्थ में लेने पर कृष्ण और महावीर तक तो बात कुछ हद तक तर्क-संगत लग सकती है, परन्तु उस बुद्ध को उनके द्वारा

स्त्री-जाति का उद्धारक मानना समझ में नहीं आता, जो स्त्री को अपने संघ में शामिल करने को लेकर बहुत आनाकानी के बाद तैयार हो सका, वह भी बहुत सशंक मन से। हालाँकि विनोबा ने यह स्वीकार किया कि बुद्ध में महावीर सी निडरता की कमी थी, पर इसके लिए वे बुद्ध को दोषी न ठहरा कर उनके द्वारा व्यावहारिक स्थिति का ध्यान रखने की बात कह कर उन्हें बचाते हैं।

स्त्री की पहचान लुप्त होने या उसके हाशियाकरण को एक बड़ी सामाजिक समस्या के रूप में महसूस करने वाले विनोबा उसके कारणों पर विचार करते हैं और समाज-गठन के आधारभूत मूल्यों की तह में जाते हैं। यहाँ वे गाँधीवादी मीमांसा के निकट पहुँचते हैं। वे कहते हैं कि समाज की रचना जब तक भय या हिंसा पर होगी, तब तक पुरुष प्रधान होगा और स्त्री हाशिये पर रहेगी। इसी तरह का विचार ओशो रजनीश ने भी व्यक्त किया है। विनोबा का कहना है कि समाज में स्त्री की निजी पहचान लुप्त हो चुकी हैकिसी की बहन, किसी की पत्नी के नाते ही उसका परिचय दिया जाता है। इस संकट को वे बहुत अच्छी तरह पहचानते हैं। परन्तु, स्वतंत्र पहचान के लिए उन का अध्यापिका बनना, दफ्तरी करना आदि को वे पर्याप्त नहीं मानते, बल्कि कहते हैं कि स्त्री के सही उद्धार का तरीका आध्यात्मिक ही हो सकता हैयानी, हरेक स्त्री को आत्मनिष्ठ बनाना। उनके मत से स्त्री की स्थायी मुक्ति स्त्री-पुरुष-विभेद की मूल वैचारिकी को बिना समाप्त किए नहीं हो सकती और अन्तिम रूप से यह कार्य किसी पुरुष से नहीं, स्त्री से ही सम्भव है। वे कहते हैं''स्त्रियाँ जब निष्ठावान बनेगी और आध्यात्मिकता से संपन होंगी, शास्त्र में परिवर्तन करने वाली होंगी, तभी उनका उद्धार होगा। उस शास्त्र में स्त्री-पुरुष का भेद न होगा। ....तब स्त्री का और मानवता कादोनों का उद्धार होगा।'' उनके अनुसार, स्त्री का उद्धार दयानन्द, गाँधी, कर्वे, कृष्ण, महावीर आदि के बाद भी इसीलिए नहीं हुआ क्योंकि ये सभी पुरुष थे। उनका मत है''स्त्रियों का उद्धार तो तभी होगा जब स्त्रियाँ जागेंगी और स्त्रियों में शंकराचार्य जैसी प्रखर ज्ञान-वैराग्य संपन, भक्तिमान और निष्ठावान स्त्री होगी। दुनिया में अभी तक समाज पर जिन लोगों का प्रभाव हुआ है, वे पुरुष हीं हैं।'', ''स्त्रियों का उद्धार स्त्रियों से ही होने वाला है। जब ऐसी स्त्री पैदा होगी तब शंकराचार्य के मठ पर आरोहण होगा। शंकराचार्य का ही पीठ हो ऐसा नहीं है, स्त्रियों का अपना पीठ बन जाए।'' विनोबा इस बात से दुखी रहे कि उन्हें भारत में कोई ऐसी संस्था या आश्रम नहीं दिखा जिसकी नींव डालने या संचालन का कार्य स्त्री के द्वारा हुआ हो। इसी संदर्भ में वे 'ब्रह्म विद्या मंदिर' बनाना चाहते हैं, जिसकी व्यवस्था बहनों के हाथ में हो।

स्त्री की पहचान के संकट के प्रति सावधान विनोबा, उसकी जुबान छीन लिए जाने की सांस्कृतिक घटना से आहत हैं। वे स्त्रियों का दब्बूपन दूर करना चाहते हैं। इसके लिए उन्हें चुपचाप काम करने की आदत छोड़कर, नज़र उठाकर, वाक्पटु बनी



रह कर काम करने की सीख देते हैं। इसके लिए उन्हें तैयार करने का रास्ता उन्हें चर्चा-मंडल में बोलने के प्रशिक्षण में दिखाई देता है। वे स्त्रियों को 'गरजते हुए सत्य प्रकट करने का जोश' देना चाहते हैं। वे कहते हैं''जब तक शंकराचार्य जैसी कोई स्त्री नहीं निकलेगी, जो कि पुराने शास्त्रों कि गलतियाँ दिखाएगी, शास्त्र फाड़ डालेगी, तब तक स्त्रियों का उद्धार नहीं होगा।'' बिनोबा के इस जोश को देखकर सहसा सवाल उठ खड़ा होता है कि वे आज होते तो तसलीमा नसरीन जैसी स्त्रियों की ऐसी भूमिका देख कर क्या वे अभिनंदन करते? ध्यातव्य है कि वह यह शर्त्त भी तो लगाते हैं कि ऐसा वही स्त्री कर सकती है, जो वैराग्यशील हो।

समेकित रूप से कहा जा सकता है कि उनके विचार से स्त्रियों का कल्याण महापुरुषों के साथ सहगति से नहीं, बल्कि उन की स्वतन्त्र गति से होगा।

## भाषा

पुरुष या स्त्री के बीच द्विविध मापदण्ड रखना विनोबा के लोकतान्त्रिक विवेक को कतई बर्दाश्त नहीं है। वे इस दुहरापन का इस सीमा तक विरोध करते हैं कि ''अगर कोई स्त्री बीड़ी पीती है तो उसको गलत माना जाता है, लेकिन पुरुष पीता है तो वह गलत नहीं लगता।...पर ऐसा क्यूँ होना चाहिए? स्त्री-पुरुष समान ही तो हैं।'' वे इस दुहरेपन या भेदभाव को भाषा-प्रयोग तक में विद्यमान देखते हैंजिसका नाम है 'जेंडर' (लिंग)। वे भाषा-प्रयोग से लिंग-भेद का अवसान कर के एकरूप की वकालत करते हैं, जैसा कि बँगला आदि कुछ भाषाओं में (क्रियाओं में) है। वे किसी भाषा में लिंगभेद-हीनता को समाज की मान्यता में स्त्री व पुरुष के बीच अमूर्त्त प्रेम का सूचक मानते हैं। एक समान भाषिक संस्कृति की रचना का प्रस्ताव रख कर वे आधुनिक स्त्री-विमर्श से भी एक कदम आगे निकाल जाते हैं। उनका यह विचार समाज के व्याकरण में हीं नहीं, भाषा के व्याकरण में भी कुछ जोड़ता है।

समग्रतः, कहा जा सकता है कि स्त्री को पुरुष के समान मनुष्यता से युक्त मानना, उसका निर्भीक प्रतिपादन करना, उसकी हर तरह की हीनता (चाहे वास्तविक हो या प्रतीकात्मक) के अंत हेतु प्रयासरत रहना विनोबा की ताकत है, परंतु स्त्री-जागरण का क्षेत्र मूलतः कर्त्तव्य और अध्यात्म में ढूँढ़ना उनकी सीमा। परन्तु, इसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि विनोबा का सुझाया गया अध्यात्म कोई ठंडा लोहा या पत्थर नहीं है, बल्कि वह क्रांतिकारी हथियार है, जो नारी को शिक्षित और आत्मनिर्भर बनाकर (पुरुष-रचित) उस विसंगत मूल्य-व्यवस्था का अंत कर सकता है, जो स्त्री की समस्त हीनता, वंचना, दासता व उत्पीड़न का प्रवर्तक और धारक है।

# ज़ंजीर तोड़नेवाली ऊष्मा की परिणति : बेनीपुरी की नयी नारी

ब्रिटिश औपनिवेशिक के प्रारंभिक दौर में ही स्त्री की बहुविध समस्याओं (अशिक्षा, विधवा, बाल-विवाह, सती-दाह, दहेज-प्रथा आदि) पर तत्कालीन चिंतकों का ध्यान गया और व्यापक पैमाने पर उनके निवारण की कोशिशें भी हुईं। परंतु, जिस संरचना ने उसे जन्म दिया था, उसे उखाड़ फेंकने की बात तो दूर, उसकी आलोचना तक न की गई। यह बात 19वीं शती ई. के पूर्वार्द्ध से लेकर 20वीं शती ई. के प्रारंभिक दो-तीन दशकों तक का सत्य है। स्त्री को मनुष्य तो माना जाने लगा, पर पुरुष की अधिकार-सीमा, परंपरागत यौन-नैतिकता या पितृसत्तात्मक संस्कृति के भीतर ही। उसे पुरुष के बराबर समानाधिकार देकर 'वर्णाश्रमी-पितृसत्तात्मक समाज-गठन' को कमजोर करने का खतरा कौन 'महापुरुष'(?) उठाता? वह भी तब, जब वह परम पुनीत 'भारतीय संस्कृति' का अकाट्य पर्याय हो। ऐसे अंधकार-युग में स्त्री-शिक्षा की दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ रही घटनाओं ने एक नई रोशनी का काम किया, जिससे अपनी मनुष्यता को पहचानने वाली स्त्रियों का एक वर्ग तैयार हो रहा था। उसने कभी-कभी यह यह महसूस किया था कि 'राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम' एक अधूरी लड़ाई है क्योंकि उसमें सदियों से पुरुष सत्ता की गुलाम रही स्त्री की मुक्ति का कोई एजेंडा नहीं है। ऐसी स्त्रियों के विचार 'स्त्री दर्पण', 'माधुरी', 'चाँद', 'गृहलक्ष्मी', 'आर्य महिला', 'महिला सर्वस्व' आदि पत्रिकाओं में छपते रहे या कई के छिपे भी रह गए। ऐसी स्त्रियों में उमा नेहरू, रमाबाई रणाडे, आनंदीबाई जोशी, पं. रमाबाई, ताराबाई शिंदे, हुक्मा देवी, कुट्टन नायर, ऐनी जगन्नाथन, हृदयमोहिनी 'सीमंतनी उपदेश' की अज्ञात कर्त्री आदि के साथ छायावाद की दीपशिखा महादेवी वर्मा को भी आदर गर्व के साथ याद किया जा सकता है।

परंतु, स्त्रियों के इस आत्मबोध को समर्थन देना तो दूर, उन्हें सत्य रूप में स्वीकारने का साहस भी अधिकतर पुरुष चिंतकों के पास नहीं था। वे उन्हें पवित्र गृहस्थी को तोड़ने वाली, निर्लज्ज हो चुकीं, बिगड़ी स्त्रियों के रूप में जब महसूसते थे, तब सौभाग्य से कुछ ऐसे पुरुष चिंतक भी हिंदी पट्टी से उभरे जो नवशिक्षा में ढलीं



इन ओजस्वी नारियों से न सिर्फ उत्साहित हुए, बल्कि जिन्होंने स्त्री की ज़ंजीरों को पिघलाने के लिए खुद भी वैचारिक ऊष्मा का संधान किया। उनमें एक ज्वलंत नाम है 'कलम के जादूगर' रामवृक्ष बेनीपुरी का। बेनीपुरी ने समय-समय पर जो लेखन स्त्री-मुक्ति को लक्ष्य बनाकर किया, उनका संकलन 1949 ई. में इलाहाबाद से 'नयी नारी' के नाम से प्रकाशित हुआ। वह 'नयी नारी' बेशक वैसी ही लगी थी, जैसी बेनीपुरी की ही एक कविता 'नयी नारी' में प्रतीत होती थी

*नयी नारी/देखो वह अंतरिक्ष पर अवतीर्ण हुई है नयी नारी*
*घूँघट को जिसने उलट दिया है/पर्दे को जिसने फाड़ फेंका है*
*प्राचीरों को जिसने ध्वस्त-पस्त कर डाला है/बंधनों को जो चूर-चूर कर चुकी है*
*देखो नयी नारी वह खड़ी है...*
*समाज से न्याय वसूल करती हुई/संसार को चुनौती देती हुई*
*'आज तक मुझसे आँखें लड़ाया किए/अब आओ मुझसे हाथ मिलाओ'*
*...जो कल चंपकवर्णी थी, वह अब विद्युत-वदनी बनी है*
*...यंत्र-चालिका, जगत्-प्रकाशिका/अज्ञानवश उसे छूने मत दौड़ो।''*

नयी नारी के बारे में यह उद्घोष महज काव्याडंबर नहीं है, बल्कि समाजवादी मूल्यों के लिए चिंतन और कर्म से निरत, साहित्य-योद्धा बेनीपुरी की स्त्री-समानता के प्रति अटूट आस्था है। उनकी 'नयी नारी' पुस्तक के लेखों का पाठ आज भी बहुत कुछ एक आग के दरिया से गुजरने जैसा लग सकता है, तब उस समय क्या लगा होगा जब छह-सात दशकों पूर्व उनका प्रणयन हुआ होगा! बेनीपुरी ने 'सतीत्व का भारतीय आदर्श' लेख में पतनशील समाज के ठेकेदारों की बौखलाहट का जिक्र किया है, जिन्होंने वैसे लेखन के लिए उन्हें कर्मनासा में डूब मरने को कहा था। वे वही लोग थे जो एक तरफ, नयी शिक्षा से नयी रोशनी पाकर समाज व परिवार में पुरुष से बराबरी का हक माँग रही स्त्री से अपने एकाधिकार को ध्वस्त होते देख दहल रहे थे तथा दूसरी ओर बेनीपुरी जैसों के द्वारा वैसी स्त्रियों की पीठ ठोंकते पाकर 'खिसियानी बिल्ली खंभा नोचे' को चरितार्थ कर रहे थे। उन्होंने स्त्रियों को पढ़ने-लिखने की सहूलियतें इसलिए दी थीं क्योंकि नयी सभ्यता की हवा से स्त्री-पुरुष समानता फैलने लगी थी, जिससे परंपरागत गृहस्थी दरकने लगी थी। उस परिवेश में, घर बचाने, पारंपरिक यौन-मूल्य (सतीत्व) बचाने तथा आदर्श गृहिणी बनाने हेतु स्त्री को खास प्रकार की शिक्षा से माँजने का कार्य किया गया था। कुछ-कुछ नवीन शिक्षा की भी वकालत की गई थी, कुछ भद्रवर्गीय पुरुषों द्वारा। कारण, नए भौतिक परिवेश के लायक वे अपनी पत्नियों, यानी अपनी मनोरंजन-सामग्री, गृहशोभा, संतान (बेटा) जनने की मशीन को अपडेट करना चाहते थे; क्योंकि वे बहुत पहले आउट-आफ-डेट हो चुकी थीं। गोबर-युगीन पत्नियों को आधुनिक विलास-सामग्री में कनवर्ट करने की मानसिकता तत्कालीन स्त्री-शिक्षा के समर्थक पुरुषों में काम कर रही थी। बकौल

बेनीपुरी, वे पत्नी के रूप में चाहते थे''एक ऐसी अनुचरी जो आपके कामुकता की सहेली, आपके बच्चों की सुशिक्षित दाई हो, खाना न पकाए सही, जलपान सजाकर तो जरूर सामने लाए, जलसों में आपके साथ जाए और पीछे बैठे, मित्रमंडली को संगीत-लहरियों में डुबकियाँ लगवा सके तो और उत्तम।''[1] कॉलेजिएट लड़की ऐसी कसौटी पर खरी नहीं उतर सकती थी; इसलिए बेनीपुरी के अनुसार, वे अपेक्षाकृत उदार मर्द भी कॉलेज की लड़कियों को बदनाम करने पर तुले हुए थे। खुलेआम वे पितृसत्तावादी भाषा में फतवे देते चल रहे थेकॉलेज की लड़कियाँ अच्छी पत्नियाँ नहीं बन सकतीं। 'अच्छी पत्नी' का आशय स्पष्ट था उस सजी-धजी बकरी से, जो मर्द की तरह-तरह की सनकी कामनाओं की बलिवेदी पर बार-बार घसीटी जाती हुई भी मिमियाए नहींचीत्कारे नहीं, अपितु संगीत में गाती रहे। यह गीताप्रेसवादी अपेक्षा आज भी आम है, तभी शहरों में भी वैसी ही लड़कियों की माँग है। वैवाहिक विज्ञापनों को देखिए, तो बात समझ में आ जाएगी''गोरी, स्मार्ट, संस्कारी, पारिवारिक मानसिकता में ढली बहू चाहिए।'' मेरे दोस्त ने बताया कि कभी-कभी ऐसे भी विज्ञापन दिखे हैं जिनमें साफ कहा गया है कि ''जे.एन.यू. में पढ़ी लड़की नहीं चाहिए'', तो स्पष्ट है कि लड़कियों के स्वातंत्र्य-बोध, आधुनिकता, प्रेम या पोशाक चुनने की हिम्मत, वाकपटुता आदि ने मर्दों के अंदर कितना खौफ पैदा कर दिया है! आज कथित उत्तर आधुनिक समाज में जब यह खौफ है, तब बेनीपुरी के युग में कितना गहरा खौफ रहा होगा। 1934 ई. के अक्तूबर में 'विश्वमित्र' पत्रिका में छपे उनके लेख 'कालेज की लड़कियाँ' में उन्होंने नवशिक्षिताओं से घबरा रहे पुरुष वर्ग को देखकर उत्सवी मूड में कहा''आज कॉलेज में पढ़ने वाली लड़कियों के संबंध में जब यह प्रचार किया जाता है...कि ये अच्छी पत्नियाँ नहीं हो सकतीं, तो मुझे आनंद इस बात का होता है कि ओहो! हमारी पढ़ी-लिखीं बहनों ने इतने थोड़े दिनों में ही अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व, अपनी आजाद तबीयत की ऐसी धाक जमा दी कि हम पुरुषों को उनसे डर-सा लगने लगा है। हम स्त्रियों पर के अपने एकाधिपत्य के साथ ही अपने पैर के नीचे की जमीन भी खिसकते हुए देखने लगे हैं...पुरुषों की इस घबराहट, इस बौखलाहट में स्त्रियों की विजय, उनकी स्वतंत्रता का उदय मैं देखता हूँ।''

बेनीपुरी के ही शब्दों में कहें तो स्त्रियों को ग्रसित करते रहने वाले समाज-राक्षस को मरणोन्मुख देखकर वे फूले न समाए थे। वह छवि उन्हें कॉलेज की बालाओं में दिखलाई पड़ी थी।

बेनीपुरी में सत्य को स्वीकार करने का इतना प्रचंड साहस निश्चित ही उस भौतिकवादी जीवन-दृष्टि से आया था, जो तत्कालीन बड़े-बड़े लेखकों में नहीं था। 'भारतीय संस्कृति'-ग्रस्त लेखकों की जमात के सामने राधामोहन गोकुल, राहुल सांस्कृत्यायन जैसे कुछ दुर्लभ नामों की पाँत में बैठते हैं बेनीपुरी। खासकर जेंडर (सांस्कृतिक लिंग)-जनित भेदभावों को हिम्मत के साथ उभारने और उसे करारा



तमाचा लगाने का उनका गुण उन्हें बहुत आकर्षक बना देता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ('बाणभट्ट की आत्मकथा') स्त्री की ऐतिहासिक पीड़ा को बहुत गहराई से पहचान कर भी उसके कारणों का समुचित संधान करने से थोड़ा पीछे इसलिए रह गए क्योंकि वे भारतीय दर्शन की उस अवधारणा से मुक्त न हो सके जो पुरुष तत्त्व और स्त्री तत्त्व (प्रकृति) के अलगाव (विलक्षणता) में विश्वास करती है, पातिव्रत का समर्थन करती है एवं स्त्री-जीवन की चरम-सार्थकता 'मातृत्व' को मान लेती है। इसके साथ स्त्री को 'सुंदर' मानने में रस लेने की उनकी सघन प्रवृत्ति भी स्त्री-मुक्ति की आधुनिक चेतना से उन्हें विलग कर देती है, क्योंकि वे यह समझने में कदाचित् असमर्थ रहे कि 'सौंदर्य' नामक आरोपित मूल्य स्त्री के देह-दलन और स्वतंत्रता छीनने का, बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा अस्त्र है। बेनीपुरी अपनी प्रगतिशील दृष्टि से यह तुरत समझ जाते हैं कि स्त्री को लंबे बाल, बिंदी, सिंदूर, चूड़ी, ओढ़नी आदि से शृंगारित करके, उसे निस्पंद और पुरुष मनोरंजन का सामान बनाने की साजिश रची गई है। उनकी नयी नारी इन बोझों या कूड़ों को उतार फेंकने को बेताब है

*''नयी नारी, नयी भूषा*
*क्यों ये लंबे-लंबे बाल?/जो पीछे रह कर उलझन पैदा करें,*
*आगे रहकर आँखों को बंद करें,/माथे पै बिंदी/आँखों में सुरमा/*
*लबों पे सुर्खी/छीः, वह कठपुतली कब तक बनी रहे?*
*धानी साड़ी,/पियाजी चोली,/फिरोजी ओढ़नी*
*उफयह तितली की बहन नहीं*
*...कोमलांगी बनकर बहुत खो चुकी, रो चुकी।''*[2]

चूड़ियों की तुलना वे कैदी की ज़ंजीरों से करते हैं, सिंदूर को गुलामी का टीका मानते हैं। कहते हैं''पशुओं के खरीदार अपने खरीदे हुए पशु के गले में धागे बाँध देते हैं, पहचान के लिए। तुम अब किसी की बीवी बन चुकी या बनने वाली होइसलिए डाल लो हाथों में चूड़ियाँ। और संयोग, जब वह चल बसा, तो फोड़ो इन चूड़ियों को। तुम्हें इसके पहनने का हक नहीं।''[3] बेनीपुरी इन तथाकथित सुहाग-चिह्नों को स्त्री पर थोपे जाने का उससे भी प्रखर विरोध करते हैं, जैसा विरोध विनोबा ने किया था। विनोबा का स्पष्ट उद्गार था कि यदि पत्नीव्रती होने के लिए (जोकि हर पुरुष को होना चाहिए) पुरुष को किसी गहने की जरूरत नहीं पड़ती, तो स्त्री को ही पतिव्रता होने के लिए किसी ऐसे सुहाग-चिह्न का धारण क्यों करना पड़ता है?[4] बेनीपुरी ने उससे आगे बढ़कर चूड़ियों की तुलना जेल में बंदी स्वाधीनता-सेनानी भाइयों की ज़ंजीरों से करते हुए कहा''बहनों के लिए अगर अपनी कोमल कलाइयों में चूड़ियाँ पहनना लाज़िमी समझा जाए, तो भाइयों को भी अपनी मर्दानगी दिखाने के लिए फौलादी कड़ियाँ डालकर उन्हें झनझनाते, खनखनाते चलना लाज़िमी करार दिया जाए।''[5] 'ज़ंजीरें और दीवारें' निबंध में तत्कालीन स्वाधीनता-संग्राम का संदर्भ देकर

जेल में बंदी भाई से मिलने गई बहन की खनकती चूड़ियों पर उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। प्रकारांतर से लेखक यह संकेत करता है कि आजादी की वह लड़ाई अधूरी है क्योंकि उसमें घर-घर में बंदिनी स्त्रियों की मुक्ति का कोई विचार नहीं, जिनके हाथों में गृह-जेल की पहचान करानेवाली चूड़ियाँ हैं। जैनेंद्र कुमार की 'पत्नी' कहानी का स्मरण कीजिए, जिसमें देश-मुक्ति के संग्राम में निरत कालिंदीचरण घर में जब कभी आता है तो सुनंदा नामक अपनी जीवनसंगिनी के लिए पारंपरिक 'पति' ही बना रहता है। तब सुनंदा का काम होता है कि पति से बिना कोई कैफियत लिए, उसके व उसके दोस्तों के पेट की भूख मिटाना। स्त्री की गुलामी के प्रति संवेदनहीनता राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम का ही नहीं, नक्सलबाड़ी, तेलंगाना आदि कई क्रांतिकारी आंदोलनों का भी सच रहा है। नारियों की तमाम संघर्षशक्ति का अपने-अपने आंदोलनों में उपयोग करने के साथ, उन्हें रसोई बनाने की अतिरिक्त जिम्मेदारी दी गई थी। उन्हें अपनी निर्णायक बैठकों से दूर रखने और सिर्फ उनका उपयोग (कभी उपभोग भी) करने की बेशर्मी ऐसे सभी आंदोलनों का अंतर्वर्ती चरित्र रहा है। बेनीपुरी इस भीषण सच को छूते लगते हैं। वे कहते हैं''अगर हम अपनी गुलामी की ज़ंजीरें तोड़ना चाहते हैं, तो अपनी बहनों के हाथ-पाँव को उनसे मुक्त करें।''[6]

उनके मत से गुलामी की पराकाष्ठा उस दिन हो जाती है, जब गुलाम अपने बंधनों को शृंगार समझने लगता है।[7] स्त्रियों पर सदियों से कठोर बंधन चलते चले आए हैं, जिन्हें वे अब अपनी शोभा समझने लगी हैं। स्त्री-संबंधी प्रश्नों के प्रति उदासीन रहना तत्कालीन भारत की बड़ी कमी बताते हुए बेनीपुरी ने उसका कारण राष्ट्रीय मसलों पर तब की व्यस्तता में पाया।[8] फिर उस व्यस्तता को भी अपूर्ण इसलिए माना क्योंकि वह जरूरी सामाजिक सवालों से मुँह मोड़कर चल रही थी।

रामवृक्ष बेनीपुरी की विचार-पद्धति 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' से प्रेरित वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त थी। वे स्त्री की ऐतिहासिक स्थिति को भारतीय साहित्य की छानबीन करते हुए उजागर करते हैं। उस अध्ययन क्रम में उन्हें स्पष्ट भान हुआ कि किसी सुदूर आदि युग में स्त्री स्वतंत्र थी। परंतु, वह विश्वास उस आर्यसमाजी विश्वास से नितांत भिन्न जाति का था जो वैदिक युग में स्त्री की स्थिति स्वाधीन मानता है। आर्यसमाज के प्रणेता दयानंद बहुतेरे सामाजिक-धार्मिक मसलों पर क्रांतिकारी तथा स्त्री के उन्नायक होकर भी 'पितृसत्ता' का चरित्र न पहचान सके। इसी से उससे लड़ने की बात तो छोड़िए, कई जगह उसके मान-मूल्यों से ग्रस्त भी दिखे। उनकी 'संस्कार-विधि' के विवाह-प्रकरण में स्त्री द्वारा पति के पैर छूने के विधान में यह देखा जा सकता है। ऐसे ढेर सारे उदाहरण उनमें मिल जाते हैं। पर, बेनीपुरी जब विश्वास करते हैं कि प्राचीन काल में स्त्री स्वतंत्र थी, तो उसका आशय ऐसी हीनकारी मूल्य-व्यवस्था से उसकी पूर्ण-मुक्ति की स्थिति से है। स्त्री तब आज प्रचलित यौन-नैतिकता से मुक्त थी, क्योंकि तब विवाह-संस्था की शुरुआत ही नहीं हुई थी। स्त्री की गुलामी की जड़



उनके मत से 'विवाह-संस्था' के आज तक चले आए स्वरूप में है, जो अनिवार्य रूप से स्त्री को पुरुष की गृहदासी, यौनदासी तथा संतति जनने व पालने का यंत्र बना देती है। फिर, इसके साथ स्त्री की गुलामी की दूसरी मजबूत संस्था 'वेश्यावृत्ति' की वे चर्चा करते हैं। उसका संबंध उन्होंने स्त्री पर विवाह-व्यवस्था द्वारा डाली गई 'सतीत्व'/ 'यौनशुचिता' की जंजीर और मर्दों द्वारा स्त्री को भोगने की सीमाहीन आकांक्षा से बतलाया।[9] 'वेश्या बनाम सती' निबंध में वे वेश्यावृत्ति के उदय के संभावित कारणों में 2-3 मानते हैं। एक संभावना उन्हें यह लगती है कि मर्द-समाज ने अलौकिक सौंदर्यशालिनी स्त्रियों को किसी एक पुरुष के अधिकार में रखने की बजाय, उनका सार्वजनिक उपभोग करने के लिए रख छोड़ा। अम्बपाली का उदाहरण देकर उन्होंने अपनी बात रखी है। वहीं पर उन्हें द्रौपदी का भी उदाहरण देना चाहिए था, जो विवाह-व्यवस्था के अंतर्गत पाँच भाइयों के भोग-सुखार्थ फल की तरह बाँट डाली गई थी। यद्यपि 'पंचकन्या' निबंध में द्रौपदी के इस बदसूरत बँटवारे की वे चर्चा करते हैं, पर वहाँ उन का स्वर उसकी वेश्यावत् स्थिति की जघन्यता प्रस्तुत करने की जगह, पाँच पतियों को संतुष्ट करने की उसकी क्षमता की प्रशंसा में ढरा दिखता है। अजीब विडंबना है! वहाँ उनका यह कहना तो एक हद तक सही है कि द्रौपदी ताकतवर नारी थी, क्योंकि पाँच पांडवों को एक रस्सी में नाथ कर नचाती रही, महाभारत युद्ध तक को घटित कराया, रानी की तरह शान से हुकूमत कीपरंतु थोपी जा रही वेश्यावृत्ति के खिलाफ विद्रोह न करके उसका वरण कर लेना द्रौपदी का सबसे कमजोर पक्ष है। बेनीपुरी ने उस पर सवाल न उठाकर, उसकी वेश्या-क्षमता का गुणगान क्यों किया? वेश्यावृत्ति का संभावित दूसरा कारण वे स्त्री का विद्रोह मानते हैं, जिसके अनुसार वेश्याएँ वे विद्रोही स्त्रियाँ हैं जो पुरुषों द्वारा डाली गई गुलामी का टीका पोंछकर स्वतंत्र हो गईं। जिन स्त्रियों ने गुलामी कबूली थी, उन्हें सती, साध्वी आदि मोहक नाम दिए गए, चूँकि उन्होंने विद्रोह किया था अतः उन्हें बदनाम किया गया। स्त्री का गरीबी की मार से त्रस्त होकर, सुख से जीने की तमन्ना के कारण भी वेश्या बन जाना उन्हें कारण-रूप में दिखता है। वे अपने अनुभव की दो स्त्रियों का जिक्र करते हैं। एक पति की मार से त्रस्त होकर नैहर भागी, पर नैहर ने उसे न रखा। तब, जीवन के धक्के खाती वह वेश्यालय में जा पहुँची। दूसरी स्त्री सुंदर थी, पर कुरूप मर्द से अनमेल विवाह में जकड़ दी गई। त्रस्त होकर अंततः वह कोठे पर जा बैठी। बेनीपुरी ने सही कहा है कि पत्नी पर सतीत्व का फंदा डालकर पुरुष द्वारा विवाह बाह्य यौन-सुख के मजे लूटने का भी विकास वेश्यावृत्ति में होता है।[10] समग्रतः, वेश्यावृत्ति के कारणों की व्यापक पड़ताल उन्होंने की है। स्त्री को आर्थिक-सामाजिक अधिकारों में बिना समता दिए, पुरुष की गुलामी से उसे बिना मुक्त किए वेश्यावृत्ति का अंत होने वाला नहीं है। ऐसा समझते हुए, वे कहते हैं कि वेश्यालयों को पालने वाले, अमर्यादित भोग के लिए वेश्याएँ बनाने वाले, लंपट पुरुषों के व्यर्थ धन पर भी अंकुश लगाना होगा।

संपदा उनसे छीन ली जाए तथा वर्ग-भेद का नाश कर दिया जाए। 'मेहनत नहीं, तो रोटी नहीं'का सिद्धांत लागू कर दिया जाए, तो वेश्यालयों में पड़ी नारियाँ सम्मानपूर्ण जिंदगी बिताने को बाध्य होंगी। ऐसा समाजवाद में ही हो सकता हैऐसा कहते हुए बेनीपुरी वेश्यावृत्ति के विनाश के लिए सोवियत संघ का अनुकरण करने की सलाह देते हैं। वेश्याओं से विवाह करने के लिए समाज के भद्रवर्गीय पुरुषों के आगे आने में वे वेश्या-समस्या का कोई समाधान नहीं देखते।[11] शायद इसके पीछे उनकी यह सोच काम कर रही है कि विवाह-संस्था तो खुद स्त्री को गुलाम बनाए रखने की संस्था रही है।

विवाह-संस्था के नारी-ग्रासी स्वरूप को बाखूबी समझने के कारण बेनीपुरी की स्त्री-दृष्टि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि से क्रांतिकारी लगती है। द्विवेदी जी विवाहिता नारी के दर्द को महसूसने की बात तो दूर, उसकी पति के प्रति यौन-प्रतिबद्धता, समर्पण (भले ही उम्र या किसी तरह से अनमेल विवाह हो) आदि की गुलामी का महिमामंडन 'पतिव्रता' शब्द के द्वारा कर डालते हैं। 'चारुचंद्रलेख' में तो नाटी माता के मुख से 'स्त्री-मनोविज्ञान' की कल्पित कथा कहते हुए पातिव्रत्य की जरूरत उसके लिए बतलाते हैं। 'पुनर्नवा' में चंदा द्वारा नपुंसक पति के खिलाफ विद्रोह तो करवाते हैं, पर उसे पहले से ही विवाहित पुरुष (गोपाल आर्यक) की झोली में डाल देते हैं। चंदा ताड़ पर से गिराकर खजूर पर अँटका दी गई। इसी तरह द्विवेदी जी की कमजोरी बेनीपुरी से तुलना करने पर उजागर होती है; वेश्या-समस्या के संदर्भ में। गणिकाएँ, देवदासियाँ, बहुविवाही पुरुषों की घरेलू वेश्यावृत्तिइन सबके जानकार होकर भी द्विवेदी जी 'वेश्या-समस्या' जैसी किसी चीज को नहीं मानते। स्त्री के रूपजीवा होने से क्षुब्ध होने के पीछ बाणभट्ट का अंतर्निहित सत्य यह लगता है कि उसे कहीं घर-आँगन में ममताकुल माँ, पतिव्रता पत्नी आदि बनवा चाहिए। इसी में स्त्रीत्व की सफलता व सार्थकता है। रूपजीवा होना स्त्री-सौंदर्य की बंध्यता है। बस! इतनी सीमित दृष्टि रखकर वेश्यावृत्ति की भला कोई आलोचना हो सकती है। निश्चय ही बेनीपुरी इस मसले पर द्विवेदी जी से बीस पड़ते हैं। इसका कारण भी वही है, पूर्वकथित भौतिकवादी दृष्टि से उनकी संपन्नता।

इस प्रसंग में, छायावाद के धुरंधर प्रसाद और महीयसी महादेवी वर्मा को उद्धृत करना नितांत उचित होगा। प्रसाद ने 'कंकाल' जैसे क्रांतिकारी उपन्यास में अपनी मौलिक स्थापना दी कि धर्म व समाज की गलत संरचना में ही स्त्री के प्रति अन्याय के मूल तत्त्व छिपे हैं, जिसके समूल उच्छेद के बिना स्त्री-कल्याण की बात बेमानी है। पर, वे ही 'कामायनी' में आकर नारी को 'केवल श्रद्धा' बनी रहने की बाध्यता में डालकर, स्त्री के अधिकार-हनन का राजमार्ग प्रशस्त करते हैं। यद्यपि 'ध्रुवस्वामिनी' में स्त्री को आरोपित विवाह से मुक्त करके उसके प्रेम करने के अधिकार का औचित्य ठहराते हैं, पर वहाँ भी कहना होगा कि ध्रुवस्वामिनी की मुक्ति घरेलू स्त्री बनने के



लिए ही है, न कि स्वतंत्रचेता रहकर 'विवाह' संस्था की पुरुष सत्तात्मक क्रूरता को शिथिल करने हेतु किसी संघर्षशीलता में। फिर, यह कथाकार प्रसाद की बात है। विचारक प्रसाद ने तो किसी निबंध में नारी-समस्या को उठाया ही नहीं। यही हाल विचारक हजारी प्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने तो अपने कुछ निबंधों व प्रबंधों में लैंगिक विषमता पर टिके सामंतवादी सौंदर्य-मूल्यों के प्रति सहानुभूति ही रखी है। उस पर सवाल खड़े करने का तो सवाल ही नहीं उठता। हिंदी के पुरुष लेखकों की इस परंपरा के समानांतर महादेवी का स्त्री-अनुभव अपेक्षाकृत अधिक शिद्दत से स्त्री-समस्याओं को व्यक्त कर सका है। भारतीय समाज में स्त्री को बाँधने वाली शृंखला की असंख्य कड़ियों का चरित्र बखूबी समझते हुए उन्होंने उनके द्वारा सदियों से स्त्री के खिलाफ चलाए जा रहे आतंकवाद की प्रामाणिक तस्वीर पेश कीन केवल सच्चे अनुभवों पर आधारित रेखाचित्रों द्वारा अपितु विचार-प्रधान निबंधों द्वारा भी। वेश्यावृत्ति में डाल दी गईं बहनों को 'पुरुष की वासना की वेदी पर बलिदान कराई गईं रमणियों' के रूप में पहचान कर संभवतः महादेवी जी ने वेश्या की समस्या का सबसे गहन, त्रासद विवेचन किया है। फिर भी कहना होगा कि बेनीपुरी ने वेश्यावृत्ति समाप्त करने के लिए जैसी व्यावहारिक सोच प्रस्तुत की है, वह महादेवी में नहीं है। फिर, महादेवी ने विवाह-संस्था में जबरन धकेली गईं, त्याग करने को मजबूर, बच्चे जनने को विवश आम स्त्री की पीड़ा की विश्वसनीय तस्वीर पेश की है, तथापि स्त्री को मूलतः कोमलहृदया व माता रूप में देखने की सीमा से वे ऊपर न उठ पाई हैं। वे स्त्री की मुक्ति भोग व त्याग तथा कर्म में पुरुष के बराबर खड़ी व्यक्ति के रूप में करने की जगह समाज को ममता, करुणा लुटानेवाली 'माँ' की भावना से भरी शिक्षिका, नर्स, साहित्यकार आदि कुछ सीमित भूमिकाओं के रूप में करना चाहती हैं। उनके मत से 'बाध्य मातृत्व' से स्त्री की मुक्ति जरूरी है क्योंकि उसमें कोई सौंदर्य या माधुर्य नहीं; परंतु स्त्री स्वेच्छा से माँ बने तो वह उसका गौरव है।[12] बेनीपुरी की यही विशेषता है कि वे स्त्री की मुक्ति पुरुष के बराबर खड़ीकर्म, भोग, त्याग में समतुल व्यक्ति के रूप में करना चाहते हैं; न कि परंपरागत यौन-नैतिकता को ढोती; 'माँ' के रूप में। इस दृष्टिबोध तक पहुँचने में वे इतनी आसानी से सफल हो गए तो कारण हैशुरु में ही उन्होंने दार्शनिक आत्मवाद की भ्रांति में पड़ने की जगह ठोस यथार्थ को परखने वाले 'द्वंद्वात्मक भौतिकवाद' का वैज्ञानिक रास्ता पकड़ा था। बाकी लोग, जो ऐसा नहीं करते और नारी को बँधे-बँधाये दृष्टिकोण से ही 'माँ', 'जननी', 'समर्पित', 'कोमल', 'त्यागी', 'सुंदर' जैसी कोटि में ही रखकर देखते हैं, जो उसकी किसी भूख (पेट की हो या देह की) की पुकार ही नहीं सुनना चाहते; बेनीपुरी के शब्दों में ''उनसे गलती ये हो जाती है कि वे आजकल के हमारे स्पंदनहीन, गतिरहित समाज को भारतीय समाज का शाश्वत रूप समझते हैं और उसी की भित्ति पर से अपने आदर्शों की दीवार खड़ी कर उस पर से चिल्ला उठते हैंयही भारतीय सभ्यता है, यही भारतीय संस्कृति

है। इससे परे जो कुछ है, वह मिथ्या है, अपवित्र है, जघन्य है, नारकीय है।''[13] भारतीय संस्कृति की गतिशीलता को रेखांकित करनेवाले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे कुछ दुर्लभ चिंतक हुए, परंतु जेंडर के संदर्भ में वे भी जड़ता/स्थितियों की निर्मिति को शाश्वत (स्त्री-तत्त्व) समझने की भूल कर बैठे। यही भूल स्त्री की पराधीनता को विवाह-संस्था में गहराई से रेखांकित करने वाले महान मनीषी ओशो रजनीश से हो गई है। पर, इस संदर्भ में, बेनीपुरी की उपलब्धि है कि स्त्रीत्व या पुंसत्व जैसी किसी कोटि में वे आस्थावान नहीं दिखते। अध्यात्मवादी होने के खतरे शायद वे जानते हैं। पुरुष-प्रधान आध्यात्मिकता ने स्त्री को 'देवी/पूज्या' आदि अवधारणाओं से गुब्बारे की तरह फुलाकर उड़ा दिया है। स्त्री के प्रति सबसे घातक छल यही है। इससे वह अपनी जमीनी हकीकत (पति की 'शयनेषु रम्भा', लतखोर दासी, बेटा पैदा करने की फैक्टरी, गरीब, हीनतर मनुष्य) को समझने में नाकाम हो गई। जब तक इस आध्यात्मिक मारणास्त्र के सम्मोहन से स्त्री मुक्ति नहीं होगी, उसे अपने व्यक्तित्व का बोध नहीं होगाचाहे लाख स्त्री-शिक्षा हो जाए, उसका मूढ़ बलिदान पुरुष-कामना की वेदी पर होते रहेगा। बेनीपुरी ने भौतिकवादी दृष्टि से काम लेकर इस भटकाव से स्वयं को बचाए रखा है। वे स्त्री को छलने व गुलाम बनाने के अस्त्र रहे, पुरुषों के तथाकथित 'प्रेम' की तरफ भी 'नयी नारी' कविता में इशारा करते हैं

*''आलिंगन!*
*ये चार मधुर-मदिर अक्षर!*
*इन चार अक्षरों में तुमने बाँधा उसे।*
*आँखों में लालसा, होठों पर कंपन*
*दोनों काँपते हाथ फैला दिए तुमने*
*वह काँपी, वह सहमी*
*वह सहमी, वह सरकी*
*तुमने झपट कर छाती से लगा लिया*
*उसने अंग ढीले किए*
*तुम्हारी फौलादी भुजाएँ कसती गईं, कसती गईं, कसती गईं*
*पीड़ा से उसने सिसकी ली*
*सिसकी में तुमने मजा पाया...*
*वह प्रेम-विभोर आँखें मूँदे खड़ी थी*
*तुम बंधनों के सृजन में लगे थे*
*आँखें खुलीं तो उसने पाया*
*जिसे भुजपाश समझा था, वह नागफाँस है*
*अंग-अंग को जकड़ रखा है जिसने*
*न स्वेच्छा से पैर बढ़ा सकती है, न हाथ उठा सकती है*



*कोई ठंडा वेष्टन उसके गले को रुँधे हुए है*
*वह बोल भी नहीं सकती/बोले तो वह कैसे?*
*कंठ में गाढ़ा वेष्टन है*
*सिर पर विकराल फण/वह फुफकार रहा है*
*जबान पर शब्द मत ला...आँखों से मुस्कराए जा!''*

स्त्री पर 'प्रेम' की ज़ंजीर डालकर उसकी सारी स्वतंत्रता का हरण कर लेनेवाले, उसका सर्वग्रास कर लेनेवाले इस प्रेम की जाति वही है''मैं तुम्हें ही प्रेम करता हूँ क्योंकि बस तेरा ही मांस खाता हूँ।'' प्रेम का 'अध्यात्म' कैसे स्त्री की देह व मन पर डाली गईं कठोर लौह-शृंखलाओं में परिणत हो जाता है, बेनीपुरी का कवि इसे खूब महसूसता है। स्त्री का 'पीड़ा में सिसकना' पर उसमें 'पुरुष का मज़ा पाना' एक दीर्घकालीन सच है। यह सच वात्स्यायनवादी कामशास्त्रों में, कुच-मर्दन, दंत-क्षत, नख-क्षत, कर-ताड़न द्वारा स्त्री को पीड़ित करके उसे 'सीत्कार' को विवश करने में रतिक्रिया की सफलता मानने के रूप में तो सदियों से है हीबल्कि, आम सामाजिक मान्यता में भी यह सोच इस रूप में प्रतिष्ठित है कि ''मर्द द्वारा छेड़छाड़ या बलात्कार स्त्री को मजा देता है। हर स्त्री यह मज़ा चाहती है।'' कैसी घिनौनी विडंबना है, जघन्य अपराध को पीड़ित की चाह बतलाकर अपराधी के बाइज्जत बरी होने का मार्ग प्रशस्त कर देना!

रामवृक्ष बेनीपुरी भौतिक परिस्थितियों का ही सबसे अधिक प्रभाव हमारे व्यवहार, सदाचार, कानून, राज्य आदि सभी व्यवस्थाओं पर मानते हैं। उसी के अनुरूप स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंध भी भौतिक स्थितियों से निर्मिति अनुशासित और रूपांतरित होते रहा है।[14] देश व काल के अंतर से स्त्री-पुरुष-संबंध के स्वरूप में परिवर्तन की मान्यता उनके स्त्री-विमर्श को कभी रूढ़िवादी या बासी नहीं होने देती।

उन्हें स्त्री की क्रमिक पराधीनता की दास्तान मालूम है, जिसे वे न सिर्फ विकासवादी नजरिये से पेश करते हैं, बल्कि भारतीय मिथकों के अनुसार भी देखते हैं। दोनों तरह से वे सिद्ध करते हैं कि स्त्री पहले स्वतंत्र थी, पर धीरे-धीरे समाज के विधि-निषेध उसे पुरुष से हीनतर एवं उसकी दासी बनाने की दिशा में विकसित हुए। स्त्री की हीनता का संबंध समाज में विवाह संस्था के उदय से है, ऐसा दृढ़ मत है उनका।

'महाभारत' से कुछ कथाएँ उद्धृत कर बेनीपुरी का कहना है कि आदिकाल में स्त्री स्वतंत्र थी, फिर पुरुष-हितों से उसे अनुशासित करने के खयाल से 'विवाह-बंधन' बनाया गया, फिर 'सतीत्व' (एकपतिव्रत) की अवधारणा लाई गई। श्वेतकेतु की कथा को सामने रखकर वे कहते हैं कि पहले स्त्री यह निर्णय लेने को स्वतंत्र थी कि वह किसी पुरुष के संग विहार सकती है, चाहे वह विवाहित ही क्यों न हो। फिर, पति की आज्ञा/आदेश के अनुसार ही पति के अतिरिक्त पर-पुरुष से संभोग कर सकती थी। पांडु ने कुंती को परपुरुषों से संभोग करने का आदेश दिया था। यानी, पति की आज्ञा

के बिना वैसा नहीं कर सकती थी स्त्री। पर, पति की मौत के बाद, उसे पूरी स्वतंत्रता थी। पीछे, (दीर्घतमा की कथा से) यह ऑर्डिनेंस जारी किया गया कि स्त्री को केवल एक पति पर संतोष करना पड़ेगा, चाहे वह अंधा हो या कोढ़ी। उसकी मौत पर भी स्त्री को पुनर्विवाह की अनुमति नहीं है। उसे आजन्म ब्रह्मचारिणी रहना पड़ेगा। इन कथाओं में आए पुरुषों की मानसिकता और भाषा की जाँच करते हैं, तो पता चलता है कि खुद व्यक्तिगत जीवन में स्वेच्छाचारी, बहुस्त्रीभोगी, व्यभिचारी, विवेकांध पुरुषों ने स्त्री के व्यक्तित्व-स्वातंत्र्य से चिढ़कर, प्रतिक्रिया में विवाह व सतीत्व के फंदे तैयार किए।[15] इस प्रकार, महाभारत की निगाह में भी 'सतीत्व' का विकास स्वस्थ मानसिकता की देन नहीं है। यह विकास-कथा कितनी हास्यास्पद है। इनसे केवल इतना सत्य झलकता है कि स्त्री-पुरुष संबंध का स्वरूप विकसनशील था। उसमें इस्पातपन नहीं था। आज हम कट्टरता या इस्पातपन (वह भी एक पक्षीयस्त्री को बाँधने वाले) को महान् मूल्य मानकर पूज रहे हैं।[16] ओह! भारतीय संस्कृति के नाम पर हम स्त्री को दासी बनाने में गौरव की अनुभूति करते हैं, जबकि यही भारतीय संस्कृति है, जिसमें स्त्री (चाहे वह विवाहिता हो) को यौन-स्वतंत्रता प्राप्त थी। रघुवीर सहाय की यह आधुनिक माँग सुदूर प्राचीन काल में समाज सिद्ध तथ्य बनी हुई थी''मैं यह जोर देकर कहना चाहता हूँ कि स्त्री का शरीर उसकी अपनी सम्पत्ति है। वह इच्छा से कितनी बार कितने ही पुरुषों से संसर्ग करे, किसी को उसे पुरुष-वर्ग की साझा-संपत्ति मान लेने का हक नहीं मिल सकता...पुरुष के और स्त्री के अन्य राजनैतिक अधिकार समान रहते हैं, पर स्त्री की देह उसका देश है और यह अधिकार कि वह किस समय किस पुरुष का रति-संसर्ग स्वीकार करेगी, उसका अनन्य राजनैतिक अधिकार है।''[17] बेनीपुरी ने सत्य का यह चेहरा जिस साहस के साथ स्वीकार किया है, वह 'नयेपन के स्वागत का साहस' रखनेवाले महान् संस्कृति-शोधक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से उन्हें आगे की पाँत में खड़ा कर देता है। पुरुष के विवाहेतर संबंध को अपनी रचनाओं में बिना प्रश्नचिह्न के साथ, सहज ढंग से लेने वाले द्विवेदीजी स्त्री की ऐसी स्वतंत्रता पर न सिर्फ चुप्पी लगाए रहते हैं, अपितु स्त्री के लिए 'पातिव्रत्य' के फंदे की भी तार्किक(?) स्थापना करते हैं। वाह रे दुहरा मापदंड! महादेवी भले दुहरे मापदंड को नहीं मानतीं, पुरुष की बहुगामिता की निंदा करती हैं; पर स्त्री की सेक्स-भूख की सहजता या यौन-स्वाधीनता से भी कन्नी काट के चलती हैं। अपनी तमाम तेजस्विता के बावजूद वे पितृसत्तात्मक यौन-नैतिकता (जिसे 'भारतीय संस्कृति' के रूप में प्रचारित किया गया है) को छिन्न-भिन्न नहीं कर पातीं। ये ही कुछ बातें हैं कि बेनीपुरी उनसे आगे निकल जाते हैं।

विकासवादी वैज्ञानिक दृष्टि से देखते हुए वे पाते हैं कि शुरु में प्राणियों में लिंग (सेक्स) का भेद न था। फिर नर व मादाये दो विभाग बने, जो मानव की उत्पत्ति के बहुत पूर्व हो चुका था। स्त्री शुरु से पुरुष के ही समान स्वतंत्र थी, पर प्रजनन की



क्षमता ने उसे बाँध दिया। बार-बार गर्भधारण करने, संतान जनने की मजबूरी ने न सिर्फ उसे रोजगार-प्रयासों से विमुख किया, वरन शारीरिक दुर्बलता भी पैदा की। दूध पिलाने वाले जंतुओं में यह शक्ति-ह्रास चरम पर पहुँच गया, क्योंकि मादा को अपना रक्त ही दूध बनाकर पिलाना पड़ता था। बच्चों के पालन-पोषण से उसमें सुकुमार भावों का विकास हुआ।[18]

स्त्री की शारीरिक दुर्बलता (जिसमें विशेष हाथ गर्भकालीन परिस्थितियों का था) और उससे उत्पन्न जीविका-विहीनता ने उसे पुरुष पर अवलंबित किया। उसका पुरुषों ने नाजायज फायदा उठाया। व्यक्तिगत संपत्ति के विकास से भी स्त्री के अधःपतन का प्रारंभ माना जाता है। गर्भधारण की बाध्यता और तज्जन्य जीविका-वंचना ने स्त्री के मन में सहायक (पुरुष) की जरूरत महसूस कराई। इससे वह पुरुष द्वारा अपने ऊपर एकाधिपत्य को कायम होते चुपचाप देखती रही। बंदरों में जिस प्रकार अपने बल से नर कई मादाओं को अपने कब्जे में कर लेते हैं, उसी (बंदर-वृत्ति) से प्रेरित पुरुष इंसान भी युद्धों द्वारा स्त्रियों को कब्जे मे करते रहे। रामायण-महाभारत या ग्रीकों रोमनों की कहानियों में स्त्रियों का पुरुषों की दासियाँ, मनोरंजन-सामग्रियाँ बनना भलीभाँति लिखा गया है। 'विवाह' का जन्म हुआ तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत चरितार्थ हुई। देह-बल से पुरुष चाँदी काटता रहा। एक-एक पुरुष, दस-बीस की कौन कहे, सैकड़ों-हजारों का पूजनीय 'पति' बन सकता था। हाँ, यदि पुरुष चाहें तो पाँच-पाँच मिलकर भी एक स्त्री का उपभोग कर सकते थे।[19] बेनीपुरी 'भारतीय संस्कृति' ग्रस्त लेखक नहीं थे, कि रामायण-महाभारत की ऐसी स्त्री-विरोधी घटनाओं को इन शब्दों में आड़े हाथों न लें''रामायण में जहाँ दशरथ आदि की लज्जास्पद कहानियाँ हैं, वहाँ राम ऐसे लोग भी थे, जो कम से कम अपनी स्त्रियों को कामवासना की सामग्री नहीं समझते थे। लेकिन महाभारत में स्त्रियों का वह रहा-सहा अधिकार भी उठ गया दीखता है। जब हम स्त्री-समस्या को सामने रखकर महाभारत के दो नायकोंश्रीकृष्ण या अर्जुन का चरित्र देखते हैं, तो शर्म से हमारा सिर नीचा हो जाता है।''[20]

बेनीपुरी ने पुरुष-मनुष्य की 'बंदर-वृत्ति' की उक्त कथा कहते हुए भी यह बात जोड़ी कि सोचने-विचारने की क्षमता के कारण वह 'बंदर-वृत्ति' से कुछ आगे बढ़ गया। उन्हें ज्ञात है कि सोचना-विचारना भी भौतिक परिस्थितियों पर ही अधिकतर निर्भर करता है। इसका पुरुषों में घटिया-दर-घटिया विकास होता गया। रक्त-शुद्धि का मोह तथा संतान में अपना ही खून देखने की ललक में पुरुषों ने स्त्रियों पर धारा 144 लगाया कि मेरे सिवा दूसरे पुरुष से कभी संपर्क न रखो। स्वयं मर्द की रोज नयी से नयी स्त्री के सहवास की इच्छा जोर मारती रहीवह पूरी करता रहापर, पत्नी की ऐसी ही इच्छा (नये से नये पुरुष के सहवास की इच्छा) को कुचलता रहा। सभी साम्राज्यों या समाजों में पुरुष को विवाहेतर संभोग की सहूलियतें मिली हुई हैं। यह

कहते हुए बेनीपुरी यौन-नैतिकता के दुहरे चरित्र का पर्दाफाश करते हैं कि लक्ष्मीपुत्र जो कोठे पर पकड़े जाएँएक साधारण सी घटना मानकर नजरअंदाज की जाती है। पर, कुलवधू (भले वह उसी वेश्या-लोलुप की बीवी हो) का किसी परपुरुष की ओर आँख उठाकर देख लेना भी समाज में कानाफूसी का कारण बन जाता है, उसे अक्षम्य अपराध सा मानकर, वह स्त्री लोगों के क्रोध की भीषण शिकार बनाई जाती है।[21]

बेनीपुरी का मत है कि गुलामी की जंजीर को मजबूत करने के लिए ऐसी शास्त्र-रचना की आवश्यकता होती है जो गुलाम के अंदर हीन-भावना भरकर, गुलामी को उसकी अनिवार्य जरूरत के रूप में महसूस करा दे। इस प्रसंग में वे 'मनुस्मृति' व तुलसीदास को उद्धृत कर उनकी स्त्री-विरोधी दृष्टि को आड़े हाथों लेते हैं। स्त्री को दोषों की खान बतलाकर, उसकी स्वतंत्रता छीनने का जो आयोजन 'मनुस्मृति' ने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यते' जैसे छल-वचनों की आड़ में किया है, उसके लिए वे कहते हैं''कोई भी स्वाभिमानी महिला ऐसी पुस्तक को जला डालना चाहेगी, जिसमें उसकी जाति को सदा गुलामी में रखने का इतना बड़ा जाल रचा गया हो।''[22] तुलसीदास द्वारा चलाए गए नारी-निंदा एवं स्त्री-स्वतंत्रता-हरण अभियान को कोसते हुए बेनीपुरी थकते नहीं''हमारे तुलसी बाबा ने तो कमाल किया है। 'अधम ते अधम अधम अति नारी', 'तीय अधर बुधि', 'नारी स्वभाव सत्य कवि कहहीं, अवगुन आठ सदा उर रहहीं'आदि उद्‌गारों के द्वारा जब उन्हें संतोष नहीं हुआ तो यह 'मार्शल लॉ' जारी कर दिया कि 'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी।' भला इस गुस्ताखी का कोई ठिकाना है?...वह कहते हैं'वृद्ध-रोग-वश जड़, धनहीना, अंध, बधिर, क्रोधी अति दीना; ऐसेहुँ पति कर दिए अपमाना, नारी पाव जमपुर दुख नाना।' माशाल्लाह!''[23]

जिन स्त्रियों से पुरुष-समाज नाना सुख लूटता है, जिन पर उसका अस्तित्व निर्भर है, जिन्होंने उसे जन्म दिया हैउन पर इतना अत्याचार! सिर्फ इसलिए कि कुछेक शारीरिक दुर्बलताएँ उनमें हैं (और सच कहें तो वे भी पुरुष-समाज की हवसी वृत्ति से उत्पन्न उनके गर्भाधान की देन हैं, फिर समाज की अन्यायपूर्ण संरचना का परिणाम हैं, जो स्त्री को देहाभ्यास से निरंतर रोकती रही)! बेनीपुरी की आत्मा स्त्री की दुर्दशा-कथा कहते हुए डोल जाती है। 'कॉलेज की लड़कियाँ' निबंध में उन्होंने भारतीय पत्नीत्व का कच्चा चिट्‌ठा खोला है, जो बहुलांश में आज भी (शहरों तक में) जिंदा है''आज तक पुरुषों ने नारियों पर मनमाना शारीरिक अत्याचार किया और उनकी कुछ एक शारीरिक अयोग्यताओं से लाभ उठाकर उन्हें अपनी गुलामी में रखा। इस गुलामी का सुंदर से सुंदर नाम दिया गयाउन सुंदर नामों पर सुंदर से सुंदर व्याख्याएँ हुईं, कविताएँ की गईं, किंतु उनकी तह में छिपी रही एक भावना'हे नारी! तू पुरुषों से हीन है, बल में, बुद्धि में; सभी चीजों में तेरी रक्षा सदा होनी चाहिएचाहे तू लड़की हो, युवती हो या वृद्धा हो। तुझे अपने रक्षक के प्रति वफादार, पूरा भक्त



होना चाहिए। तू उसे खिलाकर खा, उसके पैर दाब कर सो। हाँ, सोने के पहले उसकी पाशविक प्यास को भी दूर कर। अपना शरीर उसकी कामुकता की भेंट कर दे, फिर जब तक वह सोता रहे, तू उठ जा, घर बुहार दे, आँगन झाड़ दे, बरतन मल, चौका लगा, चूल्हा जला दे और कुछ-कुछ गर्म जलपान तैयार कर, उसकी निद्रा भंग की प्रतीक्षा में बैठ। कोई मुजायका नहीं कि यह आदमी कुरूप हो, क्रोधी हो, बदचलन हो, शराबी हो। ओ पगली! यह अंधा हो या कोढ़ी। तुझे ऐसी बातें सोचना तक नहीं चाहिए। तू चुपचाप उसकी सेवा कर और तेरे मरने पर तेरे श्राद्ध के पहले ही यह भले ही एक नई छोकरी को घर में बिठा ले या तेरे रहते भी यह भले ही जूठे पत्तल चाटता फिरे। तू उसी के नाम पर जिंदगी काटने को तैयार बैठ। तू त्याग की चरम सीमा दिखा, क्योंकि तू देवी है, देवी। हाँ, यह दूसरी बात है कि पशुओं के साथ तू भी ताड़न की अधिकारी है। किंतु, तुझे इन बातों का खयाल नहीं करना चाहिए। ओ स्त्री! विधाता ने तेरा जन्म इन्हीं पावन कर्तव्यों के पालन के लिए दिया है।' बस इसी तरह शत-शत वाक्य-समूह।''[24]

'ज़ंजीरें और दीवारें' शीर्षक अपने निबंध में रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'विवाह' के अंतर्गत स्त्री पर थोपी गई दो प्रकार की दीवारों की चर्चा की है। अपने काल के अनुभव के आधार पर उन्होंने पाया था कि स्त्री के लिए ससुराल जेल से कम नहीं है। सामंती संस्कृति के संयुक्त परिवार प्रधान उस युग के लिए यह बात सत्य तो थी ही, पर दुःख की बात है कि आज भी उसकी कठोरता में थोड़ा-सा ही विचलन आ पाया है, जब सामंती ढाँचे में पूँजीवाद का काफी हद तक प्रवेश होने से समाज की दिशा एकल परिवारों की ओर है। बेनीपुरी ने स्त्री पर जिन प्रकट दीवारों की चर्चा की है, वे सिर्फ गरीबी की देन नहीं हैं। ठीक है कि अर्थ का अभाव स्नानागार, शौचालय, हवादार-रौशनदानों वाले मकान से परिवार को वंचित कर सकता है; पर स्त्री उसी में घुटती रहे, घूमने-फिरने न जाए, एक बार ससुराल आ गई तो नैहर लौटना सहज नहीं रहे, आदि वृत्तांत भी क्या गरीबी की देन है? उस जेल से स्त्री को जवानी में नैहर के लिए एवं बुढ़ापे में तीर्थयात्रा के लिए ही 'पैरोल' सा कुछ दिनों के लिए मौका मिलेयह भी क्या गरीबी की देन है? इसके पीछे स्पष्टतः कारण है, पितृसत्तावादी सोच जो स्त्री के कष्ट को कष्ट मानती ही नहीं। बेनीपुरी ने इसे खूब पहचाना है। आज भी गाँवों के मध्यवर्ग व संपन्न वर्ग के (सवर्ण) परिवारों का यह बड़ा सच है। परिवार में धन की कमी फालतू शान-शौकत, अतिथि सत्कार, निर्लज्ज विलास आदि के आड़े नहीं आती, अपनी सेवा-टहल के लिए नौकर-चाकर (या रखैल) रखने की मर्दाना आदत के आड़े नहीं आती। परंतु, घर की स्त्री का इलाज कराने या उसके लिए शौचालय व स्नानागार का जरूरी प्रबंध करने को बराबर अर्थाभाव के नाम पर रोका जाता है। बेनीपुरी ने जिन अप्रकट दीवारों की चर्चा की है, वे तो मध्यवर्गीय परिवार का सार्वभौम सच हैंक्या देहात, क्या महानगर। 'वो रहने वाली महलों की' जैसे

सास-बहू मार्का टीवी-सीरियलों की बाढ़ भले स्त्री को पालतू-दुधारू गाय बनाने की मानसिकता से लाई गई हो, पर वे महानगरीय परिवारों के सच को तो किसी हद तक बयान करते ही हैं। साठ-सत्तर वर्षों पूर्व किए गए बेनीपुरी के विश्लेषण का रंग आज भी फीका नहीं पड़ा है, जिसके अनुसार ससुराल-रूपी जेल में एक पूरा 'पेनल' और 'प्रोसीजियर कोड' है, जो अपने मुताबिक स्त्री के चलने, बोलने, खाने-पीने तक को नियंत्रित करता हैयौन-नैतिकता तो आम बात है। स्त्री किससे बोले, किससे नहीं? कैसे बोले? कैसे खाए-पीए? सब तय किया गया है। जरा सा भी इसमें व्याघात हुआ कि कानाफूसी-बदनामी शुरु! सास इस जेल की जेलर है, ननद जमादार। उनकी ड्यूटी है कि इन दीवारों के अंदर ही बहू को बंद रखें, नियमों का पालन कराएँ। उन बेचारियों का भी क्या दोष! वे खुद इन पाबंदियों को भुगत चुकी हैं या भुगतेंगी। वे भी स्वाधीन कहाँ हैं कि जो जिम्मेदारी दी गई है, उसे न निबाहें?[25]

बेनीपुरी विवाह-संस्था के स्त्री-ग्रासी स्वरूप की रग-रग से वाकिफ हैं। उसके द्वारा स्त्री पर पुरुष का जो घृणित एकाधिपत्य कायम हुआ है, उसका यथाशीघ्र अंत चाहते हैं। वे स्त्री की मुक्ति के लिए पुरुषों की उदार-भावना को जरूरी मानते हुए भी उसे पर्याप्त नहीं मानते, क्योंकि''पुरुषों की उदार-भावना उनके पथ में कुछ काँटे चुन देगी, बस इतना ही, रास्ता तो उन्हें स्वयं पर तय करना होगा।''[26] उन्हें बेहद प्रसन्नता है कि स्त्री-शिक्षा ने स्त्रियों को जागरुक बनाना शुरु कर दिया है। मेकालेवाद की क्लर्क पैदा करने की मानसिकता की तरह ही सुघड़ गृहिणियों को तैयार करने के घटिया उद्देश्य से चलाई गई स्त्री-शिक्षा ने उस समय ही जो सकारात्मक ढंग पकड़ा था (जिसकी चर्चा इस निबंध में पहले भी हो चुकी है)उस पर बेनीपुरी की सही टिप्पणी थी''अंग्रेजी शिक्षा ने जहाँ बहुत सारे क्लर्क और अंग्रेजी राज्य के स्तंभ पैदा किए, वहाँ उसने गांधी और जवाहर की भी सृष्टि की है। यों ही हमारी स्त्री-शिक्षा ने यहाँ बहुत सारी गृहिणियों की सृष्टि की है, वहीं उसने कुछ ऐसी विद्रोही स्त्रियों की भी सृष्टि की है, जो अपनी वर्तमान परिस्थिति को अच्छी तरह समझ गई है और इससे उद्धार पाने के लिए व्यापक प्रयत्न कर रही हैं।''[27] बेनीपुरी आज होते तो ऐसी विद्रोहिणियों की लंबी कतार देखकर उछल पड़ते। भारतीय उपमहाद्वीप के सबसे बुलंद स्वर तसलीमा नसरीन का सार्वजनिक अभिनंदन कराते!

स्त्रियों के गुलाम होने के मूलभूत कारण दैहिक-दुर्बलता को विज्ञान के विकास ने कमाना शुरु कियावह देखकर बेनीपुरी बड़े उत्साहित थे। स्त्री को निरंतर कमजोर बनाए रखने वाली प्रजनन-बाध्यता पर अंकुश लगाया विज्ञान की खोजों ने। यह बहुत बड़ी क्रांति थी, जिसे उन्होंने महसूस किया। इसके साथ उन्होंने देखा कि विज्ञान ने कलों, यंत्रों का ऐसा संसार रचा कि शारीरिक रूप से कमजोर होने पर भी स्त्री जीवन-यापन के सभी काम सफलतापूर्वक कर सकती है। उत्साह में भरकर वे नवयुग का स्वागत करते हैं''अब स्त्रियाँ केवल कपड़े बुनने, सीने, टाइप आदि का काम



करके ही स्वतंत्र जीवन नहीं बिता सकतीं, वरन वे हल चलाती हैं, मोटर हाँकती हैं, वायुयान उड़ाती हैं...इस प्रकार विज्ञान ने उन्हें हर तरह से स्वतंत्र कर दिया है और वे अब पुरुषों को अंगूठा दिखाकर स्वतंत्र जीवन व्यतीत कर सकती हैं और कर रही हैं।''[28] तब से 60-70 वर्ष बीत चुके हैं और स्त्री की दुनिया को विज्ञान-प्रौद्योगिकी ने धरती से चाँद तक पहुँचा दिया है। इस हालत में 'स्त्री की बेबसी पर कायम' विवाह-संस्था के जड़ीभूत प्रासाद में भूकंप आना ही था। बेनीपुरी ने तभी इस सत्य को पहचान लिया था''ज्यों-ज्यों उनमें स्वावलंबी बनने की भावना बढ़ती जाएगी, त्यों-त्यों यह विवाह बंधन शिथिल पड़ता जाएगा।''[29] उनका यह विश्वास तर्काधृत था, अतः सही सिद्ध होते जा रहा है। बढ़ रहीं तलाक की घटनाएँ स्त्री-जागरण तथा पतनशील सामंती मूल्यों के खिलाफ स्त्री की बढ़ रही स्तुत्य असहिष्णुता के प्रमाण हैं। बेनीपुरी यदि आज होते तो जश्न मनाते, न कि नामवर सिंह की तरह भारतेंदुयुगीन रुलाई का दामन थामते। गौरतलब है कि 'आउटलुक' पत्रिका को दिए एक इंटरव्यू में उन्होंने स्त्री-विमर्श पर छींटाकशी करते हुए कहा था कि स्त्री-आंदोलनों का यह परिणाम है कि तलाक की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं।[30] परिवार टूट रहे हैं! यह बयान पढ़कर सहसा विश्वास नहीं होता कि ये सूक्तियाँ मार्क्सवादी आलोचक नामवर सिंह की हैं, जो 'परिवार' को पवित्र व शाश्वत संस्था के रूप में ही शायद मानते हों तथा उसमें कोई भी बदलाव उनके मर्यादावादी मन को 'धर्म की हानि' के रूप में दिखता है। बेनीपुरी उनसे पीछे के युग में होकर भी उनसे कितने आधुनिक हैं। आज भी जब लोगों को 'लिव-इन-रिलेशनशिप' (सहजीवन) के घट रहे विकल्प पर खुले मन से स्वागत करने का साहस नहीं हो रहा है, तो साठ-सत्तर साल पूर्व हिंदी पट्टी के किसी लेखक द्वारा विवाह का विकल्प 'मैत्री भाव' में देखना कितना क्रांतिकारी है![31]

स्त्री की बढ़ रही शिक्षा और विज्ञान-जनित हो रहा पारिस्थितिक बदलाव नारी-मुक्ति की दिशा में है, जिससे स्त्री की आत्मनिर्भरता ही नहीं, घर से बाहर निकलकर विविध मानवीय प्रतिभाओं के प्रस्फुटन में भागीदारी भी बढ़ी है। बेनीपुरी ने अँगड़ाई लेते अपने समय को देखकर टिप्पणी की थी''जगत् का नारी-समाज चाहेगा कि वह केवल घरों के अंदर बंद न रहे, केवल पति और बच्चों के पचड़े में ही न फँसा रहेवह चाहेगा कि उसकी गिनती कलाविदों, आविष्कारकों, राजनीतिज्ञों, सेनापतियों आदि में हो। और, जैसे-जैसे यह चाह बढ़ती जाएगी, विवाह-बंधन की कड़ियाँ भी ढीली पड़ती जाएँगी, इसमें भी क्या कोई शक है?''[32] स्त्री नये युग में संतान-निग्रह के तरीकों का प्रयोग कर अवांछित गर्भाधान से बची रहेगी; पर माँ तो स्त्री को ही बनना हैभले स्वेच्छा द्वारा वरण किया जाए। भले हर स्त्री का माँ बनना अनिवार्य नहीं, पर जो भी स्वेच्छया माँ बनेगी, उसकी गर्भकालीन दुर्बलता का क्या समाधान होगा? बेनीपुरी इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर मौन नहीं है। वे तत्कालीन रूस व इंग्लैंड सरकारों द्वारा नारी पर से मातृत्वकालीन बोझों को हल्का करने के प्रयासोंप्रसूतिगृह,

शिशुशाला आदि की व्यवस्थाकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। कहते हैं कि जब संतानोत्पत्ति हेतु प्रसूतिगृह हैं, तो स्त्री किसी मर्द की दासता क्यों मंजूर करे? संतान के लालन-पालन के लिए शिशुशालाएँ हैं, तो क्यों सहे किसी पुरुष की धौंस? स्त्री की रही-सही इस बाध्यता के भी अवसान होने से विवाह-संस्था कैसे न प्रभावित होगी? यह बेनीपुरी ने तभी देख लिया था।[33]

वे 'विवाह-संस्था' को स्त्री के संपूर्ण अस्तित्व का ग्रासकारी मानते हुए भी 'विवाह-संस्था' के समूल उच्छेद का समर्थन नहीं करते लगते। वे उसमें ऐसे क्रांतिकारी सुधार की हिमायत करते हैं जिससे उसका चरित्र पूर्णतः बदल जाए, भले तब विवाह जैसा नाम जरूरी नहीं रहे। जिसमें स्त्री इतनी स्वतंत्र हो कि ''न वे अपने को खेत समझती हैं कि खेतिहर की अनिवार्यता महसूस करें...वे होंगी आप की संगिनी, कामरेड और उनके कर्तव्य वही होंगे, आपके उनके प्रति स्वाम्य नहीं, साम्यइस युग का संदेश!''[34] यह साम्य बेशक प्रसाद की उस 'समरसता' से बेहतर होगा, जो 'अधिकार' (नारी?) और 'अधिकारी' (पुरुष?) की समरसता है। स्त्री-पुरुष के वैषम्य को यथावत् कायम रखते हुए 'समरसता' क्या खाक होगी?[35] बेनीपुरी को पता है कि नये युग की परिस्थितियों में स्त्री को न जीविका के लिए, न गर्भ-बाध्यता के लिए, न बच्चे पालने के लिए या यौनिकता की तुष्टि के लिए विवाह की लौह-शृंखला में बँधने की जरूरत है। रह गई 'वर्ण संकरता' नामक कथित दोष से बचने की बात, तो बेनीपुरी इस पर भी खुलकर विचार करते हैं। वे कहते हैं कि यदि वर्ण-संकरता का अर्थ विवाहेतर संबंध से उत्पन्न संतान है तो व्यास, वसिष्ठ, कृप आदि कई महापुरुष ऐसे ही हैं। 'रक्त-शुद्धता' का बेनीपुरी की दृष्टि से एक ही संभव अर्थ हैगर्भधारण केवल एक स्त्री और एक पुरुष के रजवीर्य का संयोग हो, उसमें किसी तरह का मिश्रण न हो। इस अर्थ के अनुसार भी विवाह-बंधन की कोई खास आवश्यकता नहीं समझी जा सकती। एक स्त्री और एक पुरुष 'मैत्री-भाव' में रहकर भी शुद्ध रक्त की संतान उत्पन्न करने का दावा कर सकते हैं। जब इतना सब समझते हुए बेनीपुरी कहते हैं''प्रकृति ने पुरुष और स्त्री को कुछ ऐसे पूरक रूप में बनाया है कि एक के बिना दूसरे की गुजर नहीं है। अतः दोनों को किसी न्यायपूर्ण और उचित संबंध सूत्र में गूँथना ही पड़ेगा। और यह संबंध जितना ही अधिक स्थायी होगा, दोनों की सुख-शांति उतनी ही अधिक सुरक्षित रहेगी।''[36] तो उनका आशय बस एक ऐसे परिवार की रचना से है, जो स्त्री की पुरुष की तुलना में पूर्ण समानता के आधार पर, परस्पर रजामंदी से बने; जिसमें स्त्री पुरुष की सहचरी हो, न कि अनुचरी। वे पुरुषों को चेतावनी देते हैं कि आप अपने लिए जिस अधिकार को चाहते हैं, स्त्रियों को भी वही अधिकार देना पड़ेगाचाहे पारिवारिक कर्तव्यों की बात हो या यौन-तुष्टि की। परिवार की जरूरत बेनीपुरी शायद इसीलिए मानते हैं कि उसके बिना संतानों को मनुष्य नहीं बनाया जा सकता और उसे अनंत संभावनाशील व्यक्तित्व प्रदान नहीं



किया जा सकता। इसलिए, चाहे 'परिवार' का जितना खुला अर्थ हो, पर एक परिवार चाहिए। स्त्री-पुरुष के मैत्री-भाव से बनेगा वह।

बेनीपुरी वर्तमान 'विवाह' के विकल्प के रूप में, स्त्री-पुरुष के मैत्रीभाव से बनी, (टिकाऊ यौन-संबंध वाली?) किसी लचीली व्यवस्था का स्वप्न देखते हैं''भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले, अपनी जीविका भिन्न-भिन्न उद्योगों से अर्जित करनेवाले, आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे से बिल्कुल स्वतंत्र जीवन बिताने वाले युवक और युवतियाँ पारस्परिक रजामंदी से मैत्री भाव की स्थापना करेंगे और संतान उत्पन्न करेंगे। इस मैत्रीभाव के लिए न किसी व्यवस्था की आवश्यकता होगी, न किसी धार्मिक स्वीकृति की, जैसा कि आज उस भाव में होता है। इस प्रकार के मैत्रीभाव को लोग आजन्म निबाहने की कोशिश करेंगेआज भी करते हैंकिंतु इसमें इस्पातपन नहीं होगा। यह संबंध जितना ही दृढ़, उतना ही लचीला समझा जाएगा। वे जब चाहें, पारस्परिक स्वीकृति से इस संबंध को तोड़ सकेंगे। न इसके लिए कचहरी में जाने की जरूरत होगी, न धर्माध्यक्ष के निकट!...और समाज इसको गर्हित और निंद्य नहीं समझेगा.. .यद्यपि वह आजन्म निभाने वाले मैत्री भाव की खुलेआम प्रशंसा करेगा।''[37] बेनीपुरी का साठ-सत्तर साल पूर्व देखा गया यह वैज्ञानिक सपना आज छिटपुट रूप से साकार होता दिखाई दे रहा है। जिसे वे 'मैत्रीभाव' कहते हैं, वह 'लिव-इन-रिलेशनशिप' के रूप में महानगरीय जीवन का प्रयोग बनना शुरु हो चुका है'सलाम नमस्ते', 'फैशन' जैसी फिल्में उसी की तरफ इशारा करतीं कला जगत् का चरित्र भी बदल रही हैं। ऐसे संबंधों का विकल्प कोर्ट ने भी लगभग खोल दिया है और परंपरागत विवाहों की अनिवार्यता समाप्त हो चली है, यद्यपि उनका उच्छेदन आज भी आमतौर पर आसान नहीं। स्त्री-मुक्ति संबंधी बेनीपुरी की क्रांतदर्शिता यहीं तक नहीं रुकती। वैज्ञानिक नेत्रों से वे देखते हैंउस अवस्था में 'तुम किसकी संतान हो?'का उत्तर लड़के-लड़कियाँ 'माँ' की तरफ इशारा कर के देंगे। यह हो सकता है कि स्त्री के तीन बच्चे तीन अलग-अलग पुरुष मित्रों के संबंध के परिणाम हों। फलतः, इस विविधता में एकता सूचक नाम 'माँ' का ही लेना ठीक रहेगा। भले इस सत्य को आने देने में लोग रुकावट खड़ी करें, पर रोक न पाएँगे।[38] इस प्रकार बेनीपुरी स्त्री की पूर्ण मुक्ति उसकी तमाम मुक्तियों के बाद पुरुष-विशेष के प्रति यौन-प्रतिबद्धता से मुक्ति हो जाने पर ही संभव मानते हैं। यही दृष्टिकोण तो आधुनिक स्त्री-विमर्श का है। इसे आज से सात दशक पूर्व देखना जिस लेखक से संभव हुआ है, उसकी समझ की ही नहीं, हिम्मत की भी दाद देनी होगी।

समग्रतः, कहा जा सकता है कि हिंदी के विमर्शकारों में रामवृक्ष बेनीपुरी इस दृष्टि से बेहद स्पृहणीय हैं कि आधी आबादी पर पड़ीं, डाली गई व्यवस्था व विचारधारा की तमाम ज़ंजीरों को छिन्न-भिन्न करने के लिए जिस वैचारिक ऊष्मा की उन्होंने साधना की, वह आज भी दुर्लभ है। आज भी जब यूनिवर्सिटियों के डॉक्टरेट

करके निकले पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ तक उसकी आँच सहने से घबरा सकती हैं अथवा बेनीपुरी जैसों का डंडों व जूतों से सत्कार करने की बेताबी आम हो सकती हैतब आज से सात दशक पहले उक्त प्रकार की बातें करके 'संरचना' को हिला डालने की हिम्मत कितना बड़ा अर्थ रखती होगी। यदि साहित्यकार का अनिवार्य गुण अन्यायपूर्ण समाज-व्यवस्था का ध्वंस कर नवीन, समताधृत व्यवस्था की ओर लोकचेतना को गतिमान करना हैतो कहना नहीं होगा, बेनीपुरी महान साहित्यकार हैं।

## संदर्भ

[बेनीपुरी के सारे संदर्भित लेख'कॉलेज की लड़कियाँ', 'जंजीरें और दीवारें', 'सतीत्व का भारतीय आदर्श', 'वेश्या बनाम सती', 'नारी जागरण और विवाह-बंधन' तथा 'पंचकन्या' एवं 'नयी नारी' (कविता) साहित्य अकादेमी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'रामवृक्ष बेनीपुरी रचना संचयन' से प्राप्त हैं।]


1. कॉलेज की लड़कियाँ
2. नयी नारी
3. ज़ंजीरें और दीवारें
4. स्त्री-शक्ति (पुस्तक), विनोबा
5. ज़ंजीरें और दीवारें
6. वही
7. वही
8. सतीत्व का भारतीय आदर्श
9. वेश्या बनाम सती
10. वही
11. वही
12. शृंखला की कड़ियाँ (पुस्तक)महादेवी वर्मा
13. सतीत्व का भारतीय आदर्श
14. नारी-जागरण और विवाह-बंधन
15. सतीत्व का भारतीय आदर्श
16. वही
17. 'अर्थात्'रघुवीर सहाय
18. नारी जागरण और विवाह-बंधन
19. वेश्या बनाम सती
20. वही
21. नारी-जागरण और विवाह-बंधन
22. वेश्या बनाम सती
23. वही
24. कॉलेज की लड़कियाँ
25. ज़ंजीरें और दीवारें
26. नारी-जागरण और विवाह-बंधन
27. वेश्या बनाम सती
28. वही
29. नारी-जागरण और विवाह-बंधन
30. आउटलुक, 22 सितंबर, 2003
31. नारी-जागरण और विवाह-बंधन
32. वही
33. वही
34. कॉलेज की लड़कियाँ
35. ''समरसता है संबंध बनी अधिकार और अधिकरी की।'' (इड़ा, 'कामायनी')
36. वेश्या बनाम सती
37. नारी-जागरण और विवाह-बंधन
38. वही

# आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की नारी-दृष्टि : चरित्र से प्रतीक की ओर साधना

## (संदर्भ-'बाणभट्ट की आत्मकथा')

अपने तीसरे उपन्यास 'पुनर्नवा' (1973 ई.) में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जो सूत्र-वाक्य विनियोजित करते हैं, ''जानना वस्तुस्थिति के प्रत्यक्षीकरण का नाम है, समझना वस्तुस्थिति की कारण-परंपरा की अवगति का नाम है,'' वह खुद उन्हीं पर लागू किया जाए तो कहा जा सकता है कि वे स्त्री की व्यथा को जानते थे, किंतु शायद समझते न थे। फिर, वे स्त्री की व्यथा ही जानते थे, समस्या तो संभवतः ठीक से जानते भी न थे, अन्यथा वास्तविक जीवन-तल पर स्त्री-समस्या का जिक्र आते ही उनकी लेखनी तेजी से आगे नहीं बढ़ जाती, समस्याओं को सूचना-मात्र बनाकर कवित्व-भूमि पर न चढ़ जाती। फिर, कई बार तो वे प्रसंग रहने पर भी उसकी वास्तविक समस्या की खाइयों में झाँकने को उत्सुक नहीं होते और स्त्री-सौंदर्य तथा स्त्री-विषयक दार्शनिक मूल्यों के तराशे गए उपवन में विहार करने लग जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो वे इतना समझकर ही कृतार्थ न होते कि 'स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते,'[1] बल्कि यशपाल की 'दिव्या' की तरह ही विशाल जीवन-फलक पर नारी-पीड़ा के वास्तविक चित्र दिखलाते। उसके घुटते-लुटते-पिटते जीवन के इंसानी चित्र सामने रखते। मिसाल के तौर पर उनके प्रथम उपन्यास की दमदार नारी पात्र निउनिया को रखा जा सकता है।

### स्त्री-महिमा का भाववादी अभियान यानी ज्वलंत स्त्री-समस्या पर कविताई

'बाणभट्ट की आत्मकथा' (1946 ई.) के सबसे यथार्थ व गतिशील चरित्र निउनिया के बारे में लेखक ने एक पर एक सपाट सूचनात्मक बातें प्रस्तुत की हैं, जिनका सार यह है कि भड़भूजे से सेठ बने किसी कान्दविक वैश्य की विवाहिता के रूप में एक वर्ष गुजारने के बाद उसने वैधव्य का दुःख झेला। आत्मरक्षार्थ घर से भागकर, अकेले इधर-उधर भटकती, सोलह वर्ष की उम्र में[2] वह बाणभट्ट की



नाट्यमंडली में बतौर अभिनेत्री शामिल हुई। बस इतना पता लेखक हमें देता है। उसका बाणभट्ट, सोलह वर्षीया कच्ची बालिका के घर से भागने जैसे दुस्साहसिक कार्य के पीछे किसी मर्मन्तुद दुःख का अनुमान लगाकर दुखी होता है तथा पहली बार अनुभव करता है कि 'मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है'[3] पर बहुत सोचकर भी उस दोष तक नहीं पहुँच पाता। यह बाण की ही नहीं, खुद लेखक की भी सीमा है। वह दोष है पितृसत्तात्मक समाज-रचना, जिसने स्त्री को हर तरह से दोयम दर्जे का बनाकर रखा है, जो उसकी देह को कुचलते रहा है, जिसने उसे इंसान की अपेक्षा देह ही समझकर अपने मनमाने व्यवहार का शिकार बनाया है। द्विवेदी जी को पता है कि ऐसी निपुणिकाएँ हर जगह आज भी हैं, पर उनके लिए वे समस्या नहीं हैं। तेरह-चौदह वर्ष की छोटी-सी उम्र में उन्हें ब्याह की बेड़ी में जकड़ दिया जाना (वह भी अनमेल विवाह) उनके लिए समस्या नहीं है; फिर धर्म-व्यवस्था द्वारा उस पर डाली गई वैधव्य की क्रूर अवधारणा भी कोई समस्या नहीं है; घर में विधवा बनकर घुटते रहना भी उनके लिए कोई खास समस्या नहीं है। असली समस्या है, उस बहुप्रताड़ित बालिका का घर से भाग आना। भाग आने पर ही उसकी समस्या का कुछ अनुमान लगता है, वह भी कवि-सुलभ रूमानियत के तहत। निउनिया की जाति आर्थिक व राज-मर्यादा संबंधी उत्थान पाकर अछूत से उठकर वैश्य कोटि में आ गई थीइस सामाजिक गतिशीलता की समझ लेखक को है, पर इस उत्थान के बाद उसने अपनी प्रगतिशीलता को ब्राह्मणवादी जड़ता से विस्थापित करना शुरु किया (जिसे एम.एन. श्रीनिवास ने 'संस्कृतीकरण' कहा है), जिसका एक रूप 'विधवा-विवाह' का बंद होना था। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य, जिसने निउनिया का संत्रास बढ़ाने में भरपूर योगदान किया, को लेखक ने संक्षिप्त सूचना-रूप में रखकर काम चला दिया। जबकि होना यह चाहिए था कि त्रासकारी स्थितियों के सच्चे अनुभूत चित्रों के रंग से कथा की करुणा को प्रगाढ़ बनाया जाता। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के 'कथामुख' में दीदी मिस कैथराइन द्वारा बिल्ली का एक बच्चा पालने का जिक्र आया है। दूसरी बार जब वे मुगलसराय स्टेशन पर व्योमकेश शास्त्री को मिलीं, तो तमाम हड़बड़ी के बावजूद यह कहना न भूलीं कि ''देखो, मैं बहुत दुखी हूँ। वह बिल्ली धोखा दे गई...कम्बख्त स्त्री निकली। देख न, पाँच बच्चे दिए हैं, मैं कहाँ तक सँभालूँ?'' इस सूचना में जो निर्ममता निहित है, वह और विस्तार पाती है। 'आत्मकथा' के 'उपसंहार' में दीदी (मिस कैथराइन) के व्योमकेश शास्त्री के नाम पत्र में बड़े सपाट ढंग से लिख दिया गया है'उस भाग्यहीन बिल्ली ने बच्चों की एक पल्टन खड़ी कर दी है। युद्ध में इतने बम गिरे लेकिन इन शैतानों में से एक भी नहीं मरा। मैं कहाँ तक सँभालूँ। जीवन में एक बार जो चूक हो जाती है, वह हो ही जाती है। इस बिल्ली का पोसना भी एक भूल ही थी।''इस सपाटबयानी में निर्मम व्यंग्य है, बिल्ली से पैदा हुई जनसंख्या-समस्या पर। किंतु उस बिल्ली की इस स्थिति के पीछे

कारण-रूप में कोई बिल्ला है, यह समझने की फुरसत नहीं है। उपन्यासकार ने स्त्री की इस बाध्यतामाँ बनने की बाध्यता और माँ बनते-बनते बिल्ली के रूप में ढलते, जच्चाघर में कैद होते स्त्रीत्व को न देखा। उसके इस ठोस यथार्थ को विचार-पथ में न लाया, जहाँ से उसकी स्वतंत्रता का हनन और घरेलूकरण शुरु होता है। इस उद्धरण से स्त्री-समस्या पर लेखकीय दृष्टि का कुछ अनुमान लग जाना चाहिए।

द्विवेदी जी का प्रथम और यशस्वी उक्त उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' उनके बहुविध द्वंद्वों का भी प्रमाण है और अक्सर पुरानी मूल्य-व्यवस्था की ओर ढरक जाने का परिणाम भी (खासकर स्त्री के संदर्भ में)। यह बात शत-प्रतिशत सही है कि 'सारी कथा में स्त्री-महिमा का बड़ा तर्कपूर्ण और जोरदार समर्थन है',[4] परंतु यह बात भूलने की नहीं है कि 'महिमा' का अभियान दर्शन के भाववाद से निकलता और उसी में अवसित होता है, जबकि स्त्री की समस्याएँ ठोस हैं, ज्वलंत हैं; जो यथार्थ अनुभूति की माँग करती हैं। उपन्यास में प्रतिष्ठित होनेवाली नारी 'तत्त्व नारी' है, न कि वास्तविक हाड़-मांस की इंसान। नारी-शरीर को देवमंदिर की तरह पवित्र मानने वाला, नारी-महिमा का जानकार बाणभट्ट नारी-सामान्य की कुछ समस्याओं व पीड़ाओं का साक्षी रहकर भी अक्सर कविता की दुनिया में बहक जाता है। डॉ. रोहिणी अग्रवाल का विचार संगत है कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को व्यवस्था की क्रूरता दिखलाई ही नहीं पड़ती[5], जिसकी शिकार सामान्य स्त्री-पात्रों की नियति पर विचार ही वे नहीं कर पाते हैं। सच है कि उनके लिए घर में बहुविध पीड़ित, घुटती नारी और बाहर अपहृत होती, बिकती यौन हिंसा की भेंट चढ़ती, सामंतों की भोग्या बनती या मंदिरों में धर्म के नाम पर यौन-बलि चढ़ती (देवदासी) अथवा वेश्या बनी देह-दलन कराने को मजबूर स्त्री कोई ज्वलंत समस्या है ही नहीं। पुरुष के बहुपत्नीवाद की शिकार बनी, बाल/अनमेल विवाह के कसाईघर में ठेली गई, यौन-शोषण को झेलती, अवांछित गर्भ ढोने को विवश नारी, भुखमरी की शिकार या परजीवी बनी नारी, विधवा बताई/बनाई गई नारी का भीषण एकांत, आम स्त्री की अशिक्षा आदि कोई समस्या ही नहीं है उनके रचनाकार के लिए। इससे भी बड़ी सच्चाई है कि सायास ढंग से वे स्त्री-प्रश्नों, स्त्री-समस्याओं को उठाते ही नहींइसी का प्रमाण है कि विचारक के रूप में (निबंधों में) उन्होंने कहीं इन सवालों को छुआ तक नहीं। जो कुछ छुआ या उनसे उठावह उनके रचनात्मक (उपन्यास) साहित्य में, संस्कृति-दर्शन-अध्यात्म या कवित्व की सूक्ष्म भूमि पर। कथा-साहित्य में स्त्री या समस्याग्रस्त स्त्री का आ जाना तो लेखक के लिए अनिवार्य विवशता हो सकती है, क्योंकि जीवन-कथा बिना औरत के संभव ही कहाँ है? पर, विचारक के रूप में उन्होंने आम स्त्री के दर्द, पराधीनता आदि को तनिक भी महसूस न किया, उलटे उन्हें ध्यान आया कि स्त्री को सच्चरित्र होना चाहिए, ताकि परिवार बचे, सुंदर बने। 'धार्मिक एवं सच्चरित्र नारी कुटुंब की शोभा है' शीर्षक अपने एकमात्र नारी-विषयक निबंध में द्विवेदी जी पितृसत्तात्मक अपेक्षाओं का बोझ स्त्री के



कंधों और सिर पर डालने को बेताब दिखते हैं। उनका स्पष्ट विचार है कि स्त्री यदि धर्म द्वारा प्रतिपादित आदर्शों या मर्यादा से बाहर चली जाए तो परिवार छिन्न-विच्छिन्न हो जाएगा।[6] धर्म, मर्यादा या चरित्र से उनका आशय, किसी आधुनिक लोकतांत्रिक विवेक के सापेक्ष नहीं, बल्कि मनु, कालिदास, तुलसी या 'महाभारत' के जरिये छनकर आ रही पुरानी मूल्य-संरचना के तहत है, जिसमें स्त्री को अच्छी गृहिणी, व्रतोपवास करनेवाली, पतिव्रता आदि बनने की एकमुखी सीख दी गई है। 'महाभारत' के 'अश्वमेधपर्व' के उद्धरण द्वारा उन्होंने घरेलू जनों व बाहरी अतिथियों की सेवा, बच्चों का पालन, पितरों व जीवितों का सम्मान, सदाचार आदि सब गृहलक्ष्मी के लिए अनिवार्य बतलाया। इससे विपरीत पक्ष रखनेवाली स्त्रियों को कालिदास का हवाला देकर उन्होंने 'कुलस्याधयः' यानी कुल की व्याधि करार दिया। द्विवेदी जी ने इस संभावना पर तनिक विचार न किया कि इससे अलग पक्ष रखने के पीछे स्त्री के व्यक्तित्व, कैरियर, शिक्षा आदि से जुड़े किसी प्रयास की भी भूमिका हो सकती है। क्या ये सब स्त्री के लिए गैर-जरूरी हैं? कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' (चतुर्थ अंक) के जिस श्लोक का टुकड़ा ('वामा : कुलस्याधयः') लेकर लेखक ने अपनी स्थापना को दमदार बनाने की कोशिश की है, वह ससुराल जाती शकुंतला को कण्व के उपदेश के रूप में है। उस पूरे संदर्भ को यहाँ उपस्थित करने से वे बच रहे हैं, क्योंकि कई असुविधाजनक सवालों से जूझना पड़ सकता है। कण्व कह रहे हैं'बड़े-बूढ़ों की सेवा करना, सौतों को सखीभाव से अपना लेना, पति के नाराज या उलटा आचरण करने पर भी तू उसके विपरीत मत होना, नौकर-चाकरों पर उदारता रखना। ऐसा करने से ही लड़कियाँ गृहिणीपद प्राप्त करती हैं, जबकि इसके विपरीत रहने वाली कुल के लिए रोग-स्वरूप हैं।'[7] लड़की के संभावनाशील व्यक्तित्व की हत्या करके, उसे लतखोर बने रहने की क्या ही गुलामीमय सीख सुभाषा की चाशनी में लपेटकर परोसी गई है। ऐसा मानोगी तो 'गृहिणी-पद' पाओगी, जैसे किसी जिले की कलक्टर, राज्य की गवर्नर या देश की राष्ट्रपति-प्रधानमंत्री का पद मिल रहा हो! आश्चर्य है कि पंडित द्विवेदी जी की अपूर्व मेधा को उक्त सीख में कोई असंगति नहीं नजर आती। पति हर नई लड़की पर लार टपकाते रहे, उसे सौत बनाकर पत्नी के सिर पर थोपते रहे, पत्नी को मारे या दुलारेसब मुर्दे की तरह चुपचाप स्त्री को सहना है! मामला मजबूरी का है, खुशी से सहना है, तभी गृहिणी का पद मिलेगा। कहना पड़ता है 'वाह कालिदास'! पर, उससे भी 'वाह' द्विवेदी जी को। घरेलू हिंसा के इस प्रकरण में पत्नी के सहते जाने को साधुवाद देने के लिए वाह! न सह पाने अथवा अपनी शिक्षा, व्यक्तित्व या आत्मनिर्भरता की राह चुन लेनेवाली लड़की 'कुल की व्याधि' है। स्त्री को ऐसा कोस कर, घरेलू हिंसा बढ़ाने और स्त्री-सशक्तीकरण को हतोत्साह करने का मार्ग वे प्रशस्त कर रहे हैं, क्या इस पर वे तनिक सोच पाए? कुछ नहीं तो यही क्या कम आपत्तिजनक है कि परिवार बचाने की एकमात्र जिम्मेदारी औरत के मत्थे वे मढ़ रहे

हैं? एक बार भी क्यों न कहा कि पुरुष के भी किसी दुराचार से परिवार या उससे बच्चे, महिलाएँ प्रभावित होती हैंपरिवार टूट सकता है? 'औरत ही त्याग करती जाए' और उससे भी बढ़कर 'औरत सिर्फ त्याग करती जाए, पाने की ख्वाहिश न करे'? क्योंकि गृहिणी या गृहलक्ष्मी का पद कम बड़ा थोड़े है! इतना ही नहीं, लेख को पूरा करते-करते द्विवेदी जी ने यह पुनीत इच्छा भी जाहिर कर दी कि ऐसी गृहलक्ष्मियों को संभव बनाने के लिए उचित शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।[8] यहाँ वे 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है?' के लेखक भारतेंदु की उस दकियानूसी-स्त्रीविरोधी सोच के साझीदार बनते नजर आते हैं, जिसके तहत उस लेख में भारतेंदु ने लड़कियों के लिए नयी शिक्षा (ज्ञान-विज्ञान, भूगोल आदि) का दरवाजा खोलने को खतरनाक सा बतला कर, ऐसी शिक्षा देने की वकालत की थी, जो उन्हें अच्छी गृहिणी, पतिव्रता आदि बनाए। 'पतिव्रता' माने क्या होता है? उसका ऐतिहासिक या सांस्कृतिक ही नहीं, व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में एक ही अर्थ होता है'स्वयं' पति की एकनिष्ठ (यौन) दासी रहना तथा पति की विवाहेतर यौन-प्रवृत्ति पर भी अपना मुँह सी कर रखना'। इस तरह, 'पतिव्रता' होना कोई अच्छी चीज नहीं और 'गृहिणीत्व' में स्त्री की जिंदगी या उसकी कामना की इतिश्री कर देना उसकी इंसानियत की हत्या कर देना है! ये हैं विचारक-रूप में खुद आचार्य द्विवेदी के स्पष्ट मत। इन्हें किसी साहित्यकार की शब्दशक्ति (लक्षणा-व्यंजना) या संदर्भगत व्याख्या के जरिये अर्थान्तरित भी करना असंभव है। इनकी जिम्मेदारी एकमात्र लेखक पर ही जाएगी।

## 'पुरुष तत्त्व' व 'नारी तत्त्व' यानी सभ्यता-जनित स्थितियों को 'शाश्वत स्त्रीत्व' में रिड्यूस कर देना

एक अन्य लेख 'महिलाओं की लिखीं कहानियाँ' में द्विवेदी जी आलोचक-रूप में थोड़ा उदार बनकर आए हैं। यहाँ वे स्त्री की महत्त्वाकांक्षा को सहने के लिए तैयार दिखते हैं, पर उसके लिए मानो शर्त लगाते हैं कि वह समाज की स्वीकृति या सामाजिक व्यवस्था के संगत होकर चले। अपने समय की उभर रहीं कुछ महिला कथाकारों (शिवरानी देवी, सुभद्रा देवी, कमला देवी, होमवती देवी आदि) की समीक्षा के क्रम में उन्हें शायद लगता है कि स्त्री में कुछ ऐसा प्राकृतिक गुण है कि अपनी महत्त्वाकांक्षा या वैयक्तिकता के मुँहजोर घोड़े को सामाजिकता की कठोर लगाम से संयत रखती है। इसकी छाया उन्हें उक्त लेखिकाओं की कहानियों में दिखती है।[9] इसी संदर्भ में वे अपना गढ़ा हुआ दर्शन भी चिपका देते हैं कि ''इसमें कोई संदेह नहीं कि स्त्री का हृदय अधिकांशतः निगेटिव या नकारात्मक है।...समाज स्त्री के लिए जिन भूषण-रूप आदर्शों का विधान करता है, उनमें एकांत निष्ठा, व्रीडा, आत्मगोपन और विनयशीलता आदि नकारात्मक गुणों की प्रधानता होती है।''[10] 'नकारात्मक' का अर्थ आत्म-निषेध या अपने-आपको उत्सर्ग कर देने की भावना से है, जिसका विस्तार से



उपस्थापन 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में है। 'षष्ठ' और 'ग्यारहवें उच्छ्वास' में महामाया और अघोर भैरव के वक्तव्यों का सार है कि परम शिव से दो तत्त्व एक ही साथ प्रकट हुए थेशिव और शक्ति। शिव विधि-रूप है शक्ति निषेध-रूप। पिंड (देह) में शिव का प्राधान्य ही पुरुष है और शक्ति का प्राधान्य नारी। यानी, पुरुष विधि-रूप है, नारी निषेध-रूप। नारी निषेध-रूपा है। वह आनंदभोग के लिए नहीं आती, आनंद लुटाने के लिए आती है। जहाँ कहीं दुःख-सुख की लाख-लाख धाराओं में अपने-आपको दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर दूसरे को तृप्त करने की भावना प्रधान है, वहीं नारी तत्त्व है। 'पुरुष तत्त्व' व 'नारी तत्त्व' का और स्पष्टीकरण करते कहा गया है कि पुरुष निःसंग है, निर्द्वंद्व है, मुक्त हैस्त्री आसक्त है, द्वंद्वोन्मुखी है, बद्ध है। इसी से पुरुष वस्तु-विच्छिन्न भावरूप में सत्य के आनंद का साक्षात्कार करता हैस्त्री वस्तु-परिगृहीत रूप में रस पाती है। स्त्री-तत्व का अन्य नाम 'प्रकृति' भी है। इस विवेचन के साथ महामाया की बातों से यह भी अंदाजा लगता है कि पुरुष-तत्त्व और स्त्री (प्रकृति)-तत्त्व दोनों हर पुरुष या स्त्री में होते हैं। दोनों में से किस की प्रधानता है, इस पर उसका जैविक रूप से पुरुष या स्त्री होना निर्भर करता है।[11] यानी, जिसे आमतौर पर स्त्री कहा जाता है, वह त्याग या आत्मदान करने का निषेध गुण अधिक रख सकती है, द्वंद्व या आसक्ति अधिक रख सकती हैअपेक्षाकृत अपने भीतर के विधि गुण (आत्म-विस्तार) के, अपने भीतर की निर्द्वंद्व, अनासक्त, मुक्त रहने की क्षमता के। परंतु, यह संभव है कि किसी स्त्री के अंतर्गत जो आत्म-विस्तार, निर्द्वंद्वता, अनासक्ति आदि गुण हैं, वे उसके अपने ही भीतर के आत्म दमन (त्याग/उत्सर्ग), द्वंद्व, आसक्ति आदि गुणों की अपेक्षा कमजोर रहकर भी किसी पुरुष के अंतर्गत विद्यमान आत्मविस्तार, निर्द्वंद्वता, अनासक्ति आदि गुणों से मात्रा या जोर में मजबूत हों।[12] समग्रतः तत्त्व-रूप में पुरुष व स्त्री की मीमांसा का सार यही निकल रहा है कि स्त्री आत्मदमनात्मक या आत्मगोपन के (लज्जादि) गुणों से जो युक्त दिख रही है, उसका आधार प्राकृतिक है। उसका द्वंद्व-ग्रस्त या आसक्त रहना नैसर्गिक है। 'चारुचंद्रलेख' में भी नाटी माता के जरिये कहा गया है''कुंठा तो नारी को विधाता ने दे ही दी है। नारी की सबसे बड़ी विशेषता यह कुंठा ही है। वही उसकी दुर्बलता है, वही उसकी शक्ति है। नारी अपने को सबसे छुपाती है, स्वयं अपने आप से भी। यहाँ तक कि परमात्मा से भी।'' इन बातों को देखकर लगता है कि द्विवेदी जी को, स्त्री की सभ्यता-जनित स्थितियाँ 'शाश्वत स्त्रीत्व' लगती हैं। आश्चर्य है कि भारतीय समाज की गतिशीलता को रेखांकित करने की क्षमता रखने वाले इस मनीषी ने जेंडर के संदर्भ में अपनी इस क्षमता का प्रयोग न किया (जिसे अपने कतिपय निबंधों में जाति-व्यवस्था के संदर्भ में बाखूबी प्रयुक्त किया है)। उन्होंने अपने समाज में बनी स्त्री व पुरुष की स्थितियों को अपरिवर्तनीय शाश्वत सत्य सा स्वीकार कर उन पर 'स्त्री तत्त्व' और 'पुरुष तत्त्व' का दर्शन खड़ा किया। यदि वे इन नामों की जगह गुणों

की उक्त कोटियों को मानवता की 'दृढ़/कठोर/विस्तारवादी' प्रवृत्ति एवं 'कोमल/उत्सर्गी' प्रवृत्ति के रूप में पहचानते तो क्या ही अच्छा होता! पर, उनसे वही गलती हो गई, जिसकी चर्चा बेनीपुरी ने किसी अन्य प्रसंग में ('सतीत्व का भारतीय आदर्श' लेख में) की है।[13] 'समाज-संरचना में कहीं कोई बहुत बड़ा दोष रह गया है, जिसके कारण निउनिया के जीवन में जहर घुला, वह संत्रस्त रही'[14]ऐसी सोच से अपने नायक बाण को क्षणिक तौर पर संयुक्त कराके भी द्विवेदी जी यह समझने की कोशिश नहीं करते कि वह दोष पुरुषवादी मूल्य-व्यवस्था है जिस पर समाज खड़ा किया गया है, जिसका परिणाम है कि स्त्री घरेलू है, परनिर्भर है, कुंठित है, लज्जाशील है, द्वंद्वग्रस्त है, त्यागशील है, अबला है और माँ बनने की कामना के अलावा कोई कामना नहीं रखती। आत्म-विस्तार या सुखान्वेषण की उसकी ही राह में रोड़े अँटका के रखे गए हैं, जिससे मजबूरी में वह त्यागशील बनी हुई, मातृत्व-मात्र में, घर की सीमा में पूर्ण हैसलज्ज और शालीन। द्विवेदी जी परिणाम देखते हैं, कारणों की, प्रक्रिया की मीमांसा नहीं करते। वे परिणाम को 'शाश्वत स्थिति' रूप में ग्रहण कर अपना दर्शन खड़ा कर डालते हैं कि स्त्री अमुक-अमुक तरह की होती है। स्थितिमूलक विश्लेषण से वे 'स्त्री-टाइप' निकाल लेते हैं और स्त्रीमात्र के आदर्श की तरह उसे सभी स्त्रियों पर थोप देना चाहते हैं। इस प्रकार, भोजनाभाव में भुखमरी के शिकार को व्रतोपवासी रूप में महिमामंडित कर उसके शोषण का बेहद क्रूर रास्ता अनजाने में दिखा देते हैं। उदाहरणस्वरूप, 'चारुचंद्रलेख' में स्त्री की पतिव्रता बनने की सामाजिक मजबूरी को क्या ही दार्शनिक अंदाज में स्वाभाविकता प्रदान कर जाते हैं। नाटी माता से विष्णुप्रिया कहती हैं कि स्त्री-शरीर महामाया का विग्रह है, अतः पूर्ण शरणागति उससे नहीं हो सकती। इसके लिए स्त्री को माध्यम खोजना पड़ता है और यह माध्यम और कुछ नहींपातिव्रत्य धर्म हैअहैतुक समर्पण। देवता-तुल्य पति को माध्यम बनाकर परम प्रेयान को अहैतुक (अकारण, निरुद्देश्य) समर्पण![14अ] सवाल है, बिना ब्याह किए नारी को आध्यात्मिक सिद्धि भी मिलना संभव नहीं? इस जगह पर आचार्य द्विवेदी का चिंतन विनोबा से भी पीछे हो जाता है। विनोबा की खासियत है कि आध्यात्मिक साधना के मार्ग में भी स्त्री को पुरुष से कमतर नहीं मानते। वे ईश्वर से सीधे संपर्क के लिए स्त्री को भी उतना ही सक्षम मानते हैं, जितना पुरुष को। वे स्त्री से ही एकमुखी समर्पण या पातिव्रत्य की अपेक्षा भी नहीं करते, बल्कि पुरुष से भी 'पत्नीव्रत' होने की अपेक्षा करते हैं।[15] पर, द्विवेदी जी दर्शन का कुहासा लाकर पुरुष को हर जिम्मेदारी से बरी करते हुए, स्त्री को ही उसके बोझ तले दबा देना चाहते हैं। उसे दास्य मार्गकरवा चौथ का रास्ता दिखाकर ही संतुष्ट होते हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में चंडीमंडप की छोटी-सी गृहस्थी में बाणभट्ट की श्रेष्ठता स्थापित करते निउनिया जो पहला आधार प्रस्तुत करती हैवह है बाण का पुरुष होना। [16] पुरुष-श्रेष्ठता के इस मिथक का विस्तार 'आत्मकथा' में ही सुचरिता की गृहस्थी के अतिसंक्षिप्त



उल्लेख द्वारा किया गया है''सायंकाल की पूजा तथा पति और गुरु की परिचर्या यथाविधि समाप्त कर लेने के बाद ही उसे समय मिलता था।''[17] सच है कि बिना विवाहित गार्हस्थ्य केबिना पातिव्रत्य केपुरुष श्रेष्ठता की स्थापना, उसके अनुप्रयोग की सही स्थिति नहीं बनती। पर, 'आत्मकथा' में गृहस्थी की गुंजाइश ही क्षीण है (एक सुचरिता को छोड़कर और कोई गृहस्था नारी नहीं), अतः लेखक मनचाहा नारी-आदर्श को स्थापित करने में पीछे रह गया। उसने अपनी दबी आकांक्षा को भव्य विस्तार दिया अगले उपन्यासों 'चारुचंद्रलेख' (1963 ई.) और 'पुनर्नवा' (1973 ई.) में। गढ़ गए इस स्त्री-हीनता के मूल्यपातिव्रत्यकी ज्योति से जब तक वे मृणालमंजरी, धूता, चंद्रलेखा, चंद्रा आदि को नहीं नहलाते, तब तक उन्हें चैन नहीं आता।

## स्त्री के योद्धा बनने पर अघोषित प्रतिबंध बनाम 'चरित्र' के प्रतीकीकरण की राह

पितृसत्तात्मक मूल्य-व्यवस्था के फ्रेम में अपनी संभावनाशील, गतिशील, नायिकाओं को जकड़ने की बेताबी उन्हें 'चरित्र' को 'प्रतीक' में बदलने की राह पर ठेल देती है। तमाम कोशिशों के बावजूद वे अपनी पहली नायिका भट्टिनी को 'प्रतीक' से अलग कुछ न बना सके। नारी-आदर्शों का रंग लेकर वह गमले का फूल भी न रही, बल्कि प्लास्टिक का गुलदस्ता बन गई। 'पुनर्नवा' की मृणाल मंजरी शुरु में समाज में लंपटों के बीच स्त्री के यौन-शोषण को लेकर विचलित एक आकर्षक नारी चरित्र दिखती है। वह स्वयं आततायियों से दो-दो हाथ करना चाहती है। पर, उसके पालक पिता देवरात अपनी पितृसत्तावादी दार्शनिक व्याख्या से उसकी हिम्मत को तोड़ डालते हैं'दुर्गा का महिषमर्दिनी रूप व्यावहारिक नहीं, केवल भावलोक की साधना है। लड़कियों को सिंहवाहिनी रूप की उपासना करनी चाहिए।' तात्पर्य स्पष्ट है। पुरुष-सिंहों (वीर पुरुषों) को वाहन बनाकर ही लड़कियाँ बच सकती हैं। लड़कियों को हलद्वीप के लड़के बचाएँगे। महिषमर्दन का कार्य पुरुषों पर छोड़कर स्त्रियाँ सिर्फ उनकी आरती उतारा करें। यही मंतव्य है। द्विवेदी जी ने अपने प्रथम उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में ही जो स्त्री के सैनिक बनने पर अघोषित पाबंदी लगा रखी है, उसी का विस्तार है यह। 'आत्मकथा' में अशांति पर महामाया के दार्शनिक प्रवचन के बीच भट्टिनी का तर्कसंगत व्यवधान आया'तो माता, क्या स्त्रियाँ सेना में भरती होने लगें या राजगद्दी पाने लगें, तो यह अशांति दूर हो जाएगी?'[18]भट्टिनी के इस सही सवाल पर द्विवेदी जी की तरफ से महामाया ने उसे गुमराह करना चाहा, यह कहकर ''सरला है तू, मैं दूसरी बात कह रही थी। मैं पिंड नारी को कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं मानती।'' जहाँ सीधा जवाब 'हाँ' में होना चाहिए था, वहाँ महामाया गोल-मटोल जवाब दे रही हैं, इसलिए क्योंकि 'आजाद हिंद फौज में स्त्री के सैनिक बनने' के युग में भी ये पंक्तियाँ लिख रहे आचार्य द्विवेदी के अंदर यह साहस शायद न था कि स्त्री को सैनिक या

शासक रूप में स्वीकारें। 'चारुचंद्रलेख' में जो एक भूल उनसे आगे चलकर हो गईमैना को सैनिक बनाने की, उसका सुधार करने में उन्होंने विलंब नहीं किया। मैना को छिप-छिपकर (अपना स्त्रीत्व छिपाकर) रहना पड़ाउसके साहस को बोधा प्रधान के मुख से लड़कपन, उतावलापन आदि कहलाकर उसका मनोबल तोड़ते रहे और अंततः भद्रकाली के अपहर्त्ता शाह की हत्या कर जब उसने एक साहसिक कार्य किया था, तो उसे नासमझी में की हुई उसकी भूल बतलाकर, मैना को पश्चात्ताप में आत्मघात करने पर विवश किया गया। द्विवेदी जी किसी जीवंत स्त्री चरित्र को सह ही नहीं पाते। निउनिया की मौत की व्याख्या भी इस रूप में की जानी चाहिए। अस्तु। महामाया स्त्री के सैनिक बनने के सवाल पर पिंड नारी को कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु न मानने की बात कहती हैं, परंतु कान्यकुब्ज की प्रजा के नाम उनका वीरोचित आह्वानजो पर्याप्त जनतांत्रिक व सामंतवाद-विरोधी थावह किसे था? पिंड नरों को ही। अमृत के पुत्रों को था संबोधन। वे उन्हें कह रही थीं न्याय, सत्य, धर्म की रक्षा करने के लिए। उसके लिए बलिदान माँग रही थीं वे। किसका? पुत्रों का। उनका कहना था कि धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है, मनुष्य मात्र का उत्तम लक्ष्य है। पर, उनका ध्यान अपने ही इस वक्तव्य में निहित इस विसंगति की ओर न गया कि 'मनुष्य' के अर्थ में वे स्त्री को नहीं समेट पा रही हैं, क्योंकि संबोधन 'अमृत पुत्रों' को है (प्रसाद के शब्दों में 'अमर्त्य वीर पुत्र हो'[19]), 'निराला' के 'अमृत-संतानों'[20] को नहीं। धर्म की रक्षा करना किसी जाति-विशेष का पेशा न मानकर भी महामाया उसे पुरुष जाति का पेशा बना दे रही हैं। आह्वान को और जोशीला बनाने के लिए वे भाषा की जो लाक्षणिकता तलाशती हैं, वह मर्दानगी का घिसा-पिटा टोन है''उत्तरापथ के लाख-लाख नौजवानों ने क्या कंकण-वलय धारण किया है?''यह स्त्री जाति पर दुहरा अन्याय है। एक तरफ कंकण-वलय या चूड़ियाँ पहना कर निस्पंद कर देना; ऊपर से उस स्थिति में भी स्त्री जाति को चैन से न रहने देनाउनकी बनाई गई स्थिति का गाली के रूप में इस्तेमाल करके यानी 'नालायकी' का प्रतीक चूड़ी पहनने को बना के। इसी से अपनी तमाम वैचारिकता (जिसमें राजतंत्र का स्त्रीघाती कुत्सित चरित्र उद्घाटित हुआ है, प्रजा की शक्ति को राजसत्ता से बड़ा बतलाया गया है) और तेजस्विता के बावजूद[21] अधिक से अधिक यही लगता है कि महामाया और कुछ नहीं, 'विवेकानंद + सुभाषचंद्र' की संगमित चेतना का नारी-विग्रह हैं, न कि 'लक्ष्मीबाई + तसलीमा' आदि का मेल। फिर सुभाष भी उनमें हैं, यह संदिग्ध हो उठता है, क्योंकि सुभाष की फौज में लड़कियाँ बाकायदा सैनिक थीं। 'अष्टादश' उच्छ्वास में महामाया की शिष्याएँ उनकी भावना का और भी विस्तार करती हैं। वे भी अमृत के पुत्रों, तरुणों का आह्वान करती हैं सैनिक बनने का, ताकि कुलवधुओं का सुहाग बचे, बालिकाओं की लाज बचे, बहनों की लाज बचे। बचाने का काम करना है मर्दों का और औरतों का काम है सिर्फ कुलवधू बनकर वीर मर्दों की



ओर आँसू भरे नैनों से ताकना, माता बनकर ताकना।[22] आम हिंदी सिनेमा की बात रखें तो नायिका को यौन-हिंसा का शिकार बनाने आए गुंडे/गुंडों से लड़कर घायल होने का काम है नायक का। नायिका का कार्य यही हैशालीन-संस्कारी भारतीय स्त्री बनकर, आँखों में आँसू भरकर साड़ी-ओढ़नी सँभालती, सिर्फ देखते रहना चुपचापमूकदर्शक बनी रहना नायक के पिटने के दृश्य का और गुंडों के भाग जाने के बाद बड़े दुलार से धीमे से पूछना'तुम अच्छे तो हो?' तब, पता नहीं चलता कि यह किस समाज का यथार्थ है जिसे रजतपटल पर इतनी खूबसूरती से फिल्मकार परोस रहा है? परोस-परोस कर गुंडों के आगे लड़कियों की हिम्मत को चूर-चूर कर दे रहा है। महामाया के जरिये, द्विवेदी जी स्त्री को आत्मरक्षा के लिए भी जगाने की जरूरत नहीं महसूस कर पा रहे हैं। स्त्री स्वयं अपना बचाव करे'कुलवधुता', 'सुहाग' या 'लाज' जैसे थोपे गए मर्द-मूल्यों के लिए नहीं लड़े, वरन् इन्हें झटककर फेंक दे और लड़े अपनी जान के लिए, अपने को यौन-हिंसा से बचाने के लिए, अपने व्यक्तिगत सम्मान के लिए। लड़े अपनी गरदन बचाने को, न कि किसी पुरुष की नाक बचाने को। पर, किसी उद्देश्य से भी लड़ने की जगह सिर्फ वीर पुरुषों की ओर टुकुर-टुकुर ताकने को उसे विवश करने के कारण ही लेखक की स्त्री-दृष्टि आधुनिकता से काफी पीछे है। देवरात मृणाल को कितने जबर्दस्त ढंग से 'पुनर्नवा' में गुमराह कर रहे हैं''बेटियों की शील रक्षा का भार पुरुषों पर है। तुझे मैं कौन सा काम दे सकता हूँ? तू तो जो संभव है, सब कर ही रही है। दीन-दुखियों की सेवा करना, उनके भीतर आत्मबल संचित करना, यही तो तेरा काम है। इससे अधिक जो करना होगा, वह हलद्वीप के नौजवान करेंगे।''इस प्रकार द्विवेदी जी महिलाओं को पुरुषों के रहमोकरम पर ही छोड़ना चाहते हैं, यह भूलकर कि इंसान को सुरक्षित नहीं किया जा सकताबल्कि उसे स्वरक्षित होना पड़ता है। पुरुषों की पुलिस-व्यवस्था पर अखंड विश्वासी लेखक मानो महिला थाना को गैर-जरूरी मानते हैं। काश! वे सोच पाते कि पुरुषमय पुलिस व सेना ने अब तक महिलाओं की कैसी रक्षा की हैउन्हें यौनग्रास बनाने में कब परहेज किया है! क्या यह आलोच्य काल का सच न रहा होगा? स्त्री के आत्मरक्षार्थ परजीवी बनने की जो लक्ष्मणरेखा द्विवेदी जी ने अपने पहले ही उपन्यास में खींच दी थी, उसी पर लगभग अंत तक कायम रहे। मौलिक अन्वेषक होकर भी इतिहास के कई दौरों को वे भूल गए, अपना समकालीन यथार्थ भी'आजाद हिंद फौज' वाला। लगता है कि उनके लिए इतिहास महत्त्वपूर्ण भी कहाँ है? महत्त्वपूर्ण तो है मिथक, जिसकी रचना अपनी रुचि के घालमेल से वे करते हैं। मैना को ताकत देकर उसे हततेज करते-करते, हतप्राण कर डालते हैं। जिंदा रखते हैं सिर्फ परजीवी, पुरुष-समर्पित नारियों को। यही कारण है कि शुरु में वीरांगणा सी बातें करने वाली 'पुनर्नवा' की मृणाल भी उत्तरोत्तर निष्क्रिय व दीन होती जाती हैअपने बचाव के लिए बालसखा आर्यक से विवाह उसे एक बेहतर उपाय लगता है। फिर, शास्त्रानुमोदित पातिव्रत्य के

मॉडल में उसका जीवंत-प्रेमाकुल व्यक्तित्व यंत्रीकृत होकर रह जाता है। इस हद तक वह पातिव्रत्य की शिकार हो जाती है कि आर्यक के विवाहेतर संबंध को भी खुशी से स्वीकार कर लेती हैचंदा को बतौर बड़ी बहन स्वीकार कर लेती है। इतनी सहजता से यह सब कुछ हो जाता है कि लगता है, कुछ हुआ ही नहीं। लेखक को इसमें कोई असहजता दिखती ही नहीं। वह कहता है कि उसमें ईर्ष्या भाव था ही नहीं। चारुदत्त की पत्नी धूता भी पति की प्रेमिका वसंतसेना को जब स्वीकार कर लेती हैयानी, पति के सामने घुटने टेक देती है, तो भी लेखक को सामान्य-सा स्त्रीत्व दिखता है, जो उसके मत से श्लाघ्य है। इसमें भी उसे कोई अंतर्विरोध नहीं दिखता। पातिव्रत्य की इस कहानी को लेखक और ज्यादा धार देते हैं चंद्रलेखा और सर्वाधिक चंद्रा के संदर्भ में। जो प्रेम-त्रिकोण द्विवेदी का प्रिय कथा-शिल्प होता है, वह पुरुष-प्रधान दृष्टि का उत्पाद है। पुरुष एकाधिक स्त्रियों से प्रेम करें, तभी बनता है उनका प्रेम-त्रिकोण। किसी पुरुष को यह सहज अधिकार है। सातवाहन का एक साथ चंद्रलेखा और मैना दोनों से प्यार करना लेखक को तनिक नहीं खटकता। वे उसके मन में घुसकर दार्शनिक समाधान भी पेश करा देते हैं कि चंद्रलेखा और मैना मेरी चेतना के दो छोर हैंइच्छा और क्रिया रूप। फलतः, सातवाहन के मन में कोई अपराध-बोध नहीं। किंतु, चंद्रलेखा नागनाथ के प्रति थोड़ी आकृष्ट क्या हुई कि उस पर अपराध-बोध का पहाड़ तोड़ डालना चाहते हैं लेखक। आत्माधिक्कार में वह सोचती है कि हाय! कितना बुरा किया। तापसबाला से बातें करते उसके मन में पतिभक्ति की लहर उठती है। तापसबाला चंद्रलेखा से जो अपना अनुभव बयान करती है, उसमें घरेलू हिंसा का सहारा लेकर पत्नी को वश में रखने के पति के अत्याचार को भी मानो उसका वैध अधिकार सा मान लिया गया है।[23] साधना-मार्ग (भले वह कितना भी भ्रांत हो) पर कदम-दर-कदम बढ़ती चंद्रलेखा के बोल्डनेस के आगे सातवाहन का व्यक्तित्व बहुत गौण हो चला था। उसका समाधान, 'अभिमान' फिल्म की नायिका (जया भादुड़ी) की नस तोड़कर (संगीत कार्यक्रम से विमुख कर) नायक (अमिताभ) की अहंरक्षा की तरह ही, चंद्रलेखा के द्वारा प्रायश्चित्त कराके पुनः उसे पातिव्रत्य के खोल में घुसाकर लेखक ने किया। तब राजा सातवाहन को ही नहीं लेखक को भी लगा कि 'रानी का सहज सौंदर्य लौट आया है'।[23क] स्त्री जब तक पुरुष की चाहों में ढली रहे, तभी तक सुंदर है। जब उसका व्यक्तित्व अलग से परिभाषित होने लगे, तो उसकी सुंदरता जाती रहती है। 'पुनर्नवा' की चंद्रा आर्यक को देवता मानने को तैयार नहीं (क्योंकि प्रेम में कोई देवता नहीं होता, दो बराबर के हृदयों की रागात्मक प्रक्रिया है प्रेम), जिसे सिद्ध बाबा के रूप में पितृसत्ता का प्रतिनिधि लेखकीय मन 'अहंकार' मान रहा है। चंद्रा आचार्य द्विवेदी की दूसरी हिम्मतवर नायिका है (निउनिया के बाद)वह सबसे अधिक बुलंद, मुखर और साहसी है। उसने कन्यादान के द्वारा जबरन डाले गए विवाह-बंधन (के नपुंसक पति) को अमान्य कर दिया और खुलेआम गोपाल आर्यक का विवाहेतर



प्रेम अधिकार के रूप में पाने पर आमादा है। इस रूप में आचार्य द्विवेदी विवाह-मीमांसा का नया प्रकरण शुरु करते नजर आ रहे हैं! इस प्रकार के विवाह को सुमेर काका के जरिये वे 'सामाजिक बलात्कार' का दर्जा देकर निश्चय ही प्रगतिशील दृष्टि का परिचय देते हैं। परंतु, उन्हें शायद अपनी यह क्रांतिकारी भूमिका आगे रास नहीं आती। वे तमाम विद्रोहों के बाद चंद्रा को पहले से ही विवाहित आर्यक की झोली में डाल देते हैं, वह भी उसके विद्रोह-तेज का सफाया कर, पतिव्रता बनाकर। सिद्ध बाबा चंद्रा की नाड़ियाँ दबाकर उसका मनोपचार कर उसके उद्धत व्यक्तित्व को पातिव्रत्य के बर्फीले ठहराव में डुबाकर ही दम लेते हैं। चंद्रा का भी आखिर 'द एंड' हो जाता है। ताड़ पर से गिराकर वह खजूर पर अँटका दी जाती है। द्विवेदी जी के इन (पुरुष-केंद्रित) प्रेम-त्रिकोणों की मूल मनोवृत्ति है'बाँह में है और कोई, चाह में है और कोई' की रसीली उदारता से पुरुष का उपकार। इस आस्वादन के बाद जब वह उसे बोझ लगने लगे, तो उसका बना-बनाया समाधान-मॉडल हैएक स्त्री की जीवन-समाप्ति या उसके व्यक्तित्व की समाप्ति। तभी लेखक को प्रेम की बँटी दो धाराओं में एकता महसूस होती है।

स्त्री-चरित्रों की जिंदादिली, संघर्षशक्ति, मनचाही राह पर चलनाये सब द्विवेदी जी को ज्यादा देर तक नहीं सुहाते। इसी से धीरे-धीरे वे उन्हें ऐसी भूमिकाओं में ढाल कर निष्पंद कर देना चाहते हैं, जो शास्त्रीय मानकों पर एक फ्रेम के रूप में तैयार की गई हैं। जीवन के वास्तविक क्षेत्रविशाल बाह्य संसारउसके बहुविध क्रिया-कलापों से काटकर स्त्री को एक मर्द-विशेष या घर-विशेष में कैद करउसी की भूमिकाएँ ढोने भर में उसे सिमटा देना क्या है? प्रो. अमर्त्य सेन की भाषा में कहें तो यह हैसांकेतिकता का समावेश, जिसे हम 'प्रतीकीकरण' कह सकते हैं। उन्होंने इस पदबंध का प्रयोग आर्थिक समृद्धि के स्त्री-पुरुष-अनुपात/संबंध पर पड़नेवाले प्रभाव के विश्लेषण में किया है। उन्होंने पाया कि जिन परिवारों में जीवन-निर्वाह ही सबसे बड़ी चुनौती हो, वहाँ स्त्री-पुरुष-सहयोग जीवन की एक अनिवार्यता बन जाता है। इसके विपरीत, संपन्न परिवारों में महिलाओं की भूमिका में परस्परता व सांकेतिकता का समावेश होने लगता है।[24] द्विवेदी जी की नायिकाएँ निजताहीन स्त्रियाँ होती हैं; चाहे भट्टिनी हो या चंद्रलेखा या मृणाल। यदि शुरु से वे ऐसी न हों तो आगे चलकर लेखक उनका ऐसा रूपांतरण कर डालता है कि वे इंसान नहीं, प्रतीक यानी गढ़े गए आदर्शों की प्रतिमूर्ति भर रह जाती हैं। फिर वे आदर्श भी विसंगत मूल्य-दृष्टि की देन होते हैंस्त्री को दोयम दर्जे पर रखकर गढ़े गए आदर्श, जैसा कि हमने देखा। यही कारण है कि वे निउनिया जैसी जीवंत, गतिशील व विद्रोही-ऊर्जावती स्त्री को अपने उपन्यास में नायिका का पद नहीं देते; फिर धीरे-धीरे उसके विद्रोह को उसकी अधीरता और उसके सत्य-दर्शन को प्रलाप सा ठहराते-ठहराते उसे कमजोर करते जाते हैं। उपन्यास के अंत में उसे बलि ही चढ़ा डालते हैं।

## 'आत्मकथा' की नायिका का सवाल और वर्ग-चरित्र

यह विवाद खड़ा किया जा सकता है कि 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की नायिका सही में कौन हैनिउनिया या भट्टिनी? पर, भट्टिनी को ही आचार्य द्विवेदी ने नायिका के रूप में पेश किया हैयह उपन्यास के कई संकेतों से ही नहीं, उसके कदम-कदम के संचार से भी स्पष्ट है। पहली बात तो है कि 'भट्ट' (बाण) के तर्ज पर चंद्रदीधिती का नाम 'भट्टिनी' रखा गया है, जो उपन्यास में उसका एकमात्र प्रचलित नाम है। 'नवम् उच्छ्वास' में मौखरि सैनिक जो 'बाणभट्ट-भट्टिनी' को 'ब्राह्मण दंपति' कह देता है, वह घटनाक्रम में उसकी भूल हो सकती है, पर लेखक की सोची-समझी नियोजना है। सही में 'आत्मकथा' को भट्टिनी के इर्द-गिर्द ही बुना गया है। बाण के शैशव से लेकर निउनिया से जुड़ने-विलगने-पुनः जुड़ने तक की कहानी अतिसंक्षिप्त है तथा मूल कथा की वह पीठिका मात्र हैबाण को नारी-प्रतिष्ठापक व्यक्तित्व वाला दिखलाना इसका उद्देश्य हो सकता है। जब से निउनिया के प्रयास से वह भट्टिनी से जुड़ता है, तभी से उसके जीवन का केंद्र भी भट्टिनी बन जाती है (कथा का केंद्र तो वह है ही)। भट्ट-भट्टिनी की पारस्परिक उत्सुकता को व्यंजित करते लेखक की कला अघाती नहीं। उनकी पारस्परिक चिंता खूब आकार लेती रही है। निउनिया के प्रति किसी सीमा तक मोह रहने के बावजूद अब बाण के लिए भट्टिनी ही मुख्य हो गई है। इसीलिए वह अघोर भैरव के साथ वार्तालाप में यह कहने से बाज नहीं आता कि प्राण देकर भी भट्टिनी को बचाऊँगा। 'नवम उच्छ्वास' में उसने निउनिया की चिंता छोड़ भट्टिनी को ही बचाया। इसके पीछे निउनिया की चिल्लाहट 'मुझे छोड़ो, भट्टिनी को सँभालो' का उतना योग न था, जितना भट्टिनी के प्रति उसकी सहज चिंता का। यदि ऐसा न होता तो 'दशम उच्छ्वास' में बाण यह न कहता कि 'भोजन के बाद मुझे फिर दूसरी ओर प्रस्थान करना पड़ा। निपुणिका को खोजना गौण था, भट्टिनी को अवसर देना प्रधान'। बाण के लिए वह इस कदर स्पृहणीय हो चली है कि 'दशम उच्छ्वास' में बलिवेदी पर चढ़ाए जाने के बाद अघोरघंट जब उसे आदेश देता है कि 'जो तेरा सबसे प्रिय है, उसका ध्यान कर', तब क्षणभर में भट्टिनी की कोमलकांत मुखच्छवि उसके सामने आ गई। वह यह सोचकर चीख पड़ा कि मैं उसे निर्जन शरकांतार में छोड़कर बलि होने जा रहा हूँ। भट्टिनी के नैनों में वह अश्रु नहीं देख सकता था।[24क] 'सप्तदश उच्छ्वास' में भट्टिनी के कहने पर ही बाण, अस्वस्थ निउनिया को लेकर सौरभह्रद गया था; अन्यथा उसे तो अवधूतपाद की औषधि पर भरोसा था। 'चतुर्दश उच्छ्वास' में धावक ने उससे परिहास किया कि 'चाँद देखते हो क्या, आर्य? किसी की याद आ गई है क्या?' तो सचमुच उस समय बाण भट्टिनी की याद में खोया हुआ था। यह संयोग नहीं था, लेखकीय योजना से ऐसा हुआ था। 'अठारहवें उच्छ्वास' में भट्टिनी का मुखड़ा देखते बाण की हठात् कल्पना जग जाती है'वह दिन कितना शुभ होगा जब इस



सीमंत रेखा पर सिंदूर की अरुणिमा दिखेगी'तो यह भी लेखकीय योजना का हिस्सा है। और सबसे बड़ी बात यह है कि यदि भट्टिनी उपन्यास की नायिका न होती, तो लेखक 'प्रेम-त्रिकोण' में निपुणिका का बलिदान कर उसका मार्ग निष्कंटक न बनाता। दो दिशा में जा रहीं प्रेम की धाराओं को एक करने का जिम्मा निउनिया ही उठाएयह क्या द्विवेदी जी का आभिजात्य-मोह है? साँवली, ओछे वंश की, गरीब लड़की (निउनिया) पर गौरवर्णा, राजपुत्री (भट्टिनी) को उन्होंने बराबर तरजीह देकर, उसे बाण की देवता, सिद्धि, राजराजेश्वरी बनाकर आखिर क्या संकेत दिया है? सहकर्मिणी और पर्याप्त कर्मठ कन्या को छोड़कर छुईमुई बाला (भट्टिनी) को सिर पर बिठा लेने का कोई कारण तो समझ में आना चाहिए। क्या उसने अपनी जान इसलिए दी कि बाण जैसे राष्ट्रीय महत्त्व के पुरुष और भट्टिनी जैसी राष्ट्रीय महत्त्व की स्त्री का मेल होने में वह रोड़ा न बने? ताकि भट्टिनी के जरिये जो औपन्यासिक उद्देश्य'नरलोक से किन्नर लोक तक व्याप रहे एक ही रागात्मक हृदय का संधान' या म्लेच्छों की सामाजिक समता और उच्च भारतीय साधना के मेल से एक मानवतावादी विश्वसंस्कृति की स्थापनाप्रतिष्ठित कराना जो लेखकीय अभीष्ट है, उसमें बाधा न आए? सवाल है कि यह रास्ता क्या व्यावहारिक है? महामाया या निउनिया का जो विद्रोही रास्ता हैजिसमें भेदभाव और स्त्रीघात पर खड़ी राज-व्यवस्था/समाज-संरचना के विध्वंस का एक तरह से आह्वान हैउस क्रांतिकारी रास्ते से द्विवेदी जी को डर क्यों है? क्यों है डर, जिससे उपन्यास में बहुत पहले ही महामाया को ओझल कर देते हैं और निउनिया को निरंतर कमजोर करते-करते उसका सफाया ही कर डालते हैं। निउनिया और महामाया ही ऐसी पात्र हैं, जो हर्षयुगीन जड़ता को हिलाने का माद्दा रखती हैं। युग की जड़ता तोड़ने का काम स्त्री के हाथों करवाना द्विवेदी जी की महान उपलब्धि है, क्योंकि यह न सिर्फ नारी-मुक्ति की दिशा हैबल्कि नारी-मुक्ति को मानव मुक्ति से जोड़ने का उपक्रम भी है। पर अफसोस! उन्हें अपनी उपलब्धि का गर्व नहीं है, अन्यथा वे प्रतीक रूप नारीत्व की स्थापना के लिए इन प्राणवंत चरित्रों का विसर्जन नहीं करते। बाण कथानायक है, पर वह 'भावलोक का चिंतक' भर है'नारी को पूजा-वस्तु भर मानने वाला' न कि आम स्त्री को गृहदासी या वारवधू बनने से बचाने के लिए जीवन-योद्धा बन जाने वाला। वह भट्टिनी को भी न बचाता, यदि निउनिया की दबावमय प्रेरणा व सहयोग न होता। उसे सभ्यता के संकट के मैदान में उतारा, तो एक नारी (निउनिया) ने ही और उच्चतर सांस्कृतिक भूमि (उक्त विश्वसंस्कृति की स्थापना) पर आरोहण के लिए उत्सुक बनाया तो एक नारी (भट्टिनी) ने ही। नारीत्व के इन दो छोरों के बीच उसका व्यक्तित्व आकार पाता है, पर धीरे-धीरे दूसरे छोर की ओर वह लुढ़क पड़ता है। सवाल है, क्या समाज की भेदभावकारी स्त्री-विरोधी संरचना का बिना विध्वंस किए संतुलित संस्कृति-रचना का कार्य हो सकता है? क्या आंबेडकर व फुले के रास्ते में लेखक को आस्था न थी, जो गाँधीवादी यथास्थितिवाद के शिकार

हुए? सारी संरचनाएँ बनी रहें, बस समता का मंत्र, समवेदना का काव्य गुँजाया जाए! क्या इससे हो जाएगा समस्याओं का हल? निउनिया व महामाया का रास्ता भट्टिनी की निगाह में अधूरा सच है, पर अनुभूति के धरातल से निकला व्यावहारिक सच हैभट्टिनी की तरह खयाली पुलाव नहीं। जैसा कि डॉ. रोहिणी अग्रवाल ने कहा है'अभाव ने उसे रचा है, सामाजिक रूढ़ियों ने उसे दिशा दी है और संघर्ष ने उसे सँवारा है। समूचे दिक्काल का अतिक्रमण कर निपुणिका विशुद्ध स्त्री है और व्यथामूलक नियति के आधार पर समूची स्त्री जाति को एकीकृत कर देने वाला घटक। उसकी व्यथा धर्मशास्त्रीय मान्यताओं से जन्मी और सामाजिक रूढ़ियों से पोषित है जिन्हें पुरुष और सत्ता का अहं अंतिम सत्य मानकर उसकी मानवीय इयत्ता को सूक्तियों और आप्तवचनों में रिड्यूस कर डालना चाहता है।'[25] निउनिया अपने सर्वहारापन के कारण महामाया से भी विशिष्ट है। महामाया तो संन्यासिनी बनकर सामंती विवाह-व्यवस्था के दमन-चक्र से ही नहीं, राजदंड-विधान से भी बाहर हो चुकी हैं। पर, निउनिया को पितृसत्तात्मक धर्म-समाज ने 'वैधव्य' के हथियार से विस्थापित कर, आजाद होने को मजबूर किया है। फिर भी वह समाज की लंपटता और राजदंड से मुक्त नहीं है। अपना पेट खुद चलाती वह पूर्णतया आत्मनिर्भर नारी है, पर इस हिंसक-घिनौनी हवस से ग्रस्त सामंती समाज में उसे पान बेचने के लिए उससे भी ज्यादा अपनी मुस्कान बेचनी पड़ती है। (यह नारी-देह को कमोडिटी में बदलने वाले, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के युग से काफी पहले की बात है!) निपुणिका ही नहीं, पूरा स्त्री-समाज इस पितृवादी संरचना के रहते अभिनय ही करता रहा है, रहेगा[26] और उस पर यह मर्दवादी आक्षेप भी झेलता रहेगा कि स्त्री रहस्यमयी होती है'त्रिया चरित्रं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः'। पर, हमारे लेखक स्त्री के अभिनय, गोपन या लज्जाभाव के पीछे के कारण जानने का कोई प्रयत्न न करेंगेबल्कि अक्सर उसकी लज्जा को (आत्मदमन को) ही उसके सौंदर्य का प्रतिमान बनाते रहेंगे। हजारी प्रसाद द्विवेदी की निगाह में भी स्त्री की लज्जा का बंधन 'आजन्मलालित है'।[27] क्यों है वैसा? यह सवाल खड़ा करने का उन्हें अवकाश नहीं। निपुणिका के माध्यम से उन्हें पता होना चाहिए था कि नारी क्यों स्वयं को छिपाती है, क्यों अभिनय करती है? समाज-व्यवस्था ने उसके सत्य को प्रकट होने दिया है कभी? उसे काम/प्रेम के अधिकार, संबंध-चयन या विवाह के संदर्भ में उसके मानवाधिकार, यहाँ तक कि वस्त्र-चयन के अधिकार को भी सही-सलामत रहने दिया गया? उसे मानवीय यथार्थ के साथ जीने कब दिया गया? 'वह क्या है, कैसे हो वह' आदि 'यथार्थ' व 'आदर्श' की सारी परिभाषाएँ पितृसत्ता ने गढ़ीं। उसके नैसर्गिक जीवन का हक छीनकर उसे पुरुष-लंपटता की भेंट चढ़ाया गयाअपहृत/क्रीत कर अंतःपुरों में कैद किया गया [28], वेश्यालयों की शोभा बनाया गया और किसी तरह लंपटों की वासना-वेदी पर चढ़ने से अपने को बचा सकी, तो उस नारी को खूब बदनाम किया गया। जैसेसुचरिता नगर



के लंपटों के अनुचित भोगाग्रह का साधन न बनी, तो उसे कुप्रचार झेलना पड़ा,[29] यहाँ तक कि कान्यकुब्ज के एक भद्रवृद्ध को उसके बारे में बाण को बतलाने में असुविधा हुई। सुचरिता की जो बदनामी फैलाई गई थी, उसका आधार वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था थी, जिसके तहत किसी स्त्री के अपने विवाहित पुरुष (यानी समाज-आरोपित पुरुष) से प्रेम/रति ही जायज है, उससे इतर प्रेम/रति नाजायज; भले विवाहित पुरुष उसे ठुकरा कर जंगल भाग चुका हो। विरतिवज्र के प्रति वह प्रेमाकुल हुई थी, जो उसके बचपन का ब्याहा पति था। पर, समाज को यह ज्ञात न था। अतः वह बदनाम की गई, तथापि सुचरिता दृढ़ रही। बाण से जैसा उसने बतलाया कि आधी कहानी ही मेरा अपना सत्य है। अगर शेष आधी न भी घटती, यानी विरतिवज्र मेरे बचपन के पति रूप में न पहचाने जाते, तो भी मुझे कोई फर्क न पड़ता। निउनिया को ऐसे ही जघन्य समाज में खुद को बचाने हेतु अभिनयपूर्वक जीना पड़ा है, जो कमोबेश हर स्त्री का सच है। उसे वेश्या बनाने को आतुर है प्रतिपल सारी व्यवस्था, उस पर तुर्रा यह कि वह देवी हैउसका शरीर देवमंदिर सा पवित्र है। [30] कितना बड़ा छल है यह। छल नहीं, तो ऐसा सोचकर हमारे बाण जैसे बुद्धिजीवी आत्मवंचना के शिकार तो जरूर हैं। नारी को सामान्य मनुष्यता से वंचित करके उसे प्रस्तर-प्रतिमा बना देने की साजिश का हिस्सा है उसे 'देवी' घोषित करना।[31] वह उसे वेश्या या भोग्या मानने का ही दूसरा पहलू है। यह बात हमारे लेखक को क्या पता नहीं है? जलप्रलय में डूबी या डुबाई गई धरती के समुद्धारक रूप में चित्रित 'महावराह' को द्विवेदी जी एक प्रतीक की तरह लाते हैं। व्यापक स्तर पर यह बहुविध पतनशीलता से देश-जाति का उद्धार करने के लिए उपन्यास में सुगबुगा रही चेतना का प्रतीक लगता है और उसके मूल में सामंती दलन-चक्र में पिसती व निरंतर अपने इंसानियत की सारी संभावनाएँ गँवा रही नारी के उद्धार के लिए आकार पा रही चेतना का भी प्रतीक लगता है। यदि ऐसी बात है तो नारी धरती से तुलनीय हुई। धरती जड़ होती है और सब कुछ सहकर भी अप्रतिक्रियाशील होती है। तो क्या लेखकीय दृष्टि में नारी की जड़ता व सहनशीलता स्वीकृत या इष्ट है? खैर! उद्धारार्थ उक्त दोनों चेतनाओं की बात हम अग्रसर करें। स्पष्ट है कि इस चेतना का अपने अनजाने में निमित्त मात्र बना है बाण। वह संचालक नहीं है। संचालन-सूत्र (इन दोनों चेतनाओं के संदर्भ में) निउनिया[32] व महामाया के हाथ में है। भट्टिनी के बारे में बाणभट्ट चाहे कितना भ्रमित रहे कि वह अकेली आर्यावर्त्त को महाविनाश से बचा सकती है, पर सच्चाई यह है कि छोटे राजकुल से बच निकलने में उसे खुद निउनिया (और उसकी कठपुतली बाण) की पीठ का सहारा लेना पड़ा। उसे बचाने का अर्थ नारी-उद्धार नहीं, क्योंकि सिर्फ एक भट्टिनी का बचाव वैसी असंख्य भट्टिनियों का बचाव नहीं हैयह बाण को भी पता है। [33] क्या उसका यह बचाव या उसे इतना सम्मान दिया जानाइसके पीछे उसका बड़े बाप की बेटी होना कारण नहीं है? वह कर्म से नहीं, जन्म से बली है। बाणभट्ट भट्टिनी को बचाने की

खातिर नहीं, बल्कि देवपुत्र तुवरमिलिंद की कन्या को बचाने के कारण आर्यावर्त में राष्ट्रीय महत्त्व का व्यक्ति बना है। पर, निउनिया? उस पर प्राणदंड का राजकीय फतवा! यह उसके स्त्री होने के कारण है? निम्न वर्ण के कारण? या उसके निम्न वर्ग (दासी) होने के कारण? छोटे राजकुल की संपत्ति भी अंततः जब्त कर ली जाती है और यह भी तय होता है कि भट्टिनी की इच्छा पर ही उसे दंड दिया जाएगा। यह क्या इसलिए नहीं, कि वह बड़े बाप की बेटी का अपराधी है? स्त्री के प्रति अपराध का तो दंड यह नहीं हुआ। राजा, सामंत सब प्रभुता, धनबल, राजमद आदि में स्त्रीमात्र को व्यक्ति से वस्तु बनाने के अपराधी हैं, तो वे खुद दंड स्वीकार क्यों नहीं करते? स्थाण्वीश्वर लौट रहा भट्टिनी का सैन्यदल जिस धूमधाम से चला, उसे देखकर लगा कि किसी अन्यायी का अंत करके निकला विजयाभियान हो। निश्चय ही यह सामंती पूजाभाव है, अन्यथा बाण-सहित सबको ज्ञात है कि उस जैसी कितनी लड़कियाँ अभी भी राजमहलों में घुट रही हैं, बस बड़े बाप का सहारा नहीं है इसलिए।[34] पर, बाण उनके लिए क्या कर रहा है? और द्विवेदी जी क्या सोच रहे हैं? इस तरह स्त्री की समस्या का जुड़ाव 'वर्ग' से भी हो जाता है। वर्ण से भी इसका जुड़ाव है। अमीर या प्रभुत्वशाली अथवा सवर्ण घराने की स्त्रियाँ अक्सर गरीब या निम्न वर्णों की स्त्रियों की तुलना में विभेदक व उत्पीड़क कई घटनाओं से बची रहती हैं। इसी से प्रो. अमर्त्य सेन ने लिंग (जेंडर) को अपने आप में विषमताकारी तत्त्व मानते हुए भी उसे 'वर्ग' व 'जाति' से जुड़कर काम करने वाला बतलाया। यदि स्त्री को देह बनाकर अकथनीय स्तरों पर असंख्य तरीकों से उसे निर्दलित करने की संस्कृति द्विवेदी जी के लिए घृणास्पद होती तो अपने उपन्यासों में वेश्याओं का वे ग्लैमराइजेशन न करतेमदनश्री, चारुस्मिता, विद्युदपांगा आदि 'आत्मकथा' गत नगरवधुओं के साथ मंजुला, वसंतसेना, कारुणटी आदि के कंकण-क्वणन, नूपुर-रणन में मुग्धभाव से डूबकर वे यह न भूल जाते कि वेश्या बनती नहीं, बनाई जाती है। वे अपने वैचारिक प्रतिपादन द्वारा हमें कुछ ऐसा न समझाते कि 'पहले कला मुख्य थी, रूप गौण थाबाद में कला गौण हो गई, रूप मुख्य हो गया (देह-व्यापार शुरु हो गया)'![34क] वेश्याओं को लेकर (कम से कम 'आत्मकथा' में) उनके मन में कोई द्वंद्व नहीं लगता। यदि वे वेश्या को समस्या, व्यंजना के स्तर पर मानते भी हों, तो उससे क्या होता है? उनके वेश्यावर्णन की सजावट व झनकार में पूरी संभावना है कि पाठक उनकी मार्मिक संवेदना भूल जाए'पाकीजा', 'उमराव जान' जैसी फिल्मों (के 'इन्हीं लोगों ने ले लीना दुपट्टा मेरा') का दर्द भूलकर इनके संगीत में डूब जाए। वेश्या-समस्या पर इस प्रकार के नजरिये से भरी लेखक की चुप्पी हर्ष-युग तक ही नहीं रुकती, बल्कि गरीब-अवर्ण बेसहारा परिवारों की कमसिन बच्चियों को अपहृत कर या झाँसा देकर गुमराह करके, पुरुषों की हवस की भट्ठी में झोंक दे रही दिल्ली-मुंबई-कलकत्ता आदि की आलीशान संस्कृति पर भयानक ढंग से चुप्पी साधे वर्तमान साहित्याराधकों तक आ विराजती है।



द्विवेदी जी पितृसत्तात्मक साधना के तंत्र-जाल की कुत्सित-रुग्ण मनोवृत्तियों को भी वरदहस्त प्रदान करते लगते हैं, जिसने स्त्री का देह-दलन किया है। मसलन, 'चारुचंद्रलेख' में 'कन्या-पूजन' के पक्ष में अद्‌भुत तर्क-शक्ति के साथ उठ खड़े से लगते हैं, जबकि बाद में चंद्रलेखा के भीतर जगा यह वितर्क या प्रतिक्रिया ही उनकी स्थायी समझ होनी चाहिए थी कि तंत्र-साधना में स्त्री-देह को इतना महत्त्व दिया जाना विकृति है।[35] वे यदि नारी के देह-दलन को देखते तो कुमारी-साधना के लिए अपनी कन्याओं को समर्पित करने वालों की गद्‌गद भाव से प्रशंसा न करते[36], देवदासी बनाने की संस्कृति को साधुवाद न देते। (देखिएसंदर्भ 5) स्त्री-देह को साधना का उपकरण बनाने के लिए वे खूब दिमाग लगाते हैंप्राकृतिक तत्त्वों का सुंदरतम संघात मानव-शरीरवहाँ भी (किसी प्रकार के क्षय का अभाव होने से) किशोर देहवहाँ भी नीच जातियों की देह (क्योंकि उनके मन-बुद्धि का विकास रोककर रखा गया, जिससे भीतर ही भीतर वे जड़ पिंड को उत्तेजना देते रहते हैं)वहाँ भी नारी की देह सर्वोत्तम है। [37] यानी, साधना के लिए नीच जाति की किशोरियों की देह सर्वोत्तम है। क्या इसी से नहीं जुड़ जाता 'आत्मकथा' के 'द्वितीय उच्छ्‌वास' में बाण का यह अनुभव कि ''साधारणतः जिन स्त्रियों को चंचल और कुलभ्रष्टा माना जाता है, उनमें एक दैवी शक्ति भी होती है।'' स्पष्ट है कि तांत्रिकों के व्यामोह में पड़े द्विवेदी जी उनकी घृणित भोगलिप्सा को जस्टिफाई करने लगते हैं। 'आत्मकथा' में भी स्त्री को साधन बनाने की उक्त जघन्यता को प्रतीक रूप में महसूसा जा सकता है, जब अघोरभैरव साधना-क्रम में, महामाया के अधरोष्ठों से मदिरा-पात्र का स्पर्श कराते हैं और तब धीरे-धीरे पीते हैं।[38]

निउनिया नारी-देह पाने की बाध्यता लिए (वह भी सर्वहारा वर्ग की) बहत्तर घाटों का पानी पीने को बाध्य रही। कम उम्र में (अनमेल) ब्याह, फिर वैधव्य का पैदा किया गया त्रास, अकथित घरेलू प्रताड़नाएँ, घर से भागना, राह भटकनायौन-हिंसकों से स्वयं को बचाते, आखिर बाण की नाट्यमंडली में कामकाजी महिला बनना, बाण द्वारा उसका दिल तोड़ डालना, पुनः भटकावसामंतवादी धर्म-समाज में अस्तित्व का संघर्ष! इतना सब झेलकर उसने देश-दुनिया का सच देखा है और देखा है छोटे राजकुलों व शर्विलकों के इस समाज में स्त्री-जीवन की खरीद-बिक्री-जनित विवशताओं को। यौन-हिंसा की दुधारी तलवारों के आतंक उसने देखे हैं। वह अपने अनुभव से यह भलीभाँति जान चुकी है कि स्त्री होना ही सारे अनर्थों की जड़ है।[39] यानी, पितृसत्तात्मक धर्म-समाज व राज्य-संरचना ही स्त्री की सारी पीड़ाओं की जड़ हैपर, उसकी सोच को ऐसा विस्तार लेने नहीं दिया जाता। यह निउनिया ही है जिसने न सिर्फ भट्टिनी को कैद से छुड़ाया है, बल्कि उपन्यास-नायक (बाण) को बलि चढ़ने से बचाने के लिए खुद सम्मोहन का प्रतिप्रसव भी झेला है। उस पर महामाया भैरवी को कहना पड़ा है'निपुणिका महामाया है। उसे सामान्य नारी न समझ।' [39अ] किंतु बाणभट्ट शायद यह मानने को तैयार नहीं हैं। वह इस भ्रम में है कि भट्टिनी का

करुणा-अनुरागमय मुखड़ा ही त्रिपुरसुंदरी का दक्षिणमुख है।[39क] उसमें आर्यावर्त को बचाने की ताकत है। वह भट्टिनी को अपनी देवता, सिद्धि व राजराजेश्वरी मानने के साथ, उस सर्वथा पराश्रित लड़की को जगत् के विनाश को रोकने का साधन मानता है। बड़ा अचरज होता है यह सब पढ़कर। क्या इतना सीधा सत्य बाण व उसके सर्जक (द्विवेदी जी) को नहीं दिखता कि निउनिया न होती, तो न बाण होता, न भट्टिनी? फिर भी उसके महत्त्व को बराबर नकारा गया है। उसे जीवनभर घुट-घुटकर, तिल-तिलकर अपने को होमना पड़ा हैजिसका संकेत भर लेखक दे सका। उसे सौंदर्य-वर्णन या नारी-महिमा के गीत गाने से फुरसत नहीं मिलती कि उस या उस जैसियों की वास्तविक पीड़ा के चित्रण को विस्तार दे। आत्मदमन करते-करते निउनिया में विद्रोह सुगबुगाने लगा है। अपना उपर्युक्त सत्य वह ऊँचे सिंहासनों तक पहुँचा देना चाहती है अथवा अपनी आग में खुद धधककर पूरी अन्यायकारी व्यवस्था को जला डालना चाहती है।[40] इसके लिए वह बाण का सहयोग चाहती है, पर उसे इतनी समझ कहाँ, समय कहाँ? लेखक को यह क्रांतिकारी मार्ग पसंद नहीं, तभी तो वह निउनिया के इस ज्वलंत सत्यबोध की हवा निकाल देता हैभट्टिनी व बाण के जरिये उसे स्नायु-दुर्बलता का प्रलाप घोषित करवा के। क्या उन्हें लग रहा है कि निउनिया को दौरा पड़ गया है? यदि वे यही मान रहे हों तो काश! वे समझ पाते कि ''हर लड़की के जीवन में/कभी न कभी/पागलपन का ऐसा दौरा जरूरी हो जाता है/वरना वह अपनी बात/कभी कह ही नहीं पाएगी।''(विकास नारायण राय)। निउनिया को प्रलापी उसी तरह समझा गया है जिस तरह बाण से प्रेम के उसके अधिकार का अवमूल्यन करते हुए उसे 'मोह' ठहराया गया है। महामाया के क्रांतिकारी व समयोचित आह्वान में भी बाणभट्ट को अनर्थ[40क] और वर्षों की संचित कटुता का मूर्त्त प्रतीक[40ख] दिखता है। उस पर सुचरिता कहती है कि 'दीर्घ साधना भी महामाया के भीतर के कल्मष को नहीं जला सकी।'[40ग]

## निउनिया : त्रिकालभेदी अनुत्तरित प्रश्न

निउनिया ने जो दो दाहक सवाल किए हैं(1) क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है? (2) क्या छोटा सत्य बड़े सत्य का विरोधी होता है?वे दोनों उसके व्यक्तिगत सवाल भर नहीं हैं, हर्षयुग के युगप्रश्न हैं। निउनिया की हृदयाग्नि से निकले ये प्रश्न उससे भी आगे बढ़कर त्रिकालभेदी हैंयुग-युग से पूछे गए, युग-युग के प्रश्न। पर, अनुत्तरित। छोटा सत्य अक्सर इस विसंगतिपूर्ण व्यवस्था में बड़े सत्य का विरोधी बनाकर पेश किया जाता है। समाज-संस्कृति या राष्ट्र की रक्षा के नाम पर अक्सर स्त्री-पीड़ा/घरेलू हिंसा के सवालों को चुप करा दिया जाता हैस्त्री-मुक्ति की माँग अक्सर राष्ट्रीय स्वाधीनता की लड़ाई दिखाकर स्थगित कर दी जाती है। यह सोचा तक नहीं जाता कि पचास प्रतिशत जनसंख्या के योगक्षेम को, उसकी पीड़ा/गुलामी



को नजरअंदाज कर जो राष्ट्र खड़ा होगा/हुआ है, वह किसका है, किसके हित में? ऐसी संस्कृति की चिंदी उड़ा डालना चाहती है निउनिया जो आधी आबादी के खून से रंगोली रच रही हो स्त्री के प्रति अन्यायकारी भारतीय समाज व राजव्यवस्था को विनष्ट होने का शाप वह देती है।[40घ] पर, उसकी उत्तेजना को लगाम बाँधने को व्याकुल भट्टिनी और उसके अंधभक्त बाण का पितृसत्तावादी दर्शन निर्णायक हो उठता है''बंधन ही सौंदर्य है, आत्म-दमन ही सुरुचि है, बाधाएँ ही माधुर्य हैं। नहीं तो यह जीवन व्यर्थ का बोझ हो जाता। वास्तविकताएँ नग्न रूप में प्रकट होकर कुत्सित बन जाती हैं।...भारतीय समाज ने बंधन को सत्य मानकर संसार को बहुत बड़ी चीज दी है।''[41] पर, इसके समानांतर यह सवाल न खड़ा किया गया कि किस पर बंधन? सिर्फ स्त्री के सहजाधिकार पर? या, उस लंपट मर्दानगी पर भी जिन्हें द्विवेदी जी 'प्राचीन भारत के रईस'[41क] का खिताब देते हैं। उनकी लंपट-शरण्यता पर भी कोई बंधन है, जो स्त्री की शारीरिक-आर्थिक मजबूरी का फायदा उठाकर अथवा उन्हें शारीरिक-आर्थिक रूप से मजबूर कर, अपहरण/क्रय या ब्याह द्वारा परिचारिकाओं (यौनदासियों?) या रानियों की शक्ल में, बहुरंगी तितलियों के रूप में अपने चारों ओर दिन-रात मँडराने एवं भीनी-भीनी खुशबू बिखेरने को नियुक्त करते हैं। उनकी इस अमानवीयता को उनके शौक के रूप में तथा नारियों के उक्त यातनाघर को कमनीय स्वर्ग के रूप में ढालकर द्विवेदी जी जब 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' लिखने लगते हैं, तब उससे बड़ी विसंगति क्या होगी? चर्चा होती है, इसी 'कलात्मक विनोद' की रचनात्मक परिणति है 'बाणभट्ट की आत्मकथा'। तभी तो, स्त्री-सौंदर्य की इसमें धूमधाम है और लेखक के कथानायक (बाण) के लिए समस्या बस इतनी है कि उस सौंदर्य की वास्तविक प्रतिष्ठा नहीं हो रही है, जिससे वह बंध्य हो रहा है।

## नारी-सौंदर्य बनाम स्त्री को 'सुंदर देह' रूप में ढाल देने का प्रोजेक्ट

आचार्य द्विवेदी 'बाणभट्ट की आत्मकथा' सहित अपने विशाल लेखन में स्त्री के सौंदर्य का इतना और इस कदर बखान करते हैं कि लगता है, 'सौंदर्य' को वे स्त्री के लिए एक मूल्य की तरह प्रतिष्ठित कर रहे हैं। केवल वर्णन या व्यंजना की बात नहीं, बल्कि (बाण के जरिये) उनकी मुखर घोषणा है कि ''मैं नारी-सौंदर्य को संसार की सबसे अधिक प्रभावोत्पादिनी शक्ति मानता रहा हूँ।''[42] ऐसी कोई घोषणा पुरुष के बारे में उनकी नहीं है, न ही पुरुष के सौंदर्य-वर्णन में उनकी मनोवृत्ति इतनी रमती है, जितनी नारी के सौंदर्य-वर्णन में। यद्यपि इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि वे मानसिक सौंदर्य की सत्ता भी स्वीकारते हैं और उनका यह विश्वास है कि मानसिक सुंदरता या सौमनस्य ही, दैहिक सौंदर्य के रूप में प्रकट होता है; तथापि उनके द्वारा कृत स्त्री के सौंदर्य-वर्णन में उसका शारीरिक-धरातल सर्वाधिक मुखर है। स्त्री में

सौंदर्य देखने की बीमारी ने उन्हें इस बुरी तरह जकड़ रखा है कि चाहे किसी स्तर, उम्र या किसी भी स्थिति में पड़ी स्त्री हो, उसमें सौंदर्य जरूर खोजते हैं। रानी से नौकरानी तक, कुलवधू से वारवधू तक, माँ से बच्ची तक, गृहिणी से संन्यासिनी तककोई उनकी सौंदर्यग्रासी दृष्टि से बच न पाई है। वे मानो अवसर खोजते रहते हैं कि कब स्त्री की सुंदरता बखानने को मिले। उसकी प्रसन्नता ही नहीं, दुख में भी उनकी लेखनी अकुलाती रहती हैरोग-शोक में भी वह वही खोजती है। भट्टिनी, सुचरिता व निउनिया की प्रसन्न स्थिति का ही नहीं, चिंताकुल स्थिति का भी वे सौंदर्य-चित्र खींचते हैं। बात निउनिया की दुर्बल देह की हो या उसके अंतिम संस्कार में श्मशान में आई चारुस्मिता[43] कीसब उन्हें निखरे सौंदर्य की तरह लगती हैं। विश्व-सर्जिका चेतना का भी वे भुवनमोहिनी त्रिपुरसुंदरी रूप में साक्षात्कार करते हैं। प्राकृतिक चित्रण को भी स्त्री-सौंदर्य की भाषा में ढालना उनकी प्रिय शैली है। दिशाएँ उन्हें वधुएँ लगती हैं, तो सरोवर का पानी इतना सुगंधित कि वनदेवियों के उसमें स्नान से उनके पुष्पराग घुलने की कल्पना कर बैठते हैं।[44] स्त्री और पुरुष से जुड़े वर्णनों में क्रमशः गुणों व भाषा की कोमलता व कठोरता का इस्तेमाल उनका तरीका रहा है। स्त्री के देहगत सौंदर्य में वे रूप के साथ स्वर को भी महत्त्व देते हैं। 'अष्टादश उच्छ्वास' में महामाया की शिष्याओं के आह्वानमय गान के शक्तिशाली, अद्‌भुत प्रभाव के कारण-रूप में वे नारी-कंठ को पाते हैं, जिससे उन्हें लगता है कि अब आर्यावर्त सुरक्षित हो गया।[45] कालिदास के 'रघुवंश' में विध्वस्त अयोध्यापुरी के बहाने निर्घृण दस्युओं के द्वारा कृत जिस विध्वंस का बाण 'अष्टादश उच्छ्वास' में स्मरण करता है, उसमें एक स्वर्णयुग के जाने का विषाद है। उसे ध्यान से देखें, तो स्त्री-सौंदर्य का भी प्रचुर उपयोग करके वह स्वर्णयुग रचा गया था, जो अब न रहा। जैसेराजपथ पर अभिसारिकाओं के नूपुरों की रुनझुन न रही, अट्टालिकाओं की सीढ़ियों पर रमणियों के सराग पद-संचार न रहे, सौधस्तंभों पर लकड़ी की बनी स्त्रीमूर्तियाँ न रहीं, उद्यानलताओं से पुष्पचयन करतीं विलासिनियाँ न रहीं तथा गृहलक्ष्मियों की मुखकांति से उद्‌भासित होते गवाक्ष न रहे। इनके एकमुश्त न रहने की लेखकीय 'आह' की तुलना फिल्म 'मैं तुलसी तेरे आँगन की' के मनचले लड़कों की उस आह से हो सकती है, जो एक खास लड़की को देखने के लिए तरस कर रह जाते हैं और गाते हैं'ये खिड़की खिड़की जो बंद रहती है!' द्विवेदी जी को बाणभट्ट के मुँह से जब 'त्रयोदश उच्छ्वास' में यह बोलते सुनते हैं''नारी-देह वह स्पर्शमणि है, जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है''तो समझना मुश्किल नहीं रह जाता कि स्त्री की दैहिकता को हाईलाइट करने में वे कितने आगे हैं। सुचरिता के रूप में डूबे बाण को अचानक वाराहमिहिर की उक्ति का ध्यान होता है कि ''स्त्रियाँ ही रत्नों को भूषित करती हैं, रत्न स्त्रियों को क्या भूषित करेंगे! स्त्रियाँ तो रत्न के बिना भी मनोहारिणी होती हैं, परंतु स्त्री का अंग-संग पाए बिना रत्न किसी का मन हरण नहीं करते।''[46] फिर तत्काल उसे विस्तारित करने



की जरूरत पर वह जोर देते कहता है कि ''धर्म-कर्म, भक्ति-ज्ञान, शांति-सौमनस्य कुछ भी नारी का संस्पर्श पाए बिना मनोहर नहीं होतेनारी-देह यह स्पर्श-मणि है, जो प्रत्येक ईंट-पत्थर को सोना बना देती है।''[47] इन सबके पाठ के साथ जब हम महामाया[48] और बाण[49] के स्वरों में यह सुनते हैं कि तपस्या, धर्म-कर्म, सैन्य/राज्य-गठन या किसी प्रकार की व्यवस्था में शांति या स्थायित्व के लिए नारी का सहयोग जरूरी है, तो स्पष्ट होता है 'नारीत्व' या कथित नारीगुणों की यहाँ बात नहीं हो रही है, (नारी रूपी इंसान को इनमें प्रतिभागी बनाने की तो नहीं ही हो रही है, क्योंकि पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि पिंडनारी का महत्त्व नहीं है महामाया की निगाह में); तब उपर्युक्त संदर्भ से जोड़कर एक ही अर्थ निकलता है कि नारी देह या नारी-सौंदर्य के उपयोग की बात हो रही है। तब, स्पष्ट होता है कि ''नारी से बढ़कर अनमोल रत्न और क्या हो सकता है, पर उससे अधिक दुर्दशा किसकी हो रही है?''[49क] इस अनुभूति का यथार्थ स्त्री व्यक्ति की दुर्दशा से जुड़ता है या स्त्री छवि की दुर्दशा से? कान्यकुब्ज के मदनोत्सव में चौराहों पर उन्मद नाचतीं या नचायी जातीं लड़कियों के संदर्भ में बाण को स्त्री-सौंदर्य की प्रभावोत्पादिनी शक्ति का खयाल आता है, तभी वह सोचता है कि महामाया ने कहा था कि ''नारी की सफलता पुरुष को बाँधने में है, सार्थकता उसे मुक्ति देने में।''[50] तब उसके अंतर से ध्वनि निकलती है कि नारी-सौंदर्य यहाँ बंध्य है, निष्फल है, ऊसर है। सबका अर्थ यह लग सकता है कि 'नारी-सौंदर्य', जो दुनिया की सबसे ताकतवर शक्ति है, जो सबको सोना बनाने की क्षमता रखती हैवह मनोहारिणी स्त्री का दैहिक गुण भर है; जिसका सही उपयोग (उपर्युक्त भैरवी-गान की तरह) समाज, धर्म, सैन्य या राज्य की रचना में होना चाहिए, तभी उसकी सफलता-सार्थकता है, अन्यथा वह बंध्य है। स्पष्टतः, ये सारे प्रतिपादन पितृसत्तात्मक हैं। पुरुषों की इस दुनिया के मनोरंजन, हित-चिंतन की देन हैं ये, जो स्त्री को सुंदर मानकर, उसे सुंदर बना कर या उसे दैहिक-क्षमता, प्रतिभा-विकास से जबरन बिलगा कर, उसे एकमात्र 'सुंदर' बनने को मजबूर कर अपना उल्लू सीधा करता है। यदि बहुत पुनीत या तात्त्विक ढंग से इन उक्तियों की सफाई वह दे, तो यही कहेगा कि नारी-सौंदर्य का मतलब स्त्री के मांगलिक सौंदर्य से है, जिसके एक दृष्टि-निक्षेप से सुमनों की कतारें खिल जाती हैं अथवा हिंसकों के हाथों से बर्बरता के असि-तूणीर गिर पड़ते हैं। इस सौंदर्य की सफलता पुरुषों को आकृष्ट कर एक मनोहर भाव-प्रक्रिया का शुभारंभजीवन-स्पंद का श्रीगणेश करने में है, लेकिन सार्थकता या सुफलता तो मातृत्व का ताज पहनकर एक स्वतंत्र घर-आँगन का उल्लास बनने में है, जहाँ से संस्कृति के सारे सोते फूटते हैं।[50क] स्पष्ट है कि यह पुरुषवादी नजरिया है! 'नारी-सौंदर्य' का यह सारा बखेड़ा पुरुषों के सुख के लिए, पुरुषों के द्वारा, पुरुषों का है, ताकि देह की परिधि से बाहर निकलकर वह व्यक्ति न बन जाएवह इस पुरुष-सभ्यता में उत्प्रेरक या साधन बनकर रहे, कहीं कर्ता न बन जाए। इस प्रकार से नारी को साधन

बनाना, इस प्रकार से उसका उपयोग बाण व द्विवेदी जी को कितना ही स्पृहणीय हो, पर यह स्त्री के प्रति घोर अन्यायी और सबके लिए अस्वास्थ्यकर है। चारुस्मिता व विद्युदपांगा की नृत्यकला का उपयोग, जिस प्रकार (बकौल धावक) कान्यकुब्ज की विद्रोही जनता को मदिरा पिलाने के अर्थ हो रहा था,[51] उसी का दूसरा परिष्कृत रूप है उक्त उपयोग। नारी का उपयोग चाहे हर्षयुगीन सामंतों द्वारा रीतिकालीन विलास-वीथियाँ सजाने में अथवा पूँजीवादी बाजार की मॉडलिंग या सौंदर्य-प्रतियोगिताओं या एयरहोस्टेस, सेल्सगर्ल, रिशेप्शनिस्ट आदि रूपों में हो; देवदासी या तंत्र साधना का उपकरण बनाने में हो, ऋषियों की तपस्या भंग करने में हो अथवा बहुत पुनीत रूप में गृहलक्ष्मी/माँ भर में उसे सिमटा देने के रूप में होसबके सब स्त्री को व्यक्ति न मानने और सहज नैसर्गिक जीवन जीने के उसके अधिकार से वंचित कर उसे 'सुंदर देह' रूप में जबरन ढाल देने के प्रोजेक्ट के ही अलग-अलग हिस्से हैं। ये सब स्त्री-देह को कच्चे चबा डालने को आतुर यौन-हिंसकों या यौन-ग्रासकों द्वारा उसे वासना-वेदी पर बलिदान करने (वेश्या बनाने) के ही कुछ परिष्कृत चेहरे हैं। 'स्त्री-सौंदर्य' के कल्पक द्विवेदी जी इस तथ्य को समझना ही नहीं चाहते कि स्त्री को 'सुंदर' देखने का उनका सर्वव्यापी आग्रह कितना स्त्रीघातक हैएक दीर्घकालीन सांस्कृतिक अत्याचार, जो स्त्री पर व्यास-वाल्मीकि-कालिदास-युग से लगातार होते आ रहा है, उसी का हिस्सा है वह। सौंदर्य के ये प्रतिमान, जिनमें वे नारी को कैद करते हैं, उसकी सहजेच्छा या आत्मनिर्भरता के प्रयत्नों (योग-कसरत, खेलकूद, बॉक्सिंग-फाइटिंग आदि शरीर पुष्टिकारी क्रियाओं एवं शिक्षा नौकरी, प्रतिभा के अनंत क्षेत्रों) से उसे बचाकर, विशेष चाल-ढाल-अदा-मुस्कान, दैहिक तराश (क्षीण कटि, नाजुक, छरहरी आदि रूपों में) के साथ बोझिल वस्त्राभरणों से उसे संयुक्त करने की बाध्यता के सिवा क्या है? स्त्री को इस रूप में देखने का उनका नख-शिखी आग्रह दरबारी संस्कृति से उन्हें अधिक जोड़ता है, अपेक्षाकृत समकालीन छायावादी प्रभाव के, जो नख-शिख को 'हृदय की अनुकृति' मानकर व्यंजनात्मक भाषा में मुखर था। 'प्राचीन भारत में कलात्मक विनोद' के रचनाकार का नारी-सौंदर्य-बोध सीधे-सीधे देहभाषा में बोलता है। रीतिकाल से उसका यदि भेद है तो इतना ही कि स्त्री की सारी देह की परिक्रमा करने के बाद भी वह विशेषकर उसके मुखड़े में, नैनों में रस पाता है। अपनी नायिकाओं का नख-शिख वर्णन करने के बाद उसमें ओज, शक्ति या मांगलिक स्नेह, मातृत्व आदि का रंग मिलाकर उसे दैवी/आध्यात्मिक रूप देने की कोशिश करता है। स्त्री पर भार-स्वरूप मातृत्व और पातिव्रत्य के एकांगी मूल्यों के साथ उस सौंदर्य का मानस-विस्तार भी वह खूब करता है। तथापि, यह बात भूलने की नहीं कि 'बत्तीस लक्षणों' से युक्त नारी-देह की उसे बड़ी शिद्दत से खोज रही है (जो एकमात्र 'चारुचंद्रलेख' की चंद्रलेखा में उसने पाई), परंतु इस खोज का क्षेत्र उसने पुरुष-देह को बनाने की कभी जरूरत न समझी। इस विषय में उसका दृष्टि-वैषम्य भलीभाँति स्पष्ट है। पुरुष के सुख की चिंता में स्त्री



का वस्तुरूप में विनियोग इसका केंद्रीय तत्त्व है।[52] इसी से जोड़कर अघोरभैरव के इस कथन को समझना चाहिए''इस मार्ग में शक्ति के बिना साधना नहीं चल सकती'' [53] जो उन्होंने उस पत्नी से विरहित विरतिवज्र को कहा था, जो उसकी 'शक्ति' के रूप में पहचानी गई है।[54] महामाया के कथन से तो स्पष्ट है कि पुरुष के लिए शक्ति का तात्पर्य स्त्री से है,[55] पर सवाल है कि क्या स्त्री के लिए भी पुरुष 'शक्ति' ही है? बाण का उनसे प्रश्न भी सीधे-सीधे यह नहीं है कि स्त्री की शक्ति पुरुष है कि नहीं, बल्कि प्रश्न है कि 'स्त्री की पूर्णता के लिए पुरुष को शक्तिमान मानने की आवश्यकता है?' जिसका उत्तर महामाया से उसे 'ना' के रूप में मिलता है। 'ना' का स्पष्टीकरण तो दार्शनिक उलझाव-वश नहीं हो पाता, किंतु इतनी संभावना जरूर बनती है कि पुरुष की शक्ति स्त्री है, जिससे पुरुष शक्तिमान है, पर इसका उलटा न होने से स्त्री शक्तिमती नहीं है। यानी, साधना के इस मार्ग में भी स्त्री को हीनता की स्थिति प्राप्त है। सवाल है कि मुक्ति साधना की जरूरत क्या सुचरिता या महामाया को नहीं है? सिर्फ विरतिवज्र या अघोरभैरव को है? विरतिवज्र की (सुचरिता का पुनः पाणिग्रहण करते) यह माँग कितनी एकांत स्वार्थमयी है''क्या तुम जीवन में मेरे लक्ष्य की ओर बढ़ने में मुझे सहायता पहुँचाने को तैयार हो?''[55क] महामाया व अघोरभैरव साधना मार्ग के हमराही नहीं हैं, बल्कि उनका संबंध गुरु-शिष्या का है। अघोरभैरव की शक्ति होकर भी महामाया उनकी साधना को पूर्ण करने का हेतु न बन सकीं, क्योंकि वे 'विशुद्ध नारी-त्रिपुरभैरवी' न बन सकीं।[56] यह बात, 'म्लेच्छों से रक्षार्थ आह्वान कर प्रजा में उत्तेजना जगा चुकीं' महामाया से अघोरभैरव कहते हैं। बातों के सिलसिले से लगता है कि विशुद्ध नारी से उनका आशयपरदुःख-कातर, सकल मानवता को भेदभावों से ऊपर उठकर वात्सल्य भाव से अपना लेने वाली स्त्रीसे हो सकता है। [57] यहाँ बाण द्वारा बार-बार चिंतित 'नारी शरीर के देवमंदिर होने के दर्शन' को जोड़ते हैं, तो स्त्री के बहुकथित सम्मान का रहस्य कुछ अनावृत होता है। नारी का सम्मान आमतौर पर पुरुष-हितों में उसके साधन बनने से जुड़ा हुआ है और कहें तो नारी को दिया जानेवाला सम्मान 'नारी' नामक उस प्राणी का सम्मान नहीं, बल्कि पुरुष-कृत स्त्री-छवि (तत्व नारी) का सम्मान है, उसकी देह (प्रजनन व यौनिकता) का सम्मान है, जो पुरुष के काम आती है। पवित्रतम भाषा में कहें तो उसके मातृत्व यानी संतति-परंपरा कायम रखने वाली मशीन के रूप में उसका सम्मान है, जिसे 'कुरान-शरीफ' और स्मृतियों ने थोड़े अनगढ़ रूप में कह डाला कि पत्नी/पत्नियाँ खेतियाँ या खेत हैं।[58] स्त्री को शक्ति मानने में उसकी कोई महिमा नहीं है, न इससे उसका भला हो सकता है, क्योंकि शक्ति बड़ी नहीं है, बड़ा है शक्तिमान (जो पुरुष है)। विरतिवज्र की शक्ति उसकी पत्नी (सुचरिता) हैयह प्रतिपादन एक अजीब मुश्किल में डाल देता है। वह यह कि विवाह-व्यवस्था (चाहे वह कितना भी अनमेल व विसंगत हो) पर ही आधारित है स्त्री के 'शक्ति' होने की कल्पना। अबोध बालिका सुचरिता के गले

में पर्याप्त बड़ा मर्द विरतिवज्र मढ़ दिया जाए और उसकी अबोधावस्था में ही वह मोक्ष की चिंता में उसे ठुकराकर प्रव्रजित हो जाएफिर धीरे-धीरे कन्या की मासूमियत जवानी में बदले तो वह उसी आरोपित पति के लिए विरहाकुल हो और हठात् उसी को एक जगह देखकर कन्या का हृदय संपूर्ण सिद्धि की ओर उन्मुख हो जाए। यह वर्णन कितना विडंबनापूर्ण और अस्वाभाविक है। किंतु, इन सारी बातों को भुलाकर बड़ी स्वाभाविकता से लेखक ने बालिकावधू सुचरिता को विरतिवज्र की 'शक्ति' ठहरा दिया। महामाया भी अघोरभैरव की शक्ति हैं तो किसी प्राकृतिक नियम (सहज राग) के कारण नहीं, अपितु उक्त 'विवाह-व्यवस्था' के अंतर्गत पिता द्वारा (उनसे पर्याप्त बड़े युवक को) किए गए 'वाग्दान' के कारण ही।[59] द्विवेदी जी की निगाह में विषमता पर टिकी, पितृसत्तात्मक विवाह-व्यवस्था कोई सवाल की तरह नहीं हैं, जो लड़की की इच्छा-अनिच्छा, बोध-अबोध से निरपेक्ष रहकर किसी मर्द (चाहे वह तरुण हो या वृद्ध, चाहे वह पूर्व-विवाहित/बहुविवाही ही क्यों न हो) के खूँटे में 'कन्यादान', 'वाग्दान' आदि ढोंगों के तहत बाँधकर उसकी स्वाधीनता की इतिश्री कर देती है। अंतिम उपन्यास 'अनामदास का पोथा' में जाबाला के मुख से 'कन्यादान' के संबंध में सवाल खड़ा करते भी हैं तो वह कन्या रूपी व्यक्ति/इंसान को दान की वस्तु बनानेउसकी स्वतंत्रता छीनने को लेकर नहीं होता, बल्कि शाब्दिक असंगति पर वह सवाल खड़ा है कि कन्या का दान कैसे संभव है, जबकि जिसे वह दान की जाती है, उसके लिए वह पत्नी बन जाती है? (हम गाय आदि का दान करते हैं तो ग्रहीता के लिए वह गाय आदि ही होता है। पर, कन्यादान में यह बात नहीं है। ऐसा ही भाव है जबाला का।) बाकी कोई प्रश्न लेखक के पास नहीं है। उसी विकृत व्यवस्था को परंपरागत मानकर उसके 'पातिव्रत्य' नामक मूल्य का भी खूब गुणानुवाद करते हैं। यानी, स्त्री की जिस महिमा या सम्मान के प्रति बाणभट्ट (व उसके कर्ता द्विवेदी जी) बहुत छुटपन से ही जागरुक हैं, उस पर की गई अननुकूल टीकाओं को सहन नहीं कर सकतावह थोथा मनुवादी सम्मान है, जो स्त्री को देवीत्व-मातृत्व आदि की हवा से फुला कर उसके यथार्थ की दारुण धरती से उसे उड़ा देता हैसम्मान या महिमागान के सम्मोहन में उसे विषम विवाह, पातिव्रत्य या घरेलूपन का सीकड़ पहना देता है तथा उसकी कड़ियों की झनझनाहट में जीवन-संगीत का भ्रम पैदा करता है। द्विवेदी जी के लिए स्त्री-पुरुष का प्रेम परमानंद प्रदान करने वाला, दो समान हृदयों का समस्तरीय रागात्मक व्यापार न होकर पातिव्रत्यपूर्ण गृहस्थी को रंगीन बनाते उसकी परिधि में दम तोड़ देने वाली उफान हैयदि शुरु में नहीं तो परिणति में ऐसा ही है। यदि किसी स्त्री का प्रेम दांपत्य या पातिव्रत्य की परिधि में नहीं आता तो उसे पश्चात्ताप व आत्मघात आदि से विलुप्त ही कर डालते हैं। उनका प्रेम दुनियाई जड़ताओं, भेदभावों की सारी बंद दीवारों को गिरा डालने और जीवन को समतल कर देने वाला क्रांतिकारी भाव नहीं है। बल्कि वह नर-नारी के बीच रही-सही समानताओं को भी ध्वस्त कर स्वामी-दासी, सेव्य-सेविका



आदि के श्रेणीकरण में उन्हें फिट करके ही अपने को सार्थक मानता हैपुरुष जहाँ हर उत्तरदायित्व से मुक्त रहता है, वहीं स्त्री ही दायित्वों के पहाड़ से कराहती, एकनिष्ठता/पवित्रता की उनकी माँग की पूर्ति करती, चुकती जाती है। डॉ. रोहिणी अग्रवाल ने ठीक पहचाना है कि ''प्रेम आचार्य द्विवेदी के निमित्त आत्मविस्तार, आत्म विस्मरण एवं आत्मोत्सर्ग का माध्यम नहीं, पातिव्रत धर्म को मजबूत करने का लुभावना औजार है। प्रेम को सेवा का पर्याय मानकर इन्होंने इसकी परिधि और गति दोनों को ही संकुचित कर दिया है।''[60] 'आत्मदान' को इंसान की सर्वोत्तम सिद्धि मानने वाले द्विवेदी जी की प्रेमकल्पना स्पष्टतः स्त्री से ही आत्मदान करानेवाली है, जो सामंतवादी समाज में जेंडरवादी सत्ता-समीकरण से प्रेरित है।

बाणभट्ट को जहाँ नारी को 'सुंदरी' का पर्याय बना डालने वाली संस्कृति पर रोना चाहिए था, वहीं वह नारी-सौंदर्य के दुरुपयोग पर रो रहा है। पुरुष को बाँध सकने या उसे मुक्ति देने की क्षमता से रहित होकर, स्त्री-सौंदर्य की उन्मद, सुकुमार भावों (जिसे वह नारी-सुलभ मानता है) से हीन होकर नर्तित या प्रदर्शित होना उसकी निगाह में उस सौंदर्य की बंध्यता या निष्फलता है। वह सोचता है कि काश! मेरे पास कवित्व-शक्ति होती, तो 'ऐसा काव्य लिखता कि युग-युग तक इस पवित्र आर्यभूमि में नारी-सौंदर्य की पूजा होती रहती और इस पवित्र देव-प्रतिमा को अपमानित करने का साहस किसी को न होता।'[61] वह सोचता है कि 'क्या संसार की सबसे बहुमूल्य वस्तु इसी प्रकार अपमानित होती रहेगी?'[62] इसके पीछे के कारणों का संधान करते वह सोचता है'क्यों ऐसा हुआ? इस महान् शक्तिशाली तत्त्व से बड़ी भी कोई शक्ति है क्या, जिसने इसे इस तरह हीनदर्प बना दिया है? अवश्य होगी। मेरा अनुमान है, वह शक्ति संपत्ति ही हो सकती है।'[63] अन्यत्र वह सोचता है कि 'जब तक राज्य रहेंगे, सैन्य-संगठन रहेंगे, पौरुष दर्प का प्राचुर्य रहेगा, तब तक यह होता रहेगा।'[64]

## पितृसत्ता के साथ स्वर्गाभियान और काव्यवाणी का उपयोग

यदि हम उक्त प्रसंग में आए नारी-सौंदर्य के अपमान का अर्थ-विस्तार कर उसे कथित नारी-भाव या नारी नामक इंसान वर्ग के अपमान रूप में समझें (और ऐसा समझना गलत भी नहीं है क्योंकि प्रत्यंत दस्युओं के आक्रमण से हुई भट्टिनी की दुर्दशा-असहायता का काल्पनिक चित्रण का प्रसंग है, जिसमें ये बातें कही गई हैं), तो स्त्री-दुर्दशा के कारणों पर सार्थक बहस की संभावना है। लेखक ने बाण के जरिये 'संपत्ति', 'राज्य/सैन्य संगठन' व पौरुष-दर्प को कारणीभूत माना है या इन कारणों की संभावना प्रकट की है। इसके जरिये वे मार्क्सवादी व्याख्या के करीब पहुँचना चाहते हैं। वस्तुतः संपत्ति स्त्री की धर्षणा, प्रताड़ना का कारण नहीं है; बल्कि संपत्ति का वह विषम वितरण कारण है, जिससे नारी के हाथ में उसका लगभग कुछ भी हिस्सा न

आया। इसी तरह, राज्य/सैन्य-संगठन स्त्री की दुर्दशा के कारण नहीं हैं, बल्कि कारण है इन संगठनों में उसकी आधी हिस्सेदारी का अभाव। इन भौतिक प्रस्थितियों ने नारी को भूखी व अबला बनाकर, संपत्तिशाली, राज्यबली पुरुषों की वासना का क्रीड़ाकंदुक बनने को मजबूर कर रखा है। सब मिलाकर 'नारी' की इस दोयम स्थिति का सबसे बड़ा जिम्मेदार है, वह विचारधारा, जिसने पुरुष व नारी का न केवल भेद खड़ा किया, बल्कि भेदों का इस तरह सोपानीकरण किया कि नारी हर क्षेत्र में पुरुष से एक सीढ़ी नीचे रखी गई। उस विचारधारा का नाम है 'पितृसत्ता', जो भौतिक प्रस्थितियों की उक्त भिन्नताओं का परिणाम भी है और कारण या सर्जक भी। उसी ने नारी को मर्दों के लिए सुख-साधन, संतान-जनन, सेवा कार्यादि के अर्थ 'देह' मात्र बना रखा है। इसलिए सौंदर्य या देह के मीना-बाजार में नारियों की शिरकत पर बाण का यह सवाल स्वतः निरस्त हो जाना चाहिए कि ''क्या स्त्रियों ने स्वयं यह जाल बुना है और अब स्वयं उलझ गई हैं?''[64क] पितृसत्तात्मक समाज के 'पौरुष दर्प' (लेखक ने ठीक शब्द चुना) में नारी-देह की छीना-झपटी, अपहरण, बिक्री, उपहार, दान (जैसे-कन्यादान) के बहुविध कांड चलते रहे हैं। म्लेच्छों के समाज, जिसकी समता का समता, जिसका गुणगान भट्टिनी करती है, में भी नर-नारी समता नहीं है, बल्कि सारे नर आपस में समान हैं और सारी नारियाँ आपस में समान हैं,[65] पर नर-नारी आपस में समान नहीं है, अन्यथा कुलवधुओं और बालिकाओं का धर्षण ही उनका विलास न होता।[66] अतएव, वह समत्व अपूर्ण है'पुरुषवादी समता' इसे कह सकते हैं। (यही समता लोरिकदेव के आभीरों में भी है।) वह समता अधूरी है, पर है तो। भारतीय समाज में तो वह भी नहीं है। इसी से बाणभट्ट का यह सोचना बिलकुल ठीक है कि म्लेच्छों के समाज में स्वर्ग बनाना आसान है, पर भारतीय समाज में स्वर्ग बनाना कठिन है। वहाँ स्वर्ग बनाने के लिए थोड़ा-सा सुधार करना होगा, क्योंकि बाकी पूर्व तैयारी हो चुकी है,[67] पर भारतीय समाज में क्या है शास्त्रीय बड़बोलेपन के सिवा, साधनात्मक विसंगतियों के सिवा? आध्यात्मिक समता के पाखंड के सिवा? इसी पाखंड की छाया में हजारों-हजार जातियाँ हैं, जहाँ स्त्रियों को एक ही साथ कुलवधू और वेश्या बनाने का प्रोग्राम भी बाखूबी चलते रहता है; दोनों रूपों में नारी दलित ही होती है। इस पर न महामाया ने कुछ सोचा, न उन्हें अधूरी कहने वाली भट्टिनी ने। एक को म्लेच्छ और आर्य के भेद से फुरसत नहीं, जिसमें (भयंकर सामाजिक विषमता से बने) इस देश को बचाने के लिए म्लेच्छों को एकमुश्त मिटा देने का जोश हैदूसरी में 'ऊँची भारतीय साधना' के झूठ का सम्मोहन। महामाया का तरीका तो अधूरा सच होकर भी सार्थक है, क्योंकि कम से कम सामंतवादी भेदभावमूलक व्यवस्था और उसके स्त्री-घाती भीषण चेहरे का पर्दाफाश करता हैपर, भट्टिनी का तरीका [68] तो उससे भी आधी समझ पर आधारित होने के साथ और भी अव्यावहारिक है। यद्यपि इस तरीके में प्रयोग का एक नयापन हैकाव्यवाणी द्वारा म्लेच्छों के निर्दय चित्त में समवेदना का



संचार करने के लिए बाणभट्ट का आह्वान है![68क] यह प्रयोग इस सोच पर आधारित है कि

*''मानव-मन को बेधते फूल के दल केवल,*
*आदमी नहीं कटता बरछों से तीरों से।*
*लोहे की कड़ियों की साजिश बेकार हुई,*
*बाँधो मनुष्य को शबनम की जंजीरों से ॥''*[69]

इंसान के दिल को फूलों के बाण से ही बींधा जा सकता है, उसे शबनम की जंजीरों से ही मर्यादित किया जा सकता है। यह ठीक है कि साहित्य से सारी समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता, उसके लिए व्यवस्था-परिवर्तन अहम चीज है। पर, चूँकि म्लेच्छों के यहाँ व्यवस्थागत परिवर्तन पूर्व-विद्यमान है, अतः शेष (हृदय-परिवर्तन) के लिए साहित्य वहाँ जादू की छड़ी सा काम कर सकता है। इसी से, म्लेच्छों के समाज में ही सबसे पहला प्रयोग करना भट्टिनी को भी इष्ट लगता है। उपन्यास की समाप्ति के लगभग वह बाण के साथ अपने इस प्रयोग के लिए तैयार दिख रही है।[70] स्वर्ग बनाने की इस परियोजना की कल्पना करते द्विवेदी जी यदि 'क्या कभी यह भी संभव है कि मानव-समाज में राज्य न हों, सैन्य-संगठन न हों, संपत्ति-मोह न हो?'[71] जैसी चिंता करने की बजाय यह चिंता करते कि 'कैसे संभव हो कि इंसानी समाज में पितृसत्ता न हो?' तो पूरी संभावना होती कि ऐसा सचमुच का स्वर्ग बनता, जिसमें बूढ़े इंद्रों के लिए अप्सराएँ न होतींनर-नारी बिलकुल समान होते। पर, सवाल है कि स्वर्ग को अप्सरा-विहीन करना 'स्त्री-सौंदर्य' के प्रेमी, 'कलात्मक विनोद' के रचनाकार को कभी इष्ट भी रहा होगा? जब तक अप्सरा-विहीन यह स्वर्ग न बनेगा, तब तक निउनिया का पूछा त्रिकाल-त्रिलोकभेदी यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहेगा'क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है?' यह प्रश्न तब तक अनुत्तरित रहेगा, जब तक कुमार कृष्णवर्धन के घर सिर्फ पुत्र-जन्मोत्सव मनता रहेगा और उसमें नारियाँ सिर्फ जुलूस की शोभा के लिए पुरुषों से भी अधिक संख्या में होती रहेंगी। या, प्रत्यंत दस्युओं के आने की खबर, पत्र से सिर्फ 'भाइयों' को देते[71क] भर्वुशर्मा इस धरा पर होते रहेंगे। या, पुरुष-शास्त्रों व इतिहास को तपस्या/धर्म की व्यवस्थाओं के लिए नारियाँ विघ्नस्वरूप प्रतीत होती रहेंगी।[71ख] यह प्रश्न तब तक भी अनुत्तरित रहेगा जब तक 'कंचुकी-धर्म' का पवित्र निष्ठा से पालन करने वाले वाभ्रव्य जैसे वृद्ध भद्रपुरुष रहेंगे। साथ ही तब तक अनुत्तरित रहेगा यह प्रश्न, जब तक पुरुष का सत्य और होगा, स्त्री का सत्य कुछ और।[72]

## कंचुकी-धर्म यानी स्त्रियों की भोग-कारा के प्रहरी का धर्म

वाभ्रव्य को जिस कंचुकी-धर्म के पालन पर नाज है, वह क्या है? सत्ताधारी पुरुष की अबाध भोगलिप्सा तथा उसके तहत लड़कियों के संपूर्णतया दलन की

व्यवस्था का रक्षक-प्रहरी बनना। उसके बीस वर्षों के सेवा-काल में राजा के 'अवरोध-गृह' (जेल) में कितनी बालाएँ न जाने किस तरीके से (अपहरण कर, खरीद कर, ब्याह कर) लाई गईं, पर उसने सबको मौखरिवंश की कुलवधुओं के रूप में स्वीकार किया, बिना किसी का परिचय जाने या अवरोध-गृह में लाने के तरीके पर सवाल उठाए। उसके पितृ-पितामहों ने कंचुकी धर्म की ऐसी ही शानदार शिक्षा दी थी। राजा से प्रायः छोटी उन लड़कियों की सकल संभावनाशील जिंदगी का अंत करके, उसके भोग-बिस्तर पर उन बेचारियों को जबरन पटक देने वाले अंतःपुर का वह प्रहरी, उन्हें भागने से रोक रखने की अपनी कुशलता को 'कंचुकी-धर्म' मानता है। उस पर तुर्रा यह कि 'प्राण देकर भी कुलवधुओं की मान-रक्षा करना' की सीख उसने बाप-दादों से पाई है, जिससे 'अंतःपुर की मर्यादा लंघन करने वाले का सिर उतार लेना' उसका धर्म है, 'चाहे वह राजा ही क्यों न हो।...राजा सारे संसार का राजा हो सकता है, पर अंतःपुर में वह स्वतंत्र नहीं है। कंचुकी राजा का नहीं, रानी का अन्न खाता है।'[73]इस पाखंड का कोई अंत है? राजा के बाड़े में लड़कियों को मुर्गियों की तरह बंद रखने में अटूट लगनशीलता और ऊपर से यह कहना कि मैं उन मुर्गियों की मान-मर्यादा की रक्षा करता था। उनका गोश्त राजा को उपलब्ध कराते रहना ही उनकी मान-मर्यादा थी? अंतःपुर में राजा का वश नहीं! वाह! कैसा वंचनापूर्ण वक्तव्य है। 'जेल-निर्माता सरकार का जेल पर वश नहीं हो सकता और मैं सरकार का नहीं, कैदियों का अन्न खाता हूँ'यह कह रहा है जेलर (कंचुकी)। रानी का अन्न कहाँ से आया? रानी कमाती थी, हल-बैल-चलाती, मेहनत-मजदूरी करती थी? उसे यह सब करने से रोककर ही तो यहाँ लाया गया था। उसकी खुद की रोटी तो यौन-परतंत्रता स्वीकारने की रोटी थी।देह बेचने की मजबूरी में पड़ी से बढ़कर डाली गई ऐसी रानियों की कमाई खाकर कंचुकी गौरवान्वित है। इतने विसंगत-निर्घृण, परस्पर-विरोधी तथ्यों से पूर्ण यह वर्णन पूरी श्रद्धा से करते द्विवेदी जी को जरा सी असहूलियत महसूस नहीं होतीयह बड़े अचरज की बात है!

कैदी बालिकाओं में से दो (महामाया, भट्टिनी) के निकल जाने में वाभ्रव्य कंचुकी-धर्म की असफलता या स्वामी के प्रति द्रोह के पश्चात्ताप अनल में दग्ध होता रहा। पर, जब उसे पता चला कि मेरे इन प्रमादों से लोक का कल्याण हुआ है'आर्यावर्त्त नाश से बच जाएगा। देवपुत्र-नंदिनी और महामाया भैरवी उसे बचा लेंगी।''[74] तब वह अपने अनुभव का निचोड़ रखता है''जितने बँधे-बँधाए नियम और आचार हैं, उनमें धर्म अँटता नहीं। वह नियमों से बड़ा है, आचारों से बड़ा है। मैं जिनको धर्म समझता रहा, वे सब समय और सभी अवस्था में धर्म ही नहीं थे, जिन्हें अधर्म समझता रहा, वे भी सब समय और सभी अवस्था में अधर्म ही नहीं कहे जा सकते।''[75]पर, यह बोध संदर्भ से जुड़कर बेहद अधूरा लगता है। लोक-कल्याण हुआ, इससे वह अधर्म अधर्म नहीं, धर्म था। लोक-कल्याण की जो समझ यहाँ है,



उससे बाकी अपहृताओं को भी अंतःपुर से जाने देने में तो लोक-कल्याण सधता नहीं दिखता, क्योंकि वे बेचारियाँ बड़े बाप (तुवरमिलिंद) की बेटियाँ न थीं अथवा महामाया सी बागी होकर आध्यात्मिक रणक्षेत्र में कूद पड़ने की कूबत भी शायद ही किसी में थी। तो, क्या उन बेचारियों को जबरदस्ती उक्त यातनाघर में रोके रखने में कोई अधर्म न था? इसी तरह का संदर्भ महामाया ने भी उठाया था''क्या निरीह प्रजा की बेटियाँ उनकी नयनतारा नहीं हुआ करतीं? क्या राजा और सेनापति की बेटियों का खो जाना ही संसार की दुर्घटनाएँ हैं?'' परंतु इस प्रकार के प्रश्नों पर न वाभ्रव्य मुखर है, न द्विवेदी जी। क्या इसलिए कि 'बुद्धिमान की नीति मौन होती है?' (पंचम उच्छ्वास) धूम्रगिरि के योगिराज ने मौखरि-नरेश ग्रहवर्मा की अल्पायु जानते हुए भी उसे 'तुम दूसरा विवाह अवश्य करना' कहा, जिसका अनुमोदन सा करती हुई महामाया ने भी कंचुकी से कहा कि तुम लोग प्रयत्न करके उनका दूसरा विवाह करा देना। क्या यह पुरुषवादी सलाह नहीं है? निउनिया के निजी अनुभव ने माकूल टिप्पणी की'उससे क्या आर्या राजश्री जैसी साध्वी का जीवन व्यर्थ नहीं हो गया? वैधव्य से बड़ी व्यर्थता स्त्री के लिए और क्या हो सकती है आर्य?'[76] परंतु वाभ्रव्य ने उसे मर्दवादी आशय से बरगला दिया'छिह निउनिया, ऐसा भी कहते हैं! राजश्री का जीवन व्यर्थ हुआ है? सार्थकता क्या है? आत्मदान ऐसी वस्तु है, जो दाता और ग्रहीता दोनों को सार्थक करती है। राजश्री ने वह दान दिया भी और पाया भी।'[77] पता नहीं राजश्री ने क्या पाया? दिया तो अवश्यअपना समस्त जीवन या स्वाधीन भाव दाँव पर लगाया, सारे लौकिक सुख दाँव पर लगाए और दुःख ही दुःख पाए। उस पर उसे अफसोस न हो, इसलिए मर्दसत्ता का दर्शन-जाल पुनः बरगलाने आ गया''लौकिक मानदंड से आनंद नामक वस्तु को नहीं मापा जा सकता। दुःख तो केवल मन का विकल्प ही है, मनुष्य तो नीचे से ऊपर तक केवल परमानंद-स्वरूप है। अपने को निःशेष भाव से दे देने से ही दुःख जाता रहता है, परमानंद प्राप्त होता है।''[78] किंतु, दुःख है कि आत्मदान-निश्शेष समर्पण की इस सीख का प्रयोग सिर्फ औरत पर किया गया, जब उसने अपने सुख-दुःख की बात की। निउनिया का उक्त प्रतिरोध ('वैधव्य से बड़ी व्यर्थता स्त्री के लिए और क्या हो सकती है?') अधूरा होकर भी प्रासंगिक था। अधूरा इसलिए था, क्योंकि बेचारी को यह ज्ञात न था कि अन्यायी धर्म-व्यवस्था ने 'वैधव्य' की थीसिस तथा उसका प्रोसीजियर कोड तैयार किया है, अन्यथा नारी तो सिर्फ नारी हैन कि सधवा या विधवा।

## पुरुष का सत्य और, स्त्री का सत्य और?

'पुरुष का सत्य और है, स्त्री का सत्य और'महामाया का इस आशय का प्रतिपादन साधना-क्षेत्र में होकर भी, बृहत्तर सांस्कृतिक आशयों का मूल है। इसी

दृष्टिकोण ने सच में नारीवाद या स्त्री-विमर्श को खड़ा किया है। अब तक ज्ञान के, समाज-रचना या व्यवस्था के तमाम क्षेत्र पुरुष के सत्य से खड़े किए गए हैं। चूँकि स्त्री का सत्य और कुछ हैइसी से स्पष्ट हुआ कि अब तक का तमाम ज्ञान या सभ्यता-विकास/संरचना सिर्फ आधी दृष्टि के अनुकूल है, कारण आधी आबादी (स्त्री) का उसमें सहयोग नहीं। स्त्री-दृष्टि से विश्व-दृष्टि अलग होगी, इसलिए स्त्री विमर्श' खड़ा होना निहायत जरूरी है। फिर, स्त्री-विमर्श का कार्य है'पुरुष-सत्य और, स्त्री-सत्य और' की भेदकारी जेंडरवादी संरचना की छानबीन करना, जिसके तहत स्त्री को हर बात में, हर जीवन-क्षेत्र में, हर अधिकार-कर्तव्य-सिद्धि या कर्म के क्षेत्र में, यहाँ तक कि शारीरिक व्यवहार व वस्त्रादि-चयन (सौंदर्य-बोध) तक में पुरुष से भिन्न बना रखा है। स्त्री को दोयम दर्जे का शिकार बनाने में 'पुरुष का सत्य और, स्त्री का सत्य और' की महामायावी समझ ने ही योगदान दिया है। यही पितृसत्ता का मूल सूत्र है। इसी ने नारीत्व, नारी-मनोविज्ञान जैसे मिथकों को बढ़ाने के साथ नारी को इंसानियत से बहिष्कृत कर रखा हैउसे कुछ खास बनाकरविलक्षण या कुलक्षण ठहरा कर।
इसके रहते निउनिया का पूर्वोक्त प्रश्न अनुत्तरित ही रहेगा। सच कहें तो यह अनुत्तरण तब तक कायम रहेगा जब 'कथामुख' की दीदी को आधुनिक (यूरोपीय) स्त्री वर्ग की प्रवक्त्री बनाकर यह कहलाया जाता रहेगा कि स्त्रियाँ चाहें भी तो आलस्यहीन होकर काम नहीं कर सकतीं, क्योंकि समाज की पराधीनता चाहे कम हो जाए, पर प्रकृति की पराधीनता तो हटाई नहीं जा सकती।[78क] स्पष्ट होना चाहिए कि प्राकृतिक पराधीनता का आशय लज्जादि भाव हैं तो उनकी प्राकृतिकता पीछे खंडित हो चुकी है और यदि उसका आशय स्त्री के मासिक चक्र-गर्भधारण की बाध्यता आदि है, तो विज्ञान के बढ़ते हाथ इस प्राकृतिक पराधीनता से स्त्री को अधिकाधिक मुक्त करते जा रहे हैं।

लेखक द्वारा 'बाणभट्ट की आत्मकथा' के एकमात्र स्पंदनशील, पूर्ण नारी-चरित्र निउनिया का, प्रायोजित तरीके से आत्मदान के पर्दे के पीछे, अंत कर दिया जाता है। भेदभावमय निर्घृण समाज, राज्य व धर्म व्यवस्था का वह सर्वाधिक अनुभवी 'नारी-चरित्र' है, जो लोक व शासन के किसी दबाव से मुक्त रहकर निर्णय लेने की अपार क्षमता व कर्मठता से युक्त आत्मनिर्भर इंसान है। वह इस व्यवस्था के क्रूर-दाहक संजाल की निदारुण भट्ठी में आजीवन जलती रही है, जिसे समझना नायक बाण या लेखक के वश या रुचि की बात नहीं। वह अपने विडंबित, संघर्षशील जीवन के जरिये नारी-जाति का प्रतिनिधित्व करती है और उसके खड़े किए गए सवाल (थोड़ा सा भी सोचते ही) पूरा ढाँचा हिला देने की ताकत रखते हैं। अपने अनुत्तरित सवालों को लिए ही वह मर या मार डाली जाती है। उसकी मौत भी एक भीषण सवाल बनकर आ खड़ी होती है, मानो सबसे चिल्ला-चिल्लाकर वह पूछ रही है कि स्त्री इस प्रकार समस्याग्रस्त क्यों है, जिसका एकमात्र समाधान मृत्यु है?[79]



द्विवेदी जी के रचना-संसार में स्त्री-संबंधी जो भी दहकते यथार्थपरक प्रश्न जगे हैं, वे अनायास से आ गए हैं, अन्यथा वे पूरे होशो-हवास में पितृसत्तात्मक संरचना के स्त्री-घातक स्वरूप को बहुत ही कम प्रश्नांकित कर सके हैं; ज्यादा तात्त्विक स्त्री-प्रश्नों को ही वे उठाते हैं? निउनिया के द्वारा अवश्य उन्होंने बेधक सवाल उठा दिए हैं, पर उनके साथ शेष पात्रों की कथा-संरचना कितनी सहयोगी बन पाई? महामाया के बागी आह्वान का लक्ष्यीभूत प्रजा-संगठन स्त्री का नहीं है, बल्कि 'पिंजरे की मिठबोली मैना बनी रहे स्त्री और पुरुष उसे बचाते रहे', ऐसा ही कुछ भाव है उनका। पिंजरा तोड़ने का आह्वान तो बिलकुल नहीं है। यह पिंजरा है घर का, विवाह व पातिव्रत्य का तथा स्त्री पर डाले गए 'सौंदर्य' का। राजतंत्र की नृशंसता को वैयक्तिक स्तर पर झेल कर ही महामाया बागी बनी हैं, पर उनकी मनोवेदना[80] का संकेत भर है, उसका शारीरिक धरातल पर विस्तार नहीं। लगभग यही सांकेतिकता निउनिया के यथार्थ के साथ भी है। सुचरिता की समस्या तो उनके लिए कुछ खास है भी नहीं और भट्टिनी की समस्या कुछ खास न होने पर भी सबसे खास उसी को बना दिया गया है। नर्तकियाँ (चाहे कान्यकुब्ज के उत्सवों की हों या आभीरों की), निउनिया की सखियाँ, महामाया की शिष्याएँ (भैरवियाँ), राजश्री, चंडमंडना आदि को उन्मार्गगामिनी या सार्थक सा दिखाकर छुट्टी ले ली गई है। सुचरिता की सास वात्सल्य-वश धर्म की रूढ़ियों की अवश्य विरोधी है। उसका विरोध भी हिलाकर रख देता है[81], पर उसकी सीमा पुत्र या वधू के प्रति वात्सल्य मात्र है। बाद में वह शांत हो जाता है। मदनश्री, चारुस्मिता, विद्युदपांगा आदि नगरवधुएँ अपनी कला, समृद्धि व प्रतिष्ठापक जनसमूह के बावजूद कितनी अकेली, दलित, अपमानित व रिक्त हैंयह देखने की फुरसत लेखक को है नहीं। भूखी-प्यासी, अशिक्षित, बलात्कृत, गुलाम बनाई जाती, वेश्या, परजीवी, अपहृत-बेची गई; घर-विवाह या पातिव्रत्य में घुटती, प्रसव-बाध्यता की पीड़ा सहतीएक भी नारी की पीड़ा का वास्तविक धरातल पर आख्यान 'आत्मकथाकार' ने किया है, जिससे लगे कि वे स्त्री-पीड़ा को समझते हैं? इसकी अपेक्षा परिवार, समाज, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि की निर्धारित संरचना की माँगों के अनुसार स्त्रीपात्रों को काट-कुतरकर, खींच-खाँचकर 'शास्त्रीय नारीत्व' के खाँचे में फिट करने की उनकी साधना सतत सक्रिय रहती हैजिससे वे चरित्र प्रतीक/कागजी/टिपिकल बनने को अभिशप्त रहते हैं। कई को प्रारंभ में थोड़ा सा जीवंत-संघर्षशील दिखलाकर अंत में उनके अपराध बोध के साथ उसी खाँचे में बैठा देते हैं। प्रेम की ताजगी का दांपत्य-कारा में दम घोंटने की पूरी कोशिश वे करते हैं। कई को शुरु से ही टिपिकल पतिव्रता सा गढ़ते हैं। कई की जीवंतता व तेजस्विता को कुतर पाना आसान नहीं होता, तो उपन्यास के अंत तक उन्हें जीने ही नहीं देते, आत्मघात या आत्मदान के सहारे। स्त्री की निजता को 'अहं', उसके द्वारा कृत पितृसत्तात्मक व्यवस्था के पर्दाफाश वाले वक्तव्य को प्रलाप या अधूरा सच तथा उसके प्रेमाधिकार को 'मोह' ठहरा कर ही उनका रचनाकार चैन पाता है।

उनकी सारी नारी-दृष्टि नारी के प्रति 'सरस श्रद्धा' की इस कदर शिकार है कि स्त्री पीड़ा या नारी-पीड़कों के चरित्र पहचानना उनके वश के बाहर की बात हो जाती है। इसका कारण उनकी युगीन सीमा तो नहीं है, किंतु उनके दार्शनिक रुझान की भौतिकवाद से असंपृक्ति अवश्य है। युगीन सीमा यदि कारण रहती तो लगभग उसी काल में विद्यमान रामवृक्ष बेनीपुरी, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, महादेवी वर्मा आदि की नारी-दृष्टियाँ उनसे इतनी अलग (प्रगतिशील) न होतीं। स्पष्टतः द्विवेदी जी की व्यक्तिगत सीमाएँ प्रधान हुईं, जिनमें नारी-अनुभव का असम्मिलन भी एक कारण है। इसी से वे अक्सर कई हिंदू-विश्वासों के साथ ब्राह्मणवादी मान्यताओं तक को बिना सवालिया निशान लगाए सिद्ध तथ्य की तरह ले लेते हैं, जिनकी दलित या स्त्री के संदर्भ में प्रासंगिकता वे कभी सिद्ध न कर पाएन कर पाते।

फिर भी, यह कहना उचित न होगा कि द्विवेदी जी जड़ पंडित मात्र हैं। वे युग और उससे ज्यादा अपनी परिस्थितियों के लिहाज से उस संक्रमणशील दोराहे पर खड़े थे, जहाँ नयी दृष्टि जुड़ रही थी, पर पुराने का मोह भी गया न था। उनमें द्वंद्वात्मक प्रक्रिया चल रही थीभले घोषित तौर पर वे द्वंद्वात्मकता या विकासवाद में आस्थावान न रहे हों। उनके बाणभट्ट में रोमांतिक कवि और जीवन-योद्धा का तनाव सतत चला है। शास्त्र पर संशय भी शास्त्र के प्रति मोह के साथ उनमें बराबर रहा है। वे अपनी ही कृति में अपने 'पंडित' व्यक्तित्व के साथ उसके किसी प्रतिपक्ष की रचना अवश्य करते हैं, जो जड़शास्त्रीयता या वर्णभेदी-पितृ-संरचना पर कहीं चिंतन करता है, कहीं उसका उपहास करता है तो कहीं उससे दो-दो हाथ करता है। अघोरभैरव, महामाया, निउनिया ही नहीं, किसी सीमा तक बाणभट्ट में भी उसी का प्रतिलोम है, क्योंकि वह उचितानुचित-विवेक की सामान्य धारा से हटकर चलता है।[82] इसी स्थिति में उनके उपन्यासों में जीवन-दर्शन बन सकनेवाली सूक्तियाँ फूट पड़ती हैं। जैसे'(सत्य के लिए) किसी से न डरना, गुरु से भी नहीं, मंत्र से भी नहीं, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं।'[83] इसके साथ अघोरभैरव की ही यह उक्ति मिला लें, 'तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर का सत्य है, उसे दबाने को कहते हैं; जो तेरे भीतर का मोहन है, उसे भूलने को कहते हैं; जिसे तू पूजता है, उसे छोड़ने को कहते हैं'[84]ता असमानांतर साहसी सत्यशोधक दृष्टि मिल जाती है। सुचरिता के मुख से वैराग्यवादी दृष्टि को काटते मानो सकल मनुष्यता बोल उठी है'वैराग्य क्या इतनी बड़ी चीज है कि प्रेम के देवता को उसकी नयनाग्नि में भस्म करा के कवि गौरव अनुभव करें?'[85] जीवन-प्रियता का यह स्वर बाण के चिंतन से भी 'आत्मकथा' में कई बार उभरा है।[86] अपने लौकिक प्रेम-स्वरूप भट्टिनी को बचाने के लिए उसने जानबूझकर, महावाराह मूर्ति को गंगा में विसर्जित कर दिया, जो उसके कर्मकांडी संस्कारों के चरममूल्य की तरह थी। आचार्य द्विवेदी का विचारक रूप (निबंधों या साहित्येतिहास में) शास्त्रीयता की सीमा रेखांकित कर उसकी अमानवीयता का उद्‌घाटन भी करता है (विशेषतः



वर्ण-मजहब आदि के संदर्भ में); परंतु लिंगभेद (जेंडरवाद) के संदर्भ में (स्त्री प्रति तमाम सहानुभूति रखकर भी) वे पुरानेपन से स्वयं को बचा न पाए हैं। यही कारण है कि 'पुनर्नवा' में व्यवस्थाओं के निरंतर परिमार्जन व संस्करण द्वारा उनके नवीनीकरण को निहायत जरूरी[87] बतलाकर भी, स्त्री के संदर्भ में उसमें शायद ही सुधार वे चाहते हों। इसी से उनका साहित्य अपनी तमाम सांस्कृतिक उच्चता, रचनाशीलता व अलौकिकता तथा मनुष्य की जययात्रा में विश्वास के बावजूद पितृसत्तात्मकता की प्रतिसंस्कृति न रच सका। इसी से पुरुष व प्रकृति अथवा 'स्त्रीत्व' व 'पुंसत्व' नामक दो कोटियों में विश्वासी उनके दार्शनिक भारतीय मानस में स्त्री व पुरुष को इंसानियत के सहज साथी (लाइफ पार्टनर) रूप में देखने की तमन्ना लगभग अनुपस्थित है। उसकी जगह देवता व दासी का द्वंद्व उनमें मिलता है, जिसे देवी-महिमा और नारी-सौंदर्य की विद्युत-कौंध व बरसात से भी भरमाया गया है। इसी से अघोरभैरव के मुख से वे यह भले कहला लें कि ''जब तक तुम पुरुष और स्त्री का भेद नहीं भूल जाते, तब तक तुम अधूरे हो, अपूर्ण हो, आसक्त हो''[88], लेकिन उनका साहित्य इस भेदभाव की दीवारों का रंग-रोगन करने में ज्यादा निरत है, उन्हें धक्का देने में बहुत कम।

## संदर्भ


1. 'बाणभट्ट की आत्मकथा', सप्तदश उच्छ्‌वास।
2. वही, द्वितीय उच्छ्‌वास।
3. वही, सप्तदश उच्छ्‌वास।
4. वही, उपसंहार
5. ''उनकी अभिजात मनोवृत्ति सामाजिक व्यवस्था की क्रूरता से संत्रस्त सामान्य स्त्री पात्रों की नियति पर विचार करना नहीं चाहती। दरअसल व्यवस्था की क्रूरता उन्हें दिखाई ही नहीं पड़ती। बेशक वे जानते हैं कि शहर में गणिकाएँ हैं, मंदिरों में देवदासियाँ हैं, राह चलती बालाओं को अपहृत करते दस्यु हैं, यौन-हिंसा से सभी वर्गों की कन्याओं में भय फैलाते लंपट हैं, जहाँ-तहाँ शर्विलक के अड्डे हैं, जिनमें दिनदहाड़े कन्याओं की खरीद-फरोख्त होती है और घरों में एक अलग तरह का उत्पीड़न झेलती विधवाएँ हैं जिन्हें घर की तुलना में सड़कें अधिक निरापद जान पड़ती हैं। लेकिन तथ्यों को जानना स्थिति को स्वीकारना नहीं होता।...व्यक्ति को सूचना बना डालना उस अमानवीय व्यवस्था की कूटनीति है जो अपने से इतर किसी अन्य की जीवंत सत्ता नहीं स्वीकारती। इसी मानसिकता का प्रतिनिधित्व करते जान पड़ते हैं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। यही कारण है कि मंदिरों के गर्भगृह में कामलोलुप महंतों के यौन-शोषण की शिकार देवदासियों की घुटी चीत्कारें उनके कानों

तक नहीं पहुँच पातीं। क्योंकि शास्त्रों के अनुसार देवदासियाँ वे सौभाग्यवती कन्याएँ हैं, जिन्हें उनके धर्मपरायण माता-पिता धर्म की रक्षा हेतु मंदिर के प्रांगण में देवता को अर्पित कर जाते हैं।...इसी प्रकार पुरुषों के प्रसादन हेतु अपनी देह एवं कला को बेचती गणिकाएँ भी उनके समक्ष एक प्रश्नचिह्न बनकर नहीं उभरतीं, जिनसे समाज-व्यवस्था ने एक नैसर्गिक जीवन जीने का अधिकार छीना है। न ही वे इस प्रश्न की पड़ताल करना चाहते हैं कि क्या गणिकाएँ या देवदासियाँ स्वेच्छा से इन व्यवसायों को अपनाती हैं? उन्हें दूर से सुखी, संपन्न और प्रतिष्ठित दिखाकर मानो वे हर जवाबदेही से पल्ला झाड़ लेना चाहते हैं।''

डॉ. रोहिणी अग्रवाल ('उपन्यासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : प्रेम एवं स्त्री-दृष्टि के संदर्भ में'/ 'इंद्रप्रस्थ भारती', जनवरी-मार्च, 2007)

6. ''जिस घर में अधार्मिक प्रकृति की स्त्रियों का प्रभुत्व हो जाता है, उसमें नित्य कलह होता रहता है और आगे चलकर वह टूट कर नष्ट ही हो जाता है।.. .परिवार के केंद्र में विद्यमान स्त्री का धर्माचरण पूरे परिवार और कुटुंब को प्रभावित करता है। वह भविष्य की पीढ़ी को भी प्रभावित करता है। बच्चों पर उसका उत्तम प्रभाव पड़ता है। स्त्री का धार्मिक होना केवल वर्तमान को ही नहीं, भविष्य को भी उज्ज्वल बनाता है।''
'धार्मिक एवं सच्चरित्र नारी कुटुंब की शोभा है' शीर्षक निबंध से।
7. शुश्रूषस्व गुरुन्कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपिरोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः
भूयिष्ठं भवदक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयोः वामाः कुलस्याधयः।
(अभिज्ञानशाकुन्तलम्, चतुर्थ अंक)
8. ''सदा ऐसा प्रयत्न होना चाहिए कि उचित शिक्षा की व्यवस्था करके ऐसी नारियों को समाज में अधिकाधिक परिष्कृत बनाया जाए और परंपरा से प्राप्त आदर्शों की प्रतिष्ठा बढ़ाई जाए। नारी के उत्कर्ष में समाज का उत्कर्ष निहित है, सच्ची गृहलक्ष्मियाँ कुटुंब की शोभा और राष्ट्र की शक्ति हैं।''धार्मिक एवं सच्चरित्र नारी कुटुंब की शोभा है' से।
9. ''वह जो कुछ नया करने जा रही है, उसके लिए समाज की स्वीकृति चाहती है। वह उस नई समाज-व्यवस्था को गढ़ने के लिए व्याकुल है जो स्त्री की महत्त्वाकांक्षा का विरोधी न हो। स्त्री की वैयक्तिकता समाज की स्वीकृति चाहकर समाज की प्रधानता को स्वीकार कर लेती है।''महिलाओं की लिखी कहानियाँ' ('कल्पना' से)



10. 'महिलाओं की लिखीं कहानियाँ'('कल्पलता' से)
11. ''मुझमें पुरुष की अपेक्षा प्रकृति की अभिव्यक्ति की मात्रा अधिक है, इसलिए मैं स्त्री हूँ। तुझमें प्रकृति की अपेक्षा पुरुष की अभिव्यक्ति अधिक है, इसलिए तू पुरुष है।''बाण के प्रति महामाया का कथन (षष्ठ उच्छ्वास)
12. ''यद्यपि तुझमें तेरे ही भीतर के प्रकृति-तत्व की अपेक्षा पुरुष तत्त्व अधिक है; पर वह पुरुष-तत्व मेरे भीतर के पुरुष-तत्व की अपेक्षा अधिक नहीं है। मैं तुझसे अधिक निःसंग, अधिक निर्द्वंद्व और अधिक मुक्त हूँ। मैं अपने भीतर की अधिक मात्रा वाली प्रकृति को अपने ही भीतर वाले पुरुष-तत्व से अभिभूत नहीं कर सकती।''बाण के प्रति महामाया का कथन (षष्ठ उच्छ्वास)।
13. ''उनसे गलती ये हो जाती है कि वे आजकल के हमारे स्पंदनहीन, गतिरहित समाज को भारतीय समाज का शाश्वत रूप समझते हैं और उसी की भित्ति पर से अपने आदर्शों की दीवार खड़ी कर उस पर से चिल्ला उठते हैंयही भारतीय सभ्यता है, यही भारतीय संस्कृति है। इससे परे जो कुछ है, वह मिथ्या है, अपवित्र है, जघन्य है, नारकीय है।''रामवृक्ष बेनीपुरी ('सतीत्व का भारतीय आदर्श' लेख से)।
14. ''पहली बार जब वह मेरे पास आई थी, उस समय उसकी अवस्था कठिनाई से सोलह वर्ष की होगी। वह बहुत डरी हुई मालूम हो रही थी।...इसी सुकुमार अवस्था में न जाने वह कौन-सा मर्मन्तुद दुःख था जिसने इस कच्ची बालिका को ऐसा साहसिक कार्य करने को उद्बुद्ध किया। उस दिन मैंने पहली बार अनुभव किया कि मनुष्य के सामाजिक संबंधों की जड़ में कहीं बहुत बड़ा दोष रह गया है। वह दोष क्या है? मैं बहुत सोचकर भी उसे नहीं समझ सका।''सप्तदश उच्छ्वास, 'बाणभट्ट की आत्मकथा'।

14अ. ''स्त्री शरीर महामाया का साक्षात् पार्थिव विग्रह है। पूर्ण शरणागति इसीलिए सीधे नहीं हो पाई। महामाया का सीमावपु बराबर बाधा देता रहता है। इसीलिए, स्त्री को एक माध्यम खोजना पड़ता है। पातिव्रत धर्म और कुछ नहीं, केवल पूर्ण शरणागति का दृढ़ सोपान है।''विष्णुप्रिया का नाटीमाता से कथन ('चारुचंद्रलेख', पृ. 146)
''कुंठा समाप्त होने के अर्थ यही है कि...भगवान् के समक्ष स्वयं को समग्रतः अनवगुंठित रखें और पति को जो परमेश्वर कहा जाता है, उसका स्पष्ट अर्थ यही है कि नारी को यह सुविधा प्राप्त है कि वह परिपूर्ण आत्म-समर्पण का साधन अनायास पा जाती है।''नाटी माता का कथन ('चारुचंद्रलेख', पृ. 169-170)

15. 'स्त्री-शक्ति' (विनोबा)।

16. ''भट्ट, इस छोटी गृहस्थी में तुम्हीं श्रेष्ठ व्यक्ति हो। तुम पुरुष हो, तुम ब्राह्मण हो, तुम पंडित हो, तुम देवता हो। तुम्हें भोजन कराए बिना भट्टिनी अन्न ग्रहण कर सकेंगी भला!''बाणभट्ट की आत्मकथा', पंचम उच्छ्वास।
17. 'बाणभट्ट की आत्मकथा', बीसवाँ उच्छ्वास। 'चतुर्दश उच्छ्वास' में सुचरिता की प्रशंसा में बाण यहाँ तक कह डालता है''तुम सतीत्व की मर्यादा हो, पातिव्रत्य की काष्ठा हो, स्त्रीधर्म का अलंकार हो।''
18. 'बाणभट्ट की आत्मकथा', ग्यारहवाँ उच्छ्वास।
19. 'चंद्रगुप्त' नाटक के गीत 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' में आया पद।
20. 'जागो फिर एक बार' कविता में आया पद।
21. ''अमृत के पुत्रो, ...न्याय के लिए प्राण देना सीखो, सत्य के लिए प्राण देना सीखो, धर्म के लिए प्राण देना सीखो। अमृत के पुत्रो, मृत्यु का भय माया है।. ..दुर्द्धर्ष म्लेच्छवाहिनी का सामना राजपुत्रों की वेतनभोगी सेना नहीं कर सकेगी। क्या ब्राह्मण और क्या चांडाल, सबको अपनी बहू-बेटियों की मान-मर्यादा के लिए तैयार होना होगा।...धर्म के लिए प्राण देना किसी जाति का पेशा नहीं है, वह मनुष्यमात्र का उत्तम लक्ष्य है।'' (चतुर्दश उच्छ्वास)।
22. ''आर्यावर्त्त के तरुणो, जीना सीखो, मरना सीखो, इतिहास से सीखना सीखो। आर्यावर्त्त नाश के कगार पर खड़ा है। जवानो, प्रत्यन्त दस्यु आ रहे हैं।...वह देखो, माताएँ तुम्हारी ओर ताक रही हैं...कुलवधुएँ आँखों में आँसू भर कर तुम्हारी ओर देख रही हैं। उनका सुहाग तुम्हारे हाथों में है।...अमृत के पुत्रो! मरण-यज्ञ की आहुति बनो। माताओं के लिए, बहनों के लिए, कुल-ललनाओं के लिए प्राण देना सीखो।...कुलवधुओं का सुहाग तुम्हारे हाथ में है, बालिकाओं की लाज तुम्हारे हाथ में है, वृद्धों का मान तुम्हारे हाथ में हैयह है आर्यावर्त्त के तरुणों की दुरंगम वाहिनी।'' ('अष्टादश उच्छ्वास')।
23. ''हाय! अगर इन्होंने मुझे इतनी स्वतंत्रता न दी होती, तो मेरी दुनिया कुछ और होती।...यदि मेरे पति मुझे पीट देते, मेरी पसलियों को तोड़कर गृहधर्म के खूँटे में बाँध देते! (हाय बहन! मैं इसी दारुण साधना की बलि हो गई।. ..इसी अहंभाव ने मेरा सर्वनाश किया।'')तापसबाला का चंद्रलेखा के प्रति कथन। ('चारुचंद्रलेख', पृ. 113)।

23क. 'चारुचंद्रलेख', पृ. 171।

24. 'भारत : विकास की दिशाएँ' (अमर्त्य सेन)

24क. ''भट्टिनी की आँखों में आँसू देखता हूँ तो मेरा अंतस्तल विदीर्ण होने लगता है, अधरोष्ठ सूखने लगता है, मस्तक स्वेदार्द्र हो जाता है और श्वासप्रक्रिया विक्षुब्ध हो जाती है। मैं कितना अवश हूँ।''सप्तदश उच्छ्वास।

25. 'उपन्यासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : प्रेम व स्त्री दृष्टि के संदर्भ में'



('इंद्रप्रस्थ भारती', जनवरी-मार्च 2007)।

26. ''अभिनय ही तो कर रही हूँ। जो वास्तव है उसको दबाना और जो अवास्तव है, उसका आचरण करनायही तो अभिनय है। सारे जीवन यही अभिनय किया है।''निपुणिका का कथन ('अष्टादश उच्छ्वास)।
27. ''जिस प्रचंड दुर्वार शक्ति के इंगित मात्र से लज्जा का आजन्म-लालित बंधन इस प्रकार शिथिल हो जाता है, वह क्या पाप है?'' ('चतुर्दश उच्छ्वास)
28. ''इन राजाओं में लंपटता बढ़ गई है, इनके अंतःपुर निर्यातित वधुओं के क्रंदन से भरे हुए हैं।'' (अष्टादश उच्छ्वास)।
    ''इस उत्तरापथ में लाख-लाख निरीह बहुओं और बेटियों के अपहरण और विक्रय का व्यवसाय क्या नहीं चल रहा है?...कौन नहीं जानता कि इस घृणित व्यवसाय के प्रधान आश्रय सामंतों और राजाओं के अंतःपुर हैं? आप में से किसे नहीं मालूम कि महाराजाधिराज की चामर-धारिणियाँ और करंक वाहिनियाँ इसी प्रकार भगाई हुई और खरीदी हुई कन्याएँ हैं?'' (चतुर्दश उच्छ्वास)
29. ''मैं नगर के विडंब-रसिकों का छंदानुरोध नहीं कर सकी हूँ, इसलिए उन लोगों ने मेरे विषय में बहुत-सा अपवाद फैला रखा है।'' ('चतुर्दश उच्छ्वास)
30. ''सारे जीवन मैंने स्त्री-शरीर को किसी अज्ञात देवता का मंदिर समझा है।''बाण का कथन (द्वितीय उच्छ्वास)
    ''आजीवन उसने नारी देह को पवित्र देवप्रतिमा समझा है। वह जहाँ भी हो और जिस अवस्था में भी हो, सम्मान और श्रद्धा की वस्तु है।''द्वादश उच्छ्वास'।
31. ''निर्दय, तुमने बहुत बार बताया था कि तुम नारी-देह को देवमंदिर के समान पवित्र मानते हो; पर एक बार भी तुमने समझा होता कि यह मंदिर हाड़-मांस का है, ईंट-चूने का नहीं!''निउनिया का बाण के प्रति कथन ('द्वितीय उच्छ्वास')।
32. ''कीचड़ में धँसे हुए उस मंदिर का उद्धार करना होगा।...तुम न आते तो भी मुझे तो यह करना ही था।'' (निउनिया का कथन, द्वितीय उच्छ्वास)।
33. ''मैंने एक भट्टिनी का उद्धार किया है सही, पर मुझे क्या मालूम कि इस अंतःपुर में और कितनी भट्टिनियाँ हैं। और ऐसे अंतःपुरों की संख्या यहीं तो समाप्त नहीं हो जाती।''
34. ''स्थाण्वीश्वर! यहीं वह भंड राजकुल है, जहाँ भट्टिनी जैसी सैकड़ों ललनाएँ मनुष्य की पशुता को भेंट चढ़ाई जाती हैं।'सप्तदश उच्छ्वास'

34क. ''गणराज्य जब थे तब थे, उन दिनों गणिका सारे गण की चुनी हुई रानी होती थी; परंतु तब भी वह गण की साझे की संपत्ति मानी जाती थी, अब तो वह क्रय योग्य दासी बन गई है। नाम वही चला आ रहा है, भावना बदल गई

है।''हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड 2, पृ. 192 ('पुनर्नवा')
''ये गणिकाएँ शास्त्र की जानकार और कवित्व की रसिका हुआ करती थीं।... गणिका वस्तुतः समस्त गण (या राष्ट्र) की संपत्ति मानी जाती थी...वह समस्त समाज के गर्व की वस्तु समझी जाती थी।...प्राचीनकाल में गणिका यथेष्ट सम्माननीया मानी जाती थी। वैशाली की अंबपालिका गणिका समस्त नगरी के अभिमान की वस्तु थी।''प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद'।

35. 'चारुचंद्रलेख', पृ. 112।
36. ''जिन माता-पिता की कन्या कुमारी-पूजन में साधन बनती है, उनके सात पुश्त नीचे और सात पुश्त ऊपर कैलासवास का गौरव पाते हैं।''चारुचंद्रलेख, पृ. 114।
37. चारुचंद्रलेख, पृ. 109।
38. 'बाणभट्ट की आत्मकथा', षष्ठ उच्छ्वास।
39. ''मेरा कौन सा ऐसा पाप-चरित्र है जिसके कारण मैं निदारुण दुख की भट्टी में आजीवन जलती रही? क्या स्त्री होना ही मेरे सारे अनर्थों की जड़ नहीं है? तुम इस छोटे से सत्य के साथ राष्ट्र जीवन के बड़े सत्य को अविरोधी पा रहे हो? क्या बृहत्तर सत्य के नाम पर मिथ्या का तांडव नहीं चल रहा है?''

39अ. ग्यारहवाँ उच्छ्वास।

39क. पंचदश उच्छ्वास।

40. ''मेरी इच्छा है कि एक बार तुम सम्राटों की भृकुटियों की उपेक्षा करके इस महासत्य को ऊँचे सिंहासनों तक पहुँचा दो।...बड़ा दुःख है आर्य, इसी विराट् दैन्य के अंतःस्पंदनहीन ढूह पर साम्राज्य की नयनहारी रथयात्रा चली जा रही है। मैं इस ढूह की नगण्य कणिका मात्र हूँ। मुझे इस योग्य बना दो कि आप अपनी अग्नि से धधक कर समूचे जंजाल को भस्म कर दूँ। मैं तुम्हारा करावलंब चाहती हूँ...मुझे तेज की चिनगारी दो आर्य!''

40क. ''महामाया भैरवी ने यह क्या अनर्थ किया सखे!''बाण का धावक से कथन (चतुर्दश उच्छ्वास)

40ख. ''आज महामाया ने जो कुछ कहा, वह वर्षों की संचित कटुता का मूर्त्त प्रतीक था।'' (चतुर्दश उच्छ्वास)।

40ग. चतुर्दश उच्छ्वास।

40घ. ''किस अपराध पर कान्यकुब्ज का लंपट शरण्य राजा मुझे फाँसी देना चाहता है?...मेरी जैसी असहाय अबलाओं को दंड देने वाला उसका कठोर भुजदंड क्या म्लेच्छवाहिनी से अपनी प्रजाओं को नहीं बचा सकता?...आर्यावर्त्त के समाज के मूल में घुन लगा गया है, उसे महानाश से कोई नहीं बचा सकता।'' (षोडश उच्छ्वास)।



41. बाणभट्ट की आत्मकथा, अष्टादश उच्छ्वास।

41क. 'प्राचीन भारत के रईस' शीर्षक से ह.प्र. द्विवेदी का एक निबंध है, 'पुनश्च' संग्रह में।

42. 'बाणभट्ट की आत्मकथा', सप्तम उच्छ्वास।
43. ''बड़ी फुर्ती से निपुणिका के शव को शमशान तक पहुँचा दिया। मुखाग्नि की क्रिया मैंने ही की।...हम लोग जब चलने को हुए तो क्या देखते हैं कि चारुस्मिता एक श्वेत साड़ी पहने हाथ में पुष्पस्तवक लिये उपस्थित है। उस सादे वेश में उसका सौंदर्य और भी निखर गया था। मेघमाला जल से भरी हुई भी मनोहर लगती है और जल से रिक्त भी।''बीसवाँ उच्छ्वास।
44. ''सारा ह्रद इतना सुगंधित था कि रह-रहकर भ्रम होता था कि कहीं स्नानावतीर्ण वनदेवियों के केशलग्न पुष्पों की सुगंधि से ही तो इतना आमोद नहीं फैल गया है।''सप्तदश उच्छ्वास।
45. ''नारी के कोमल कंठ में कैसी अद्‌भुत शक्ति है, यह ओजपूर्ण संगीत भी इस कोमल कंठ से निकलकर सौ गुणा प्रभावोत्पादक हो गया है...आर्यावर्त्त का नौजवान आज कृतार्थ है, देवमंदिर और शस्यक्षेत्र निरापद हैं, स्त्रियाँ और बालक आश्वस्त हैंआज जगत् का अशेष तारुण्य आलोड़ित हो गया है।''अष्टादश उच्छ्वास।
46. त्रयोदश उच्छ्वास।
47. वही।
48. ''नारी-हीन तपस्या संसार की भद्दी भूल है। यह धर्म-कर्म का विशाल आयोजन, सैन्य-संगठन और राज्य-व्यवस्थापन सब फेन-बुदबुद की भाँति विलुप्त हो जाएँगे; क्योंकि नारी का इसमें सहयोग नहीं है। यह सारा ठाट-बाट संसार में केवल अशांति पैदा करेगा।''ग्यारहवाँ उच्छ्वास।
49. ''राज्य-गठन, सैन्य-संगठन, मठ-स्थापन और निर्जन-वास पुरुष की समताहीन, मर्यादाहीन, शृंखलाहीन महत्त्वाकांक्षा के परिणाम हैं। इनको नियंत्रित कर सकने की एकमात्र शक्ति नारी है।...इतिहास साक्षी है कि इस महिमामयी शक्ति की उपेक्षा करने वाले साम्राज्य नष्ट हो गए हैं, मठ विध्वस्त हो गए हैं, ज्ञान और वैराग्य के जंजाल फेन-बुदबुद की भाँति क्षणभर में विलुप्त हो गए हैं।''अष्टम उच्छ्वास'।

49क. षोडश उच्छ्वास।

50. सप्तम उच्छ्वास।

50क. ''शिव ने आगे चलकर बताया है कि नारी के समान न सुख है, न गति, न भाग्य है, न राज्य, न तीर्थ, न योग, न जप, न मंत्र और न धन। वही इस संसार की सर्वाधिक पूजनीय देवता है।...इसी से भारतवर्ष की सुकुमार

साधना का सर्वोत्तम अंतःपुर को केंद्र करके प्रकाशित हुआ था। वहीं से भारतवर्ष का समस्त माधुर्य और समस्त मृदुत्व उद्‌भासित हुआ है।''प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद'।

51. ''अरे गुरु, यह उत्सव क्या तुम्हारी भट्टिनी के लिए हो रहा है? यह तो कान्यकुब्ज की विद्रोही जनता को राजशक्ति की ओर से मदिरा पिलाई जा रही है।...चारुस्मिता और विद्‌युदपांगा का नृत्य जो भी हो और जैसा भी हो, यहाँ धूम मच जाएगी। मेघातिथि और वसुभूति सिर पटककर मर जाएँगे, कान्यकुब्ज की जनता महाराजाधिराज का यश गाएगी।''अष्टादश उच्छ्‌वास।
52. 'प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद' में स्त्री को संसार का सर्वश्रेष्ठ रत्न उद्‌घोषित करते उनके द्वारा दिए गए वाराहमिहिर के उद्धरण द्रष्टव्य हैं''वाराहमिहिर ने दृढ़ता के साथ कहा है कि ब्रह्मा ने स्त्री के सिवा ऐसा दूसरा बहुमूल्य रत्न संसार में नहीं बनाया है जो श्रुत, दृष्ट, स्पृष्ट और स्मृत होते ही आह्लाद उत्पन्न कर सके। स्त्री के कारण ही घर में अर्थ है, धर्म है, पुत्रसुख है।...इसलिए उन लोगों को सदैव स्त्री का सम्मान करना चाहिए, जिनके लिए मान ही धन है।...स्त्रियाँ पुरुषों के सुख का कारण हैं। दांपत्यगत व्रत के अतिक्रमण करने में पुरुष को भी दोष होता है और स्त्री को भी, परंतु स्त्रियाँ उस व्रत का जिस संयम और निष्ठा के साथ पालन करती हैं, पुरुष वैसा नहीं करते।...वाराहमिहिर की इस महत्त्वपूर्ण घोषणा से प्राचीन भारत के सद्‌गृहस्थों का मनोभाव प्रकट होता है। इस देश में स्त्रियों का सम्मान बहुत उत्तम कोटि का रहा है।''
53. बाणभट्ट की आत्मकथा, षष्ठ उच्छ्‌वास।
54. ''उनकी शक्ति उनकी प्रतीक्षा कर रही है। वाराणसी के जनपद में उनका जन्म है, उनकी वह शक्ति भी वहीं कहीं होगी।''महामाया का बाण के प्रति कथन ('षष्ठ उच्छ्‌वास')
55. ''पुरुष स्त्री को शक्ति समझकर ही पूर्ण हो सकता है; पर स्त्री स्त्री को शक्ति समझकर अधूरी रह जाती है।''संदर्भ, उपर्युक्त

55क. चतुर्दश उच्छ्‌वास।

56. ''मैं सारे जीवन नारी की उपासना करता रहा हूँ। मेरी साधना अपूर्ण रह गई है। तुम विशुद्ध नारी बनकर मेरा उद्धार करोविशुद्ध नारीत्रिपुर भैरवी।''पंचदश उच्छ्‌वास
57. ''क्या सचमुच जनता के दुःख को तुमने अपना दुःख समझ लिया है? तुमने अमृत के पुत्रों को संबोधन किया है, क्या तुम स्वयं अमृत की पुत्री बन सकी हो?''

''जिस दिन तुम स्वयं उनसे (त्रिपुर भैरवी से) अभिन्न हो जाओगी, उसी दिन इस लीला को चाहे जिधर मोड़ सकती हो।''पंचदश उच्छ्‌वास।

58. ''तुम्हारी बीवियाँ (गोया) तुम्हारी खेतियाँ हैं। अपनी खेती में जिस तरह चाहो, जाओ।''कुरानशरीफ (सूरतुल बकरति, आयत 223)
59. ''आर्य वाभ्रव्य, महाराज से विवाह होने के पहले मेरा वाग्दान हो चुका था। मेरे पिता कुलूतराज नहीं हैं। मैं अपहृता बालिका हूँ। छलपूर्वक मेरा विवाह धूर्त्तों ने महाराज से करा दिया था।...जिस युवक को मेरे पिता ने मेरा वर चुना था, वह निराश होकर संन्यासी हो गया। वह विन्ध्य-मेखला के धूम्रगिरि में न जाने क्या तप कर रहा है। आर्य, मुझे बराबर उसकी पुकार सुनाई देती है।''महामाया का कथन (उन्नीसवाँ उच्छ्‌वास)।
60. 'उपन्यासकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : प्रेम एवं स्त्री-दृष्टि के संदर्भ में' ('इंद्रप्रस्थ भारती', जनवरी-मार्च 2007, पृ. 46)।
61. अष्टम उच्छ्‌वास।
62. वही।
63. सप्तम उच्छ्‌वास।
64. अष्टम उच्छ्‌वास।

64क. सप्तम उच्छ्‌वास।

65. ''उनमें सामाजिक ऊँच-नीच का ऐसा भेद नहीं है। जहाँ भारतवर्ष के समाज में एक सहस्र स्तर हैं, वहाँ उनके समाज में कठिनाई से दो-तीन होंगे।...उनकी स्त्रियों में रानी से लेकर परिचारिका तक के और गणिका से लेकर वार-विलासिनी तक के सैकड़ों भेद नहीं है। वे सब रानी हैं, सब परिचारिका हैं।''भट्टिनी का कथन ('अष्टादश उच्छ्‌वास')
66. ''कुलवधुओं और बालिकाओं का धर्षण ही उनका विलास है।''अष्टादश उच्छ्‌वास
67. ''म्लेच्छों में शायद शास्त्र-चर्चा का अभाव है, धर्म साधना की कमी है, दरिद्रता का वास है। ये बातें अगर सुधार दी जाएँ तो वहाँ स्वर्ग बना ही हुआ है। यहाँ स्वर्ग बनना कठिन है। यहाँ स्वार्थों का संघात है, लोभ-मोह का प्राबल्य है।''बाणभट्ट का कथन (अष्टादश उच्छ्‌वास)
68. ''क्यों भट्ट, ऐसा क्या नहीं हो सकता कि ऊँची भारतीय साधना उन तक पहुँचाई जा सके और निकृष्ट सामाजिक जटिलता यहाँ से हटाई जा सके। जब तक ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो जातीं, तब तक शाश्वत शांति असंभव है।''भट्टिनी का कथन (अष्टादश उच्छ्‌वास)

68क. ''तुम्हारी प्रतिभा हिम-निर्झरिणी की भाँति शीतल और धवल है, तुम्हारे मुख में सरस्वती का निवास है। तुम इस म्लेच्छ कही जाने वाली निर्दय जाति के चित्त में समवेदना का संचार कर सकते हो, उन्हें स्त्रियों का सम्मान करना

सिखा सकते हो, बालकों को प्यार करना सिखा सकते हो।...तुम्हारी वाणी मेरी जैसी अबलाओं में भी आत्मशक्ति का संचार करती है। तुम्हारी छाया पाकर अबलाएँ भी इस देश की सामाजिक जटिलता को कुछ शिथिल कर सकती हैं।''भट्टिनी का बाण के प्रति कथन (अष्टादश उच्छ्वास)।

69. 'शबनम की जंजीर' कविता (रामधारी सिंह 'दिनकर')
70. ''परंतु म्लेच्छ कहे जाने वालों का हृदय अभी परिवर्तित नहीं हुआ है। तुम मेरे साथ चलकर उनमें काम करने को तैयार हो जाओ।''भट्टिनी का बाण के प्रति कथन (बीसवाँ उच्छ्वास)।
71. अष्टम उच्छ्वास।

71क. ''भाइयो, फिर प्रत्यंत दस्यु आ रहे हैं।'' (ग्यारहवाँ उच्छ्वास)

71ख. ''विधाता ने विघ्न के रूप में ही तो सुंदरियों की सृष्टि की थी।...पुरुषों के समस्त वैराग्य के आयोजन, तपस्या के विशाल मठ, मुक्ति-साधना के अतुलनीय आश्रय नारी की एक बंकिम दृष्टि में ही तो ठह गए हैं। क्या यह दृष्टि सत्यानाशिनी नहीं है?'' (ग्यारहवाँ उच्छ्वास)

72. ''बाबा ने जो कुछ कहा है, वह पुरुष का सत्य है। स्त्री का सत्य ठीक वैसा ही नहीं है।''महामाया का कथन (षष्ठ उच्छ्वास)
73. उन्नीसवाँ उच्छ्वास।
74. वही।
75. वही।
76. वही।
77. वही।
78. वही।

78क. ''पुरुष का जन्म पाया है, आलस छोड़कर काम कर। स्त्रियाँ चाहें भी तो आलस्यहीन होकर कहाँ काम कर सकती हैं? मेरे जीवन के वे दिन लज्जा और संकोच में ही निकल गए, जब काम करने की ताकत थी।...पुरुष होकर इतना आलसी होना ठीक नहीं। तू समझता है, यूरोप की स्त्रियाँ सब कुछ कर सकती हैं? गलत बात है। हम भी पराधीन हैं। समाज की पराधीनता जरूर कम है, पर प्रकृति की पराधीनता तो हटाई नहीं जा सकती।''(कथामुख, 'बाणभट्ट की आत्मकथा')

79. ''जब भी किसी औरत को मरते देखती हूँ, तो मुक्ति का आभास होता है।''सुदर्शन प्रियदर्शिनी
80. ''हाय, वह कौन सी दुर्वार मनोवेदना थी, जिसने महामाया को रानी से संन्यासिनी बना दिया।'' (चतुर्दश उच्छ्वास)
81. ''पाषण्ड है वह ढोंगी, जो माता से बढ़कर अपने गुरु को मानता है। तू मेरा है, मेरे रक्त-मांस का टुकड़ा है, दूसरा कौन तेरा गुरु है?

''अरे ओ मूढ़, रटी हुई बोली बोल रहा है तू! भंड है वह धर्माचार, जो अपनी माता को पहचानने में लज्जा अनुभव करता है। इस दुःखमय संसार को और भी दुःखमय बनाकर ही क्या तेरा सुख का राजमार्ग तैयार होगा? स्वार्थी है तेरा मार्ग, धिक्कार है तेरे पौरुष को!''

''बेटा, तू मुझ अभागी को रोती-कलपती छोड़ कौन सा धर्म कमा रहा है? यह देख, यह तेरी ब्याहता बहू है। अभागे, स्वर्ग में ऐसी कौन-सी अप्सराएँ मिलती होंगी, जिनके लिए तू इस मणि-कांचन प्रतिमा को छोड़कर तपस्या कर रहा है?'' (चतुर्दश उच्छ्वास)

82. ''साधारणतः लोग जिस उचित-अनुचित के बँधे रास्ते से सोचते हैं, उससे मैं नहीं सोचता। मैं अपनी बुद्धि से अनुचित-उचित की विवेचना करता हूँ।''द्वितीय उच्छ्वास।
83. 'षष्ठ उच्छ्वास' में अघोरभैरव का बाण से कथन।
84. वही।
85. चतुर्दश उच्छ्वास।
86. ''निरंतर परिवर्तमान बाह्य आचरणों के भीतर एक परम मंगलमय देवता स्तब्ध है। उस देवता को नहीं देखने वाले ही यौवन को मत्त गजराज कहा करते हैं, अनुराग को मानस-अंधकार बताया करते हैं, सहज भाव को बंकिम लीला का नाम दिया करते हैं।''
87. ''यदि निरंतर शास्त्रसम्मत व्यवस्थाओं का परीक्षण न किया जाए, तो एक दिन ऐसा आ सकता है कि सारा समाज गतिहीन होकर अपनी बनाई व्यवस्थाओं की बेड़ी में आप ही कस जाएगा?'' ('पुनर्नवा')
88. षष्ठ उच्छ्वास।

# नारीवादी अर्थशास्त्र के प्रयोक्ता प्रो. अमर्त्य सेन

अर्थशास्त्र को जनकल्याण की दिशा में क्रांतिकारी ढंग से मोड़ने वाले, अंतरराष्ट्रीय स्तर के बहुमुखी मनीषी प्रो. अमर्त्य सेन ने बहुत ढंग से यह स्थापना दी है कि स्त्री को बिना सशक्त किए 'विकास' की गति एक सीमा तक ही पहुँच सकती है। फिर, उसके आगे कोई राह नहीं बचती। अर्थशास्त्र में नोबेल पुरस्कार से नवाजे गए डॉ. सेन ने यह प्रतिपादित किया है कि 'विकास' का लक्ष्य या अभिलक्षण 'व्यक्ति-स्वातंत्र्य' है और कहना नहीं होगा कि 'व्यक्ति' का अर्थ केवल 'पुरुष' समझना उन्हें कतई रास नहीं आता। ये बातें उनकी विख्यात पुस्तकें'आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य', 'भारत : विकास की दिशाएँ', 'भारतीय राज्यों का विकास', 'गरीबी और अकाल', 'भारतीय अर्थतंत्र, इतिहास और संस्कृति' आदि पढ़कर महसूस की जा सकती हैं।

डॉ. सेन ने अर्थशास्त्र को जनकल्याणकारी बनाने का जो लंबा रास्ता तय किया है, उसमें 'स्त्री-दृष्टि' ने उन्हें खासी मदद की है। 1943 ई. में बंगाल में पड़े भीषण अकाल को नौवर्षीय बालक अमर्त्य ने बाखूबी देखा था। बाद में, उसके विश्लेषण से उन्हें यह पता चला कि मर वे ही रहे थे, जिनके पास अनाज खरीदकर खाने के लिए पैसे न थे। इन गरीबों में सर्वाधिक संख्या स्त्रियों की थी। डॉ. सेन की स्त्री-दृष्टि के मूल में ऐसे ही अनुभवों को खोजा जा सकता है। परंतु, बात इतनी ही नहीं है। उन्होंने नारीवादी आंदोलनों व विमर्शों से जीवित संपर्क बनाए रखा है। 1792 में प्रकाशित, मैरी वोलस्टोनक्राफ्ट की पुस्तक 'ए विंडीकेशन ऑफ दि राइट्स ऑफ दि वुमेन' (नारी-अधिकारों का औचित्य-साधन) ने उन्हें खासा प्रभावित किया। सत्तर के दशक में जब उन्होंने जेंडर-वैषम्य पर कार्य आरंभ किया, तो उस समय बहुधा प्रयुक्त होनेवाली पुस्तक 'हैंडबुक ऑफ ह्यूमैन न्यूट्रीशन रिक्वायरमेंट' भी पढ़ी। पुस्तक 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' की विशेषज्ञ समितियों के अध्ययनों के आधार पर बनी थी। उसमें स्त्रियों को घरेलू कार्य मात्र तक सीमित बतलाकर कहा गया था कि चूँकि वे हल्के काम करती हैं, अतः उन्हें कम पोषण ही पर्याप्त है। डॉ. सेन ने उस विचार से घोर असहमति जताई है तथा कहा कि वह उस पितृसत्तावादी विशेषज्ञ समिति की देन है, जिसके सदस्यों को घरेलू काम करने का कोई अनुभव नहीं रहा।[1]

स्त्री-पुरुष विषमता को भारत की सबसे बड़ी व गंभीर सामाजिक विफलता



मानने वाले अर्थशास्त्री डॉ. अमर्त्य सेन की स्पष्ट निष्पत्ति है कि स्त्री-मुक्ति और स्त्री-सशक्तीकरण केवल नारीवादी मुद्दा नहीं है, बल्कि वह सामाजिक प्रगति का एक अविभाज्य अंग है। फिर, स्त्री-पुरुष-विषमता केवल एक सामाजिक विफलता नहीं है, बल्कि अन्य अनेक प्रकार की सामाजिक विफलताओं की जननी भी है। फिर, चूँकि हर सामाजिक विफलता की विकास या अर्थव्यवस्था तक की विफलता में भूमिका अवश्य होती है, इसलिए स्त्री-हीनता नामक सामाजिक दुर्घटना भी विकास की समुचित प्रक्रिया को फलीभूत नहीं होने देती।

उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष-विषमता किसी एक व्याधि का नाम नहीं है, बल्कि वह अनेक व्याधियों का सम्मिश्रण है। उसके कई स्वरूप व चेहरे हैं तथा वे चेहरे परस्पर संवाद करते हैंकदाचित् एक दूसरे को प्रोत्साहित भी करते हैं। स्त्री की दो प्रकार की अभावग्रस्तताएँ न केवल सहवर्ती होती हैं, बल्कि उनमें परस्पर कारण-प्रभाव संबंध भी हो सकते हैं। नारी-पुरुष वैषम्य की अंगीभूत कई विषमताएँ कई बार परस्पर असंबद्ध भी हो सकती हैं। किसी एक पटल पर विषमता का सर्वथा अभाव हो सकता है तो किसी अन्य दृष्टि से भीषण विषमता भी रह सकती है। जैसेजापान में स्त्री का पोषण, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि जेंडर-भेद से मुक्त हैं, परंतु प्रशासन या व्यवसाय-प्रबंधन में पुरुषों का दबदबा है। इसी तरह भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका आदि में तमाम तरह की अभाव-ग्रस्तताओं के बावजूद स्त्रियाँ उच्च पदों पर पहुँची हैं, परंतु संयुक्त राज्य अमेरिका में तमाम तरह की सामाजिक विषमताओं से मुक्त रहकर भी स्त्री अब तक प्रायः उच्च पदों से वंचित रही है।[2]

डॉ. सेन ने स्त्री-पुरुष विषमता के स्वरूप-निर्धारण की प्रक्रिया को छह वर्गों में बाँटा है

(1) जीवन-धारण की विषमता (यानी, जन्म बाद स्त्री की हत्या या उपेक्षा-मौत)।
(2) जन्म-दर या उत्पत्ति क्रम की विषमता (यानी, जन्म-पूर्व कन्याभ्रूणों का समापन)।
(3) सुविधा की उपलब्धि में विषमता।
(4) स्वामित्व-विषमता।
(5) पारिवारिक दायित्वों और हितलाभों में विषमतापूर्ण भागीदारी।
(6) पारिवारिक हिंसा और शारीरिक उत्पीड़न[3]

उनके मत से स्त्री-पुरुष विषमता से पैदा हुई स्त्री की शारीरिक व मानसिक हीनता कई सामाजिक दुर्घटनाओं को उत्प्रेरित करती है, जिनमें बाल-मृत्यु (विशेषतः बालिकाओं की जीवन-संभाव्यता का ह्रास), जनन-दर-वृद्धि (जनसंख्या वृद्धि), लिंगानुपात (सेक्स रेशियो) का ह्रास आदि प्रमुख हैं। इसके साथ, डॉ. सेन ने इंग्लैंड के डेविड बार्कर की थियोरी के आधार पर एक सिद्धांत पेश किया है कि स्त्री पर डाला गया अभाव अंततः पुरुषों पर हृदयरोगों के रूप में घटित होता है। कारणों की क्रमिक

शृंखला इस प्रकार है

नारी का सामान्य कुपोषण > मातृत्वकालीन कुपोषण > गर्भ-विकास में त्रुटि > अल्प वजनी बच्चों का जन्म > अधिक बाल-कुपोषण > वयस्क जीवन में अनेक हृदय-रोगों की निश्चित आशंका।

चूँकि चिकित्सकीय निष्पत्ति है कि हृदय-रोगों का असर पुरुषों पर अधिक होता है, इसलिए कहा जा सकता है कि नारी पर (पुरुषों द्वारा) डाला गया अभाव अंततः पुरुषों पर ही गाज गिराता है।[4]

नारी-आंदोलनों से भलीभाँति परिचित डॉ. अमर्त्य सेन देखते हैं कि शुरुआत में उनमें नारी के प्रति कुछ न्यायप्रद व्यवहारों की माँग की जाती थी। पर, विकास-क्रम से गुजरकर, आज नारीवादी आंदोलनों का शिखर-एजेंडा हो गया हैसमाज में, राजनीति और अर्थव्यवस्था में नीति-निर्माण में नारी की व्यापक भूमिका की प्रतिष्ठा। प्रथम दृष्टिबोध को वे 'योगक्षेमवादी' कहते हैं और दूसरे को नारी की 'बृहत्तर भूमिका' कहते हैं। साथ ही, यह भी मानते हैं कि दृष्टिबोध का यह परिवर्तन पुराने का नकार नहीं, बल्कि संवर्द्धन है।[5] 'बृहत्तर भूमिका' की परिभाषा देते हुए उनका कहना है कि उन लक्ष्यों-ध्येयों की संप्राप्ति के प्रयास में वह निहित है, जिन्हें कोई व्यक्ति मूल्यवान् संपत्ति मानकर पाना चाहता है, भले ही उसके अपने कुशलक्षेम से उनका सीधे कोई नाता न हो। सामान्य नियम यही है कि इनके प्रति प्रयत्नशील व्यक्ति इस बात का हिसाब लगाकर ही प्रयास नहीं करते कि इनकी संपूर्ति से उन्हें किस सीमा तक व्यक्तिगत हित-लाभ होंगे। इन ध्येयों का वितान बहुत लंबा हो सकता हैस्वाधीनता-संघर्ष, अकाल/महामारी-निवारण, जाति-लिंगभेद का उच्छेदन, नीति-निर्माण आदि।[6] नारी की इन पुरानी व नयी भूमिकाओं की तुलना डॉ. सेन यूरोपीय साहित्य में विद्यमान रहे, क्रमशः 'कर्मपात्र' (The Patient) और 'अभिकर्त्ता' (The Agent) के विभाजन से करते हैं।[7] वे नारी की उस नई अभिवृत्ति को पहचानते हैं, जिसमें वह अपने कुशल-क्षेम को बढ़ाने वाली सुविधाओं को स्वीकार करने वाली, निष्क्रिय समूह मात्र बनी रहने को तैयार नहीं है; बल्कि वरीयताओं की समीक्षा, जीवन-मूल्यों का मूल्यांकन, नीतियाँ निर्धारित और विविध कार्यक्रमों को लागू करती हुई, सामाजिक परिवर्तनों की सक्रिय प्रवर्तक-संवर्द्धक बनना चाहती है। डॉ. सेन नारी की इस नवीन प्रवृत्ति यानी बृहत्तर भूमिका को लेकर काफी उत्साहित हैं'अब नारी किसी कल्याणकारी कृपादृष्टि की निष्क्रिय प्राय पात्री बने नहीं रहना चाहतीवह सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से विश्व के सभी नर-नारियों के भाग्य की नव-संसृष्टि में अपना योगदान करना चाहती है।''[8] तो, उनके उत्साह का कारण यह है कि बृहत्तर भूमिका में निरत होने से नारी न सिर्फ स्वयं असमानतापूर्ण व्यवहार सहने की बाध्यता से मुक्त होगी, बल्कि मुक्ति से उपलब्ध अवकाश एवं (शिक्षा, संपदाधिकार, श्रमिक सक्रियता आदि रूपों में) अर्जित शक्ति को सामाजिक जीवन के बहुआयामों को दुरुस्त करने में



लगाएगी। इस प्रकार स्त्री-मुक्ति मानव-मुक्ति का घटक बनकर उच्चतर अर्थ को प्राप्त होगी।

नारी के कुशलक्षेम से जुड़े अभावों-अन्यायों का निवारण बहुत जरूरी हैयह महसूसते हुए भी डॉ. सेन केवल उन्हीं पर नारी के केंद्रित रह जाने से घोर असहमत हैं, क्योंकि वैसा होने से 'नारी कर्मपात्र मात्र बनकर रह जाएगी', जिससे उसे बड़ा दीर्घकालिक घाटा होगा। फिर, समाज के संतुलित विकास, सार्थक बदलाव, सामाजिक स्वास्थ्य आदि की दृष्टि से भी बड़ा घाटा होगा। उन्होंने समस्त विश्व में विकास-संबंधी रचनाओं-कार्यक्रमों में स्त्री की बृहत्तर भूमिका की सर्वाधिक अवहेलना की बात पर दुःख प्रकट किया है। आँकड़ों की भाषा में उन्हें पता है कि नारी की सक्रिय भूमिका को संकुचित रखने के दुष्प्रभाव केवल नारी-जाति तक सीमित नहीं रहते, बल्कि मानव-मात्र को समान रूप से प्रभावित करते हैंबालक-बालिका या वयस्क पुरुष-स्त्री सबको (खासकर बालिकाओं को)। फिर, नारी की सक्रियता में बढ़ोतरी समाज के सामान्य कुशलक्षेम पर गहन सकारात्मक प्रभाव डालती हैबाल-अनुजीवन, स्त्री की जीवन-संभाव्यता बढ़ाने और जन्म-दर गिराने में खासकर। उन्होंने आर्थिक सर्वेक्षणों से यह बात सिद्ध की है कि केवल घरेलू कामों व प्रजनन की चक्की में पिसती नारी वाले देशों की अपेक्षा उन देशों में आर्थिक उत्पादन व निष्पादन के स्तर अधिक उच्च हो जाते हैं, जहाँ नारी ने सभी प्रकार के कार्यों में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया है।

स्त्री की बृहत्तर भूमिका का सामाजिक सुख-शांति में योगदान डॉ. सेन इस हद तक मानते हैं कि समाज में व्याप्त हिंसात्मक व आपराधिक गतिविधियाँ भी उससे नियंत्रित या परिसीमित होती हैं।[9] इस मान्यता के पीछे शायद उनका यह ऐतिहासिक अनुभव है कि हिंसा-अपराध पुरुष-वर्चस्वी व्यवस्था की देन हैं। परंतु, यहाँ बहुत सावधानी की जरूरत है, क्योंकि ऐसा मान लेने से 'स्त्रीत्व' व 'पुंसत्व' की क्रमशः कोमल व कठोर जैसी कोटियों की धारणा मजबूत होगी। इस अवधारणा ने सदियों से स्त्री के ऊपर पुरुष के शासन तथा स्त्री के शोषण-घरेलूकरण में अहम भूमिका निभाई है। दूसरी बात, स्त्री व पुरुष के बीच गुणों का इस प्रकार का कोटिकरण अधिकांश में अवैज्ञानिक हैं। 'स्त्री-स्वभाव' जैसी बात वैज्ञानिक नहीं, मनोवैज्ञानिक है और मनोविज्ञान परिस्थितिजन्य होता है। इसलिए स्त्री-मुक्ति का असली अर्थ तब घटित होगा, जब 'स्त्री-मनोविज्ञान' से नारियाँ मुक्त हों। शायद इसी से, डॉ. सेन 'स्त्री की व्यापक भूमिका में हिंसा का ह्रास' होने को एक सार्वकालिक सत्य के रूप में पेश नहीं करते। बस, एक संभावना सी रख देते हैं। वैसे यह तात्कालिक सत्य तो है ही कि जिन-जिन क्षेत्रों में नारियों की भागीदारी बढ़ी है, उन-उनका चरित्र अपेक्षाकृत अहिंसक हुआ है। बिहार के पंचायती राज-निकायों में महिलाओं के लिए पचास प्रतिशत आरक्षण ने पंचायत चुनावों में होने वाली हिंसा को थाम लिया है। शायद ऐसे ही अनुभवों से प्रेरित होकर 'वीरप्पा मोइली कमेटी' ने 'पुलिस-विभाग' का चरित्र

सुधारने के लिए उसमें 33 प्रतिशत सीटें महिलाओं के लिए सुरक्षित करने का सुझाव दिया है। स्त्री की बढ़ती भूमिका का प्रभाव यदि समाज में हिंसा के विपक्ष में अभी जाता दिख रहा है तो इसका कारण सदियों से चली आ रही पितृसत्तात्मक व्यवस्था है। उसने जब आत्मरक्षा हेतु भी स्त्री को बल-प्रयोग के अधिकार से वंचित कर रखा है, तो स्त्री आदतन अहिंसक नहीं बनेगी तो क्या बनेगी? डॉ. सेन नारी की बृहत्तर भूमिका को समाज के बहुमुखी कुशल-क्षेम के लिए उपयोगी मान रहे हैं, तो आधार-रूप में बहुत सारा हिस्सा स्त्री पर थोपी गई 'मातृमूर्ति' या 'नारीत्व' की छवि का भी होगा। तो क्या उनके इस प्रतिपादन का सार्वकालिक या दीर्घकालिक महत्त्व कुछ भी नहीं है? ऐसी भी बात नहीं लगती। यह सच है कि स्त्री में संतान-जनन (माँ बनने) की इच्छा प्राकृतिक नहीं, सिर्फ जनन-क्षमता प्राकृतिक है; पर गर्भाधान में पड़ जाने के बाद उसका मानसिक परिवर्तन संतति के प्रति स्नेह या दायित्व-बोध के रूप में होना प्राकृतिक तौर पर सिद्ध हैचाहे गर्भाधान उसकी स्वेच्छा/चयन का परिणाम हो या परवशता का नतीजा। यानी, 'माँ' रूपी दायित्व-बोध का कुछ अंश प्राकृतिक जरूर है (जैसे उस स्त्री को ही शिशु की आहार-सुविधा दूध प्राप्त है), भले उसका अधिकांश सांस्कृतिक हो। डॉ. सेन ने तर्क दिया है कि स्त्री की शिक्षा-रोजगारादि संशक्ति बाल-मृत्यु दर को कम करने में सहायक होती हैयह प्रभाव अनेक तरह से कार्य करता है, पर सबसे बड़ा और तात्कालिक स्वरूप तो यही है कि माँ अपनी संतान के कुशल-क्षेम के प्रति सदैव जागरूक रहती है।[10]

स्त्री-पुरुष-विषमता के निवारण-उपायों पर विचार करने डॉ. सेन ने बहुत मर्मभेदी दृष्टि का परिचय दिया है। वे अर्थशास्त्री होकर भी उस आम विचारधारा में नहीं बहते, जो आर्थिक विकास या (भौतिक साधनों के रूप में) आधुनिकीकरण हो जाने मात्र को मानव के कल्याण की गारंटी मान लेती है। ''विकास ही सबसे अच्छा गर्भ-निरोधक है''इस मिथक की असलियत से वे वाकिफ हैं, क्योंकि हरियाणा विकसित राज्य होकर भी जन्म-दर में राष्ट्रीय औसत (N.F.H.S. III के अनुसार दोनों का 2.7 प्रति स्त्री) के समान ही, यानी अत्युच्च ही बना हुआ है।[11] उन्होंने आँकड़ों से स्पष्ट किया कि जब भी जन्म-दर घटी, बाल-मृत्यु-दर कमी, कन्या की जीवन-संभाव्यता या स्त्री-पुरुष अनुपात (लिंगानुपात) बढ़ा, स्त्री-पुरुष-विषमता की प्रवृत्ति घटी, तो उसके पीछे का मुख्य जिम्मेवार कारण नारी की भूमिका का प्रसार (करने वाले कारकशिक्षा, श्रमशक्ति में भागीदारी, संपदाधिकार या रोजगार-प्राप्ति) है, न कि विकास या आधुनिकीकरण मात्र हो जाना। यदि विकास या आधुनिकीकरण हुआ, पर नारी का विकास या आधुनिकीकरण न हुआ (यानी, पुरुष ही की शिक्षा या संपन्नता में बढ़ोतरी हुई), तो उक्त सामाजिक समस्याओं का निवारण होना कोई जरूरी नहीं। यानी, 'विकास' होना काफी नहीं, विकास का चरित्र क्या है, वह किन लोगों के द्वारा, किन लोगों के लिए है, यह महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण देते हुए वे कहते हैंअन्य कारकों



का मान स्थिर रखते हुए यदि नारी-साक्षरता अनुपात को 1981 के भारतीय औसत 22% से बढ़ाकर 75% तक ले जाते हैं, तो 0-5 वर्षीय मृत्युदर 156 से घटकर 110 प्रति हजार हो सकती है। (1981 का वास्तविक स्तर 156 है।) पर, पुरुष-साक्षरता में उतनी ही वृद्धि (यानी 22% से 75%) करने पर बाल-मृत्यु दर 156 से घटकर 141 प्रति हजार तक ही पहुँच पाती है। इसी तरह निर्धनता-स्तर में 50% कमी लाएँ तो 0-5 वर्षीय मृत्यु-दर के आकलन में बहुत मामूली कमी (156 से 153) हो पाती है।[12]

डॉ. सेन ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से यह भी पाया कि बिना नारी को सशक्त किए आर्थिक प्रगति व आधुनिकीकरण आ जाए तो स्त्री पर पुरुष का वर्चस्व और स्त्री की पीड़ा बढ़ जाने का ही खतरा उत्पन्न होता है। पंजाब और हरियाणा में आर्थिक प्रगति व आधुनिकीकरण होने का प्रभाव बाल-मरणशीलता या जन्म-दर के ह्रास के रूप में तो दृष्टिगोचर नहीं हुआ, परंतु बालिकाओं की भ्रूण-हत्या में बढ़ोतरी में अवश्य प्रकट हुआ।[13] समृद्धि व सामाजिक रुतबा बढ़ने पर कई बार यह भी देखा गया है कि महिलाओं की जीवन-शैली पर अधिक प्रतिबंध लगाए जाते हैंयह दलित जातियों को देखकर समझा जा सकता है। अनुसूचित जातियों (S.C.) में स्त्री-पुरुष अनुपात (लिंगानुपात) में इधर के कई दशकों में भारी गिरावट का कारण उनकी आर्थिक समृद्धि की प्रक्रिया हो सकती है। डॉ. सेन ने पाया कि उच्च लिंगानुपात वाले जनपदों में गरीबी का स्तर भी प्रायः उच्च है। अर्थात्, उच्च गरीबी स्तर और उच्च नारी-संख्या में सकारात्मक सहसंबंध है। यह बात उन्हें कुछ तर्कसंगत भी लगी कि जिन परिवारों में जीवन-निर्वाह ही सबसे बड़ी चुनौती हो, वहाँ स्त्री-पुरुष सहयोग जीवन की एक अनिवार्यता बन जाता है। इसके विपरीत, संपन्न परिवारों में महिलाओं की भूमिकाओं में परस्परता एवं सांकेतिकता का समावेश होने लगता है। यह संकेत मिलता है कि आर्थिक संवृद्धि के फलस्वरूप स्त्री-पुरुष संबंधों के पुरुषोन्मुख स्वरूप और गहन होते हैं।[14]

कुल मिलाकर, डॉ. अमर्त्य सेन की मान्यता है कि स्त्री-पुरुष विषमता के निवारण और समता के उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक संवृद्धि या आधुनिकीकरण नाकाफी है, बल्कि इसके लिए सामाजिक परिवर्तन की किसी ऐसी सक्रिय प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जिसका आर्थिक संवृद्धि से कोई स्पष्ट संपर्क नहीं होता। यहाँ, डॉ. सेन सोशल इंजीनियरिंग के महान् चिंतक व प्रयोक्ता डॉ. आंबेडकर के करीब आ जाते हैं। डॉ. आंबेडकर ने आर्थिक क्रांति का सामाजिक संरचना पर असर सीमित बतलाने वाली जो व्याख्या वर्णवाद (जातिवाद) के अवसान के संदर्भ में की है, वही व्याख्या डॉ. सेन ने लिंगभेद की अधिक पुरातन, व्यापक-गहन प्रवृत्ति के अवसान के संदर्भ में की है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के परंपरागत स्वरूप में जैसा सुधार आंबेडकर ने 'वर्ण' (जाति) जैसी नितांत झूठी धारणा के संदर्भ में किया है, वैसा ही सुधार डॉ. सेन ने 'लिंग' (जेंडर) जैसी सर्वव्याप्त धारणा के संदर्भ में किया है, जो है तो झूठी ही, पर 'सेक्स' (प्राकृतिक लिंग) के प्राकृतिक भेद की किंचित सचाई पर अवलंबित हुई

है।

डॉ. अमर्त्य सेन ने आर्थिक प्रगति व सामाजिक-सुख-शांति के सबसे बड़े रोड़े जनसंख्या-समस्या को स्त्रीवादी दृष्टि से देखने की गंभीर व दुर्लभ कोशिश की है। वे स्त्री की दुर्दशा का एक बड़ा कारण जनसंख्या-वृद्धि करने की उसकी बाध्यता में देखते हैं। यह बाध्यता, किन्ही अधकचरे विचारों को परंपरा के नाम पर, स्त्री द्वारा निरंतर बच्चे पैदा करते रहने का आधार बना दिए जाने के रूप में सदियों से चली आ रही है। 19वीं शती तक यूरोप में यही स्थिति थी, परंतु भारत में तो बहुत हद तक आज भी है। डॉ. सेन जनसंख्या-वृद्धि पर लगाम लगाना स्त्री-कल्याण के लिए आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है''जनन-दर कम करना उसके आर्थिक समृद्धिकारी प्रभावों के आधार पर ही आवश्यक नहीं हो गया है।...इसका गहनतम दुष्प्रभाव तो उन युवा नारियों के जीवन पर पड़ रहा है, जिन्हें दुनिया के कुछ देशों में केवल बच्चे पैदा करने की मशीन बना दिया गया है।''[15] लगातार गर्भधारण, प्रजनन एवं बच्चों को पालते बंधनग्रस्त होने, अस्वस्थ रहने तथा कुछ कर पाने की क्षमता से वंचित होने वाला जीवन युवतियों का होता है, अतः डॉ. सेन की राय में युवा स्त्रियों की आवाज को बल देने वाला कोई भी सामाजिक सुधार उन्हें गर्भधारण संबंधी निर्णयों के लिए क्षमतावान बनाएगा। फिर उससे जन्म-दर ह्रास में बहुत मदद मिलेगी। नारी की व्यापक संशक्ति जन्म-दर के ह्रास का सीधे-सीधे कारक बनती है। कारण, शिक्षा व नौकरी/रोजगार-प्रयासों में उसकी व्यस्तता स्वतः उसे जनन व लालन-पालन मात्र में फँसे रहने से विरत रहती है। इसके साथ शिक्षा उसे परिवार-नियोजन की अधुनातन पद्धतियों से संबद्ध करती है, जिससे आबादी-वृद्धि पर लगाम लगता है। नारी की बढ़ती भूमिकाओं के बल पर ही बंगलादेश ने सिर्फ दो दशकों में जनन-दर 6.9 से गिराकर 2.9 तक लाने का कीर्तिमान बनाया है।[16]

उच्च जनन-दर के तमाम कुप्रभाव तो नारी पर पड़ते ही हैं, फिर उसका सीधे-सीधे बालिकाओं के अनुजीवन पर भी बुरा असर पड़ता है। डॉ. सेन ने इस मान्यता के पीछे पुत्रवादी समाज की उस प्रवृत्ति को कारण बतलाया है, जिससे परिवार की पहली बेटी को शायद उतने अभाव नहीं भोगने पड़ते, पर दूसरी-तीसरी की दशा बद से बदतर होती जाती है।

नारी का घर से बाहर निकलकर कुछ अर्जनशाली गतिविधियों में लगना उसकी परजीविता (पुरुष पर निर्भरता) को कम करता है, जिससे नारी की प्रतिष्ठा में वृद्धि होती है। केवल घर के भीतर कार्यरत स्त्री का परिवार की खुशहाली में योगदान छिपा रहता है, क्योंकि उस श्रम का कोई आर्थिक प्रतिफल उसे नहीं मिलता। परंतु बाहर निकलकर उसके कमाने या संपत्ति का स्वामित्व रखने से घर-बाहर उसके प्रति आदर का उदय होता है। इससे उसकी निर्णय-क्षमता बढ़ती है। वह इस संशक्ति से न केवल गर्भधारण-संबंधी अपने अधिकार का इस्तेमाल करती है, बल्कि अपने बच्चों की



जीवन-रक्षा भी कर पाती है (खासकर बेटियों की)। बाल-मृत्यु दर घटने से भी जनन-दर गिरती है। कारण, अब लोग यह सोचकर अधिकाधिक बच्चे पैदा करना आवश्यक नहीं मानते''कुछ न कुछ तो इनमें से बच्चे ही रहेंगे, अतः पैदा अधिक करो।'' स्त्री के आत्म-निर्भर होने से समाज में उसकी आवश्यकताओं और समस्याओं के प्रति ध्यान जाना भी शुरु होता है, साथ ही बच्चियों की उपेक्षा भी कम होने लगती है। इस प्रकार बालिका की जीवन-रक्षा ज्यादा संभव बनाने वाला तत्त्व हैस्त्री की शिक्षा व आत्मनिर्भरता।[17]

डॉ. सेन ने 'घरेलू कामकाज' एवं लगातार प्रजनन की चक्की के दो पाटों में पिसते हुए नारी-समाज की प्रतिभा व क्षमता के निहायत पंगु हो जाने की दुर्घटना का दर्द बाखूबी महसूसा है। इसीलिए वे स्त्री के घर से बाहर निकलकर आत्मनिर्भर होने एवं जनसंख्या वृद्धि को रोकने की कार्य-योजना पर गंभीर विमर्श देते हैं। लेकिन, उनका स्पष्ट विचार है कि ''अन्य अनेक सामाजिक समस्याओं की भाँति ही जनसंख्या समस्या का समाधान भी समाज के उन सदस्यों के स्वातंत्र्य-संवर्धन में ही छुपा है, जिन्हें बारंबार प्रसव एवं शिशुपालन के प्रत्यक्ष प्रभाव भुगतने पड़ रहे हैं। ये सदस्य हैं युवा नारियाँ।''[18] इसके साथ, उनका मानना है कि चूँकि स्त्री इस सामाजिक व्यवस्था में निरंतर पराधीन रही है, इसलिए यदि परिवार-नियोजन की बाध्यता उस पर थोपी जाए, तो उसकी परतंत्रता और भी बदतर होगी। इस तर्क पर वे बाध्यकारी परिवार-नियोजन की नीतियों का विरोध करते हैं। यहाँ तक तो उनका मत स्तुत्य है। पर, वे स्त्री-पुरुष सब पर ऐसी किसी बाध्यता के थोपे जाने का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि परिवार-नियोजन की जबरदस्ती से कुछ समय के लिए जन्मदर में तेज गिरावट होते भले दिखे, पर उसकी सामाजिक लागत 'मानवीय स्वतंत्रता' की कुर्बानी के रूप में होती है। ठीक है कि मानवीय स्वतंत्रता एक बड़ा मूल्य है, पर निरपेक्ष मूल्य तो नहीं। 'स्वतंत्रता' का यह कौन सा अर्थ होगा कि एक व्यक्ति दूसरे की स्वतंत्रता व मानवाधिकार छीन ले? स्त्री को अपनी वासना या पुत्रेच्छा द्वारा गर्भवती बनाकर, उसे एक मनुष्य तक के अधिकार से वंचित कर देना क्या किसी पुरुष की 'स्वतंत्रता' कहला सकता है? किसी की स्वतंत्रता को वहीं तक स्वीकारा जा सकता है, जहाँ तक वह दूसरों की निजता व मानवाधिकार का भंजन न करे। इसलिए डा. सेन द्वारा पुरुष पर भी बाध्यकारी परिवार-नियोजन लागू करने से मना करना समझ में नहीं आता।

डॉ. सेन ने बाध्यकारी परिवार नियोजन नीतियों की सार्थकता को कई आँकड़ों व तर्कों से सीमित करने का प्रयास किया है। इसके लिए उन्होंने सर्वप्रथम यह तथ्य प्रस्तुत किया है कि तमाम बाध्यकारी व दमनकारी नीतियों के बावजूद 1991 ई. तक चीन की जन्म-दर (प्रति स्त्री 2.0) केरल की जन्म-दर (प्रति स्त्री 1.8) से उच्च ही बनी रही। केरल बिना दमन या दबाव के 'स्वेच्छा' की नीति के तहत, सिर्फ 'स्त्री-सशक्तीकरण'

के बल पर भारतीय औसत लक्ष्य (2.1) से भी नीचे आ चुका है।[19] बात तो प्रथम दृष्टि में ठीक लगती है, पर यहाँ भी डॉ. सेन को यह विश्लेषण करना अपेक्षित था कि केरल में जनन-दर की यह कमी स्त्री-नसबंदी के व्यापक चलन से आई है। N F H S III के अनुसार वहाँ कुल परिवार-नियोजन-कर्ताओं (57.9%) में से सर्वाधिक संख्या (48.7%) स्त्री नसबंदी की है; पुरुष नसबंदी सिर्फ 1.0% रही है।[20] स्पष्टतः जिसे डॉ. सेन 'स्वेच्छा नीति' की सफलता मान रहे हैं, वह सदियों से स्त्री पर थोपी गई गुलामी की सफलता है। स्वेच्छा नीति या नारी-जागृति की सफलता तो तब होती, जब वह पुरुष-समुदाय की अनपेक्षित वासना से बची रहती अथवा उसे नसबंदी कराने हेतु तैयार कर लेती। डॉ. सेन ने दमन या बाध्यता की नीति को 'लोकतांत्रिक स्वीकार्यता' के तर्क पर भी खारिज किया है। उन्होंने उदाहरण दिया कि भारत में '1976 की नीति' को इंदिरा सरकार की करारी चुनावी शिकस्त के रूप में पराजय का मुँह देखना पड़ा।[21] परंतु, उनका यह विश्लेषण भी सही नहीं है। उन्हें यह देखना चाहिए था कि 'नीति' को अस्वीकार कर देना पुरुषसत्ता की प्रतिक्रिया थी, न कि लोकतांत्रिक रीति से अस्वीकार्यता। यदि लोकतंत्र सही में पूरे अर्थ में लागू होता तो स्त्री विरोधी इतने प्रावधानों एवं प्रवृत्तियों का एक दिन भी टिकना मुश्किल होता। इन मुद्दों पर न तो कभी कोई सरकार बनी, न बिगड़ी। 33% आरक्षण के सवाल पर ही वर्षों से स्त्री को छल रहे तमाम राजनैतिक दलों की मर्दानगी की तब तो खटिया खड़ी हो जानी चाहिए थी, क्योंकि आधे मतदाता स्त्री-वर्ग से हैं। 1977 के चुनाव में कांग्रेसी सरकार को क्या स्त्रियों के वोट बैंक ने हराया था, जबकि 30 वर्षों बाद भी आज स्त्री का मताधिकार-प्रयोग पुरुष से बहुत पीछे है। फिर, डॉ. सेन ने यह भी दलील पेश की है कि परिवार-नियोजन की उक्त दमन-नीति का कुप्रभाव यह पड़ा कि अगले दस सालों तक, जनन-दर ह्रास का पहले से चला आ रहा सिलसिला भी थमा रहा।[22] मतलब, जनता को सरकार की 'मंशा' पर ही संदेह हो गया था। इस दलील को पेश करते डॉ. सेन यह नहीं सोच पाए कि सिलसिला क्यों थमा? कहीं ऐसा तो नहीं कि पुरुषों या पुरुषवादी विचार ने स्त्रियों को परिवार-नियोजन से रोके रखा? 'स्त्री नसबंदी कराए या न कराए अथवा कब कराए'इसका निर्णय आज भी जब पुरुष ही (या महिला की सास रूपी पुरुष) लेता है, तब उस समय क्या दशा रही होगी? पुरुष द्वारा स्वेच्छावश नसबंदी कराने के आम चलन का तो न इतिहास है, न वर्तमान। तब स्पष्ट है कि सरकार की परिवार-नियोजन नीतियों की 'मंशा' पर 'संदेह' भी पुरुषवादी था। डॉ. सेन ने अंतिम तर्क यह रखा है कि जनन-दर में जबरन लाया गया कोई परिवर्तन स्थायी नहीं रहता। परंतु, इतनी सदियों से मर्दसत्ता ने स्त्री को जबरन जन-वृद्धि-मशीन बनाए रखा है, वह कैसे स्थायी सा चला आ रहा है? मानव-प्रकृति में सहज रूप से हिंसा लूट आदि हैं, क्या इन्हें नियंत्रित करने के उपाय या कानून न बनाए जाएँ? यह तर्क देना तब क्या ठीक रहेगा कि संयमन का स्थायी प्रभाव नहीं रह पाता? समग्रतः,



डॉ. सेन द्वारा जबरिया परिवार नियोजन के विरोध का केवल वह अंश ग्राह्य है, जो उन्होंने (पहले से बाध्य रही) स्त्री को उस जबरदस्ती से बचाने के लिए कहा है। पर, पुरुष को भी बाध्य न करने की उनकी दलील स्वीकार नहीं की जा सकती। पुरुष, जनवृद्धि के लिए इस सामाजिक संरचना में प्रतीकात्मक रूप से नहीं, बल्कि व्यावहारिक रूप से दोषी है। स्त्री के लिए जो उम्र कैरियर बनाने की होती है, उसमें उसे जच्चा-घर में कैद किए रखने का जिम्मेदार है पुरुष। इसलिए उस पर अंकुश लगना ही चाहिए। पुरुष की थोड़ी सी बाध्यता से स्त्री-मुक्ति के कई आयाम जब खुलते हैं, तो इसे लागू करने में हिचकिचाहट क्यों? स्त्री को गर्भ-भय-मुक्त करने और सहजता से जीने, खिलने, आत्मनिर्भर होने के प्रयास में लगे रहने का अधिकार देना है, तो उसकी राह में रोड़ा बनने वाले पुरुष के स्वेच्छाचार को तो रोकना ही होगा। उसे कुछ मिनटों के ऑपरेशन हेतु बाध्य करने से उसका तो कुछ बिगड़ता नहीं, पर स्त्री का बन बहुत जाता है, यह व्यावहारिक बात भी तो देखनी चाहिए। कुछ समय तक मर्दों को यह बाध्यता दमन जैसी लग सकती है, पर धीरे-धीरे यह सहज आदत सी बन जाएगी। डॉ. सेन को इस दिशा में सोचना चाहिए था। जनसंख्या-समस्या को पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था से न जोड़कर देख पाना अमर्त्य सेन के नारीवादी अर्थशास्त्र की सीमा लगती है।

स्त्री-पुरुष अनुपात (लिंगानुपात) की लगातार गिरावट पर डॉ. सेन खासे चिंतित हैं तथा वे आँकड़ों के बहुत सधे विश्लेषण से उसकी तह में जाते हैं। अभावग्रस्त नारियों की दास्तान कहते-कहते वे उसके चरम रूप 'नारियों के अभाव' तक जा पहुँचते हैं। वे कहते हैं''प्रकृति के नियमों के विपरीत और समाज के व्यवहार द्वारा रचित कारकों ने एशिया और उत्तरी अफ्रीका में नारी की अति मरणशीलता की भयावह सृष्टि रच दी है। परिणामस्वरूप इन क्षेत्रों में चिकित्सा, स्वास्थ्य एवं पोषण आदि में लिंग-भेद के कारण करोड़ों की संख्या में नारियाँ विलुप्त हो गई हैं।''[23] इसके साथ ही कन्या भ्रूणहत्या की नई प्रवृत्ति चीन, दक्षिण कोरिया, सिंगापुर, ताइवान, भारत सहित सारे दक्षिण एशिया में फैल चुकी है। यह सब समझते हुए डॉ. सेन ने 1986 के आँकड़ों के आधार पर अनुमान लगाते हुए भारत में 3.7 करोड़ तथा चीन में 4 करोड़ स्त्रियों के गायब हो जाने की दिल दहलाऊ बात कही है।

स्त्री की शिक्षा को उसकी संशक्ति का प्रमुख तत्त्व मानते हुए डॉ. सेन ने इस बात पर सहमति व्यक्त की है कि व्यापक स्तर पर नारी-शिक्षा की आवश्यकता को सामाजिक मुद्दा 20वीं शती में आकर माना गया, यद्यपि इतिहास में यदा-कदा विदुषियों (मैत्रेयी-गार्गी आदि) के दर्शन होते रहे हैं। स्त्री के अनपढ़ होने के पीछे का मूल कारण उनकी निगाह में ब्राह्मणवाद व पुरुष-वर्चस्व की संस्कृति लगती है''पुरानी ब्राह्मणवादी परंपरा में तो वेदों के अध्ययन को केवल उच्चवर्णीय पुरुषों की बपौती माना गया था। उस व्यवस्था में नारी-शिक्षा पुरुष-वर्चस्व के लिए एक चुनौती बन

सकती थी।''[24] प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी विफलता का कुफल उनके अनुसार विशेषतः बालिकाओं पर पड़ता है, क्योंकि सामाजिक विचार का पिछड़ापन उन्हें गाँव के सरकारी स्कूलों तक ही जाने देता है, जबकि लड़के तो बाहर के या प्राइवेट स्कूलों तक भेजे जाते हैं। अभिभावकों द्वारा बेटियों की शिक्षा पर कम ध्यान देने के पीछे वे तीन कारण प्रस्तुत करते हैं(1) वे समझने में असमर्थ हैं कि बेटी पढ़कर क्या करेगी क्योंकि लिंगानुसार श्रम-विभाजन ने लड़की को घरेलू व जनन-पालन या कृषि-कार्यों तक सीमित रख छोड़ा है। (2) वे सोचते हैं कि जब लड़की को ससुराल ही जाकर बसना है, तो उसे पढ़ाने से हमें क्या फायदा? (3) वे यह भी सोचते हैं कि पढ़-लिख लेने पर लड़की के लिए और पढ़ा-लिखा वर ढूँढना पड़ेगा, जिससे दहेज और ज्यादा देना होगा।[25]

डॉ. सेन ने स्त्री की सार्वजनिक जीवन एवं राजनैतिक गतिविधियों में कम भागीदारी का एक कुपरिणाम यह माना है कि स्त्री-पुरुष-संबंधों से जुड़ीं अनेक सामाजिक समस्याओं पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। उन समस्याओं में से एक अहम समस्या है विधवाओं और परित्यक्ताओं की। 1991 की आबादी के अनुसार 3.3 करोड़ विधवाएँ थीं, जो कुल स्त्री-संख्या का 8% है, जबकि विधुर पुरुष सिर्फ 2.5 हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि पुरुष पुनर्विवाह की प्रचुर सामाजिक सुविधा पाए हुए हैं, पर स्त्री ऐसी सुविधा से वंचित है। विधवाओं के अकेलेपन, आर्थिक संत्रास, हर प्रकार से शोषण, अपमान को पूरी मार्मिकता से उभारते हुए डॉ. सेन ने विवाहितों की तुलना में उन्हीं के आयु-वर्ग की विधवाओं की मौत की दर 86% अधिक रहने की भयानक सचाई पेश की है।[26]

कार्ल मार्क्स ने उत्पादन-साधनों के स्वामित्व में वैषम्य का वर्गगत विश्लेषण किया था, पर डॉ. अमर्त्य सेन जेंडरगत वैषम्य को भी सामाजिक विषमता का बहुत बड़ा स्रोत मानते हैं। उनके मत से संपदाधिकार का न होना नारी की आवाज़ को तो दबा ही देता है, व्यावसायिक, आर्थिक व सामाजिक गतिविधियों में उसकी हिस्सेदारी को भी कुंठित करता है। इसके विपरीत उत्तराधिकार प्राप्त होने पर स्त्री न केवल सामाजिक संशक्ति पाती है, बल्कि अपनी ऊर्जा से अर्थव्यवस्था को भी मजबूती देती है। डॉ. सेन खेती में स्त्रियों की विपुल भागीदारी की चर्चा करते हुए कहते हैं कि जमीन पर यदि उनका स्वामित्व रहे, तो कार्य-संलिप्तता गहरी होगी जिससे उत्पादन भी बढ़ेगा। वे केरल की जनसंख्या में 20% नायरों के मातृवंशी उत्तराधिकार को वहाँ स्त्री-सशक्तीकरण का प्रभावी कारण मानते हैं, जिसने नारी की शिक्षा, स्वास्थ्य, आत्मनिर्भरता सबमें परिणति पाई।[27]

डॉ. सेन की बारीक दृष्टि से सभ्य समाज का वह कुत्सित चेहरा बचा नहीं रहता जिसमें पारिवारिक कार्यों, बच्चों का पालन, रसोई, सफाई आदि में नारी को विषमता झेलनी ही पड़ती है; भले वह जीवन-धारण की विषमता से विमुक्त हो चुकी हो।



कितने ही देशों में माना जाता है कि पुरुष **बाहरी** कामों के लिए है, नारी **घरेलू** कामों के लिए। नारी को **बाहर** निकलकर कुछ करने की अनुमति दी जाती है तब, जब वह घर के निर्धारित काम निबटा ले। डॉ. सेन इसे श्रम-विभाजन मानने से इनकार करते हैं तथा इसे 'नारी पर कामों की लदाई' का दर्जा देते हैं।[28]

घरेलू हिंसा व शारीरिक उत्पीड़न को वे जेंडर-आधारित विषमता का सबसे पाशविक रूप मानते हैं। यह समस्या वे अमेरिका जैसे विकसित राज्यों तक में देखते हैं। इस विषमता को बनाए रखने का आधार वे नारी की दुर्बल शारीरिकता (विशेषतः गर्भावस्था से जुड़ी) को भी मानते हैं, पर मूल कारण 'मानसिकता' को ठहराते हैं। स्त्री को आत्मरक्षा के उपायों का प्रशिक्षण उनकी दृष्टि में सुधार का एक उपाय है, पर मूल कारण (मानसिकता) को समाप्त करने हेतु सामाजिक पुनःरचना के शैक्षणिक-राजनैतिक व सांस्कृतिक आंदोलनों की वे जरूरत मानते हैं।[29]

'लिंग' को अपने-आप में विषमताकारी मानते हुए भी अमर्त्य सेन का विचार है कि वह 'वर्ग' या 'जाति' से एकदम स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर पाता। जैसेभारत या दक्षिण एशिया में अमीर घरानों या उच्च वर्ण की स्त्रियाँ शेष गरीब घरों या निम्न वर्ण की स्त्रियों से अधिक बढ़ी-चढ़ी हैं, भेदभावों की कम शिकार हैं। यह कहना सच है, परंतु 'लिंग' कभी 'वर्ग' या 'जाति' से एकदम अलग तत्त्व के रूप में भी कार्य करता है। जैसेआए दिन किसी वर्ग या वर्ण की स्त्री को स्त्री मात्र के रूप में देखा जाता हैसिर्फ देह, कम-अक्ल, यौन वस्तु आदि माना जाता है, तब 'जेंडर' परम स्वतंत्र विषमताकारी तत्त्व तो बन ही जाता है। यह सोचना डॉ. सेन को अपेक्षित था।

समग्रतः, कहना होगा डॉ. सेन ने स्त्री-पुरुष-विषमता की गहन पड़ताल अर्थशास्त्र की जमीन पर खड़े होकर करते हुए इतिहास की गहराई और समाजशास्त्र की व्यापकता से उसे सतत संपृक्त रखा है। ऐसा करते हुए उन्होंने अर्थशास्त्र के मूल्यों को नारीवादी दृष्टि से परखने का प्रयोग किया है। फिर भी वे नारीवादी अर्थशास्त्र के पर्याय इसलिए नहीं ठहराए जा सकते, क्योंकि पितृसत्तात्मक व्यवस्था को स्त्री की बहुविध, अभावग्रस्तताओं का सीधे कारक मानने की स्थिति तक नहीं पहुँच पाए हैं। इसके अलावा, वे नारीवादी अर्थशास्त्र के पर्याय इसलिए भी नहीं ठहराए जा सकते, क्योंकि उनकी बहुमुखी प्रतिभा व बहुआयामी विश्लेषण को यह सीमा संतुष्ट न कर सकेगी। फिर भी, नारी की बृहत्तर भूमिका को सामाजिक-आर्थिक प्रगति का मेरुदंड मानने के कारण उनके अर्थशास्त्र में नारी-चेतना की उपस्थिति बुलंद है, तभी तो वे उद्घोष करते हैं''आज के युग में विकास की नीति में सबसे महत्त्वपूर्ण मुद्दा राजनैतिक-आर्थिक स्तर पर नारी की भागीदारी और नेतृत्व का है। यही विकास के हमारे स्वातंत्र्योन्मुखी निरूपण का एक आवश्यक आयाम भी है।''[30]

## संदर्भ


1. भारतीय अर्थतंत्र, इतिहास और संस्कृति।
2. वही।
3. वही।
4. वही।
5. आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य।
6. भारतीय अर्थतंत्र, इतिहास और संस्कृति।
7. वही।
8. आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य।
9. वही।
10. भारत : विकास की दिशाएँ।
11. राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण, तीसरा दौर (2005-06)।
12. भारत : विकास की दिशाएँ।
13. वही।
14. वही।
15. आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य।
16. भारतीय अर्थतंत्र, इतिहास और संस्कृति।
17. भारत : विकास की दिशाएँ।
18. आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य।
19. भारत : विकास की दिशाएँ।
20. राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण, तीसरा दौर (2005-06)।
21. भारत : विकास की दिशाएँ।
22. वही।
23. आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य।
24. भारत : विकास की दिशाएँ।
25. वही।
26. वही।
27. भारतीय अर्थतंत्र, इतिहास और संस्कृति।
28. वही।
29. वही।
30. आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य।




# प्रेम की आजादी के लिए परंपरा से विद्रोह काफी नहीं

कात्यायनी हिंदी की स्थापित कवयित्री ही नहीं, अत्यंत सुलझी हुई विमर्शकार भी हैं। उनकी सोच अग्निधर्मी स्पष्टता से भरी है, जो सामाजिक सरोकारों से जुड़ी है। उनकी विचारशक्ति को द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि सहयोग देती है, पर उनका विचारक उससे अधिक समाज के प्रति प्रतिबद्ध है। उनकी ताजी पुस्तक 'प्रेम, परंपरा और विद्रोह' को इसी संदर्भ में देखा जा सकता है, जो एक दीर्घ निबंध (प्रबंध) के रूप में लिखी गई है।

आम धारणा के अनुसार 'प्रेम' रूहानी छुअन वाला भाव है, जो इंसान के जीवन के पथरीले डगर में मृदुल उड़ान के पर लगा देता है तथा उसके सोये अस्तित्व को जगाकर, उसे सार्थकता प्रदान करता है। आत्मा को परमात्मा की अनुभूति कराने वाले मानवीय भाव के रूप में भी 'प्रेम' बहुधा समझा जाता रहा है। ओशो ने 'सेक्स' (काम) को उसका प्रस्थान-बिंदु बतलाकर तथा यह शर्त लगाकर कि 'बिना काम की जमीन से गुजरे प्रेम प्रकट ही नहीं हो सकता', 'प्रेम' की आध्यात्मिकता को वस्तुपरक व्याख्या की ओर अग्रसर किया था। परंतु, इस तरह की व्याख्या को जिस प्रकार की ऐतिहासिक, भौतिकवादी और ठोस वैज्ञानिक भूमि उपलब्ध कराने की जरूरत थी, वह ओशो से न हो सकी; जिसे कात्यायनी की उक्त पुस्तक किसी हद तक उपलब्ध कराती है। ओशो के तमाम व्याख्यान चाहे वे गुरु-गंभीर व्याख्यान हों या काव्यात्मक तरलता वाले, 'प्रेम' को आध्यात्मिक फ्रेम में ही कसने वाले ठहरते हैं, जिससे उसकी पृष्ठभूमि में चल रहीं भौतिक-सामाजिक घटनाएँ व अंतर्विरोध ओझल हुए रहते हैं। लेकिन, कात्यायनी ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि ''प्रेम कोई जैविक आवेग, ईश्वरीय वरदान या समाज-निरपेक्ष भावना नहीं होता। प्रेम की अवधारणा सामाजिक वर्गीय संरचना से स्वतंत्र, शाश्वत और विविक्त नहीं होती। जिस प्रकार वर्ग-समाज में जेंडर एक जैविक तथ्य से भी कहीं अधिक एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' है, उसी प्रकार स्त्री-पुरुष के बीच का प्रेम भी एक 'सोशल कंस्ट्रक्ट' है।'' (पृ. 25-26)

'प्रेम' को सामाजिक निर्मिति ठहराने वाली यह व्याख्या निश्चय ही नवीन है।

इसका लक्ष्य प्रेमानुभूति में मिलने वाली आत्मिक तन्मयता का निषेध करना नहीं, बल्कि 'प्रेम' के चरित्र की जमीनी जाँच है। यदि हम ध्यान से देखें, तो 'प्रेम' मूलतः एक भौतिक घटना ही है, न कि आकाश से टपक पड़ा कोई ईश्वरीय जल। कारण, जब तक दो लोग (स्त्री-पुरुष) मिलेंगे नहीं, साहचर्य में न रहेंगे, तब तक 'प्रेम' पैदा ही नहीं हो सकता। प्रेम के जन्म व विकास का पूरा आधार व परिधिसाहचर्यशुद्ध रूप से भौतिक है। भौतिक परिस्थिति, जिसमें यह घटना घटती है, की विशेषता या उसके उतार-चढ़ाव से 'प्रेम' के स्वरूप में भी उतार-चढ़ाव होता है। कात्यायनी भी 'सामाजिक-आर्थिक संरचना में परिवर्तन के साथ प्रेम के अवबोध और अवधारणा में परिवर्तन' की बात कहकर इसी तथ्य को लक्षित करती हैं। फिर, प्रेम की बहुकथित आध्यात्मिकता क्या है? वस्तुतः प्रेम की आध्यात्मिकता इससे अलग कुछ नहीं है कि वह (प्रेम) अपने बोध में अधिकाधिक सूक्ष्मता एवं दीर्घकालीन स्थिरता का रूप ले चुका होता है।

जैसा कि पुस्तक की 'पश्च टिप्पणी' में कहा गया हैगुजरात, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अंतरजातीय-अंतरमजहबी रिश्ते में गए प्रेमी युगलों के साथ हिंदुत्ववादी-फासिस्ट गुंडों और कबीलाई मानसिकता की पंचायतों की निरंकुश सत्ता द्वारा की गई नृशंस कार्रवाइयों से उद्वेलित होकर कात्यायनी को इस विषय पर लिखने का विचार आया। अतः, पुस्तक की सामयिकता सिद्ध होती है। किंतु, इसका आशय यह नहीं कि इस प्रकार की कृति केवल भारतीय संदर्भ में प्रासंगिक है। पाकिस्तान-अफगानिस्तान के साथ कई पिछड़े एशियाई देशों (विशेषतः अरब देशों) में युवा जोड़े का प्रेम इसी बर्बर अभिशाप का शिकार है। इस संदर्भ में भी कृति पठनीय है। साथ ही, इसमें 'प्रेम' एवं स्त्री-पुरुष संबंध की जो ऐतिहासिक-भौतिकवादी समझ झलकती है, वह इसे दीर्घकालीन-वैश्विक महत्त्व प्रदान करती है।

'प्रेम' व्यक्ति को अस्तित्वबोध कराने वाली भावना है। किसी की एकनिष्ठ-आत्यंतिक चाहत का केंद्र बन जाना किसी व्यक्ति को अपने महत्त्व का अहसास कराता है, जिससे दबा-कुचला उसका व्यक्तित्व भी अदम्य जागृति को उपलब्ध होता है। सामाजिक संरचनाएँ इंसानों के व्यक्तित्वों को दबा-मार कर या अनुकूलित कर ही खड़ी हुई रहती हैं या अब तक ऐसा रही हैं। इसी से कोई प्रेमी ऐसे समाजों के लिए एक खतरे से कम नहीं लगता। यही कारण है कि प्रेम करनेवालों को अपनी इस प्रकृति-सिद्ध आजादी के लिए समाज से विद्रोह करना पड़ता है अथवा ऐसे समाज उनके इस सहज अधिकार-प्रयोग को उनका विद्रोह मान लेते हैं। प्रेमाधिकार के लिए युवा-चित्त के विद्रोह को हार्दिक समर्थन देने के लिए कात्यायनी ने गंभीर विचार-भूमियों की यात्रा की है। इसके साथ, वे प्रेमियों की राह में रोड़े अटकाने वाली, उन्हें हिंसा का शिकार बनाने वाली संगठित सामाजिक-मजहबी गुंडागर्दी के खिलाफ बुद्धिजीवियों को संगठित विद्रोह करने के लिए भी उकसाती हैं।



प्रेम करने को सामाजिक विद्रोह मानने की इस परंपरा के संदर्भ में यह भी ध्यातव्य है कि समाज के पितृसत्तात्मक ऑक्टोपसी जकड़बंदी में पड़े होने के कारण, प्रेम करने के अधिकार को कुचलना मुख्यतः स्त्री-अधिकार को कुचलने के रूप में ढल जाता है। इसकी पृष्ठभूमि यह है कि ऐसे समाज में स्त्री-मुक्ति का एक सशक्त मार्ग स्त्री का प्रेम में पड़ जाना भी होता है। समस्त संदर्भों के साथ लेखिका का समीचीन प्रतिपादन है कि''प्रेम की आजादी का सवाल रूढ़ियों से विद्रोह का प्रश्न है। यह जातिप्रथा के विरुद्ध भी विद्रोह है। सच्चे अर्थों में प्रेम की आजादी का प्रश्न स्त्री की आजादी के प्रश्न से भी जुड़ा है, क्योंकि प्रेम आजाद और समान लोगों के बीच ही वास्तव में संभव है।'' (पृ. 18)

स्त्री-पुरुष के प्रेम करने की आजादी के प्रश्न को कात्यायनी बुनियादी अधिकार का प्रश्न मानती हैं। उनके मत से प्रेम चूँकि 'सोशल कंस्ट्रक्ट' है, इसलिए प्रेम करने की आजादी का प्रश्न सामाजिक-आर्थिक मुक्ति के बुनियादी प्रश्न पर टिका हुआ है। तात्कालिक तौर पर, जातिवादी पंचायतों अथवा 'तालिबान', 'श्रीराम सेना' आदि कट्टरपंथी संगठनों की गुंडागर्दी के संगठित प्रतिरोध में युवाओं के प्रेमाधिकार की रक्षा हो सकती हो; परंतु यह अनिवार्य कार्यभार बिना आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनैतिक ढाँचे में क्रांतिकारी परिवर्तन किए स्थायित्व को प्राप्त न होगा। चूँकि प्रेम का अधिकार जातिगत-धार्मिक रूढ़ियों से मुक्ति और स्त्रियों की आजादी के सवाल से भी आविभाज्यतः जुड़ा हुआ है, इसलिए इस समस्या का हल एक दीर्घकालीन संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में ही संभव है।

'प्रेम' व स्त्री-पुरुष-संबंध को ऐतिहासिक-सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए लेखिका ने कम्युनिज्म के सिद्धांतों का सहारा लिया है। फ्रेडरिक एंगेल्स की पुस्तक 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' को उद्धृत कर वे मानव-विकास के तीन मुख्य युगों के अनुरूप स्त्री-पुरुष-संबंध (या विवाह) के तीन रूपों की उपलब्धि की बात रखती हैं(1) जंगल युग में यूथ विवाह, (2) बर्बर युग में युग्म विवाह, (3) सभ्यता-युग में एकनिष्ठ विवाह और उसी से जुड़े व्यभिचार व वेश्यावृत्ति। एंगेल्स की प्रमुख स्थापना यह है कि एकनिष्ठ विवाह/परिवार की अंतिम विजय सभ्यता की शुरुआत का एक लक्षण था। पर, एकनिष्ठ परिवार पुरुष-श्रेष्ठता पर आधारित था, जिसमें पिता की संपत्ति के उत्तराधिकार के लिए निर्विवाद पितृत्व वाली संतान पैदा करना स्त्री के लिए जरूरी था। यानी, यहाँ एकनिष्ठता का मतलब केवल स्त्री की एकनिष्ठता था, पुरुष कितनी भी स्त्रियों से वैवाहिक या विवाहेतर (काम-) संबंध बनाने को स्वतंत्र था। इस संरचना में स्पष्टतः स्त्री पुरुष के अधीन तथा वस्तुकृत थीउसकी वासना-तृप्ति या उसके उत्तराधिकारी पैदा करने की मशीन बनकर। इस रूप में, इतिहास का प्रथम श्रम-विभाजन, वर्ग-भेद, वर्ग-शोषण/उत्पीड़न स्थापित हुए। इस संरचना का आधार स्त्री का संपत्तिशून्य होना और पुरुष के हाथों व्यक्तिगत

संपत्ति का संकेंद्रित होना था, जिसकी तरफ कात्यायनी ने सीधे-सीधे ध्यानाकर्षण न कराया है। एंगेल्स ने सवाल उठाया कि एकनिष्ठ (यानी स्त्री की एकनिष्ठता वाले) विवाह का कारणीभूत आर्थिक आधारव्यक्तिगत संपत्तिनष्ट कर देने अथवा उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वामित्व हो जाने यानी समाजवादी क्रांति हो जाने पर वेश्यावृत्ति के खाते के साथ क्या एकनिष्ठ विवाह भी मिट जाएगा? इस पर उनका मार्मिक प्रतिपादन है कि वेश्यावृत्ति तो मिट जाएगी, किंतु 'एकनिष्ठ विवाह-प्रथा मिटने के बजाय, पहली बार पुरुषों के लिए भी वास्तविकता बन जाएगी।' (पृ. 31) इसका कारण इतिहास में आविर्भूत वह नया तत्त्व है, जिसे 'यौन-प्रेम' (सेक्स लव), भावावेगी प्रेम (पैशन लव) या 'रूमानी प्यार' कहा जाता है। यह व्यक्तिगत होता है, प्रकृति से ही ऐकान्तिक होता है, इसी से इसके विकास के साथ सच्चे अर्थों में पुरुष-स्त्री का एकनिष्ठ संबंध स्थापित होगा। सामंती युग में 'प्रेम' विवाह का कारण नहीं, बल्कि अनुपूरक होता थापति-पत्नी (पत्नियों) के बीच आभासित प्रेम मनोगत प्रवृत्ति नहीं, वस्तुगत कर्तव्य था। वहाँ, स्त्री केवल भोग्या एवं वंश चलाने का निमित्त थी। 'विवाह' से विद्रोह करके ही वहाँ 'प्रेम' का सही रूप मिल सकता था।

लेखिका के मत से, व्यक्तिगत यौन-प्रेम की अवधारणा पूँजीवादी जनक्रांतियों की देन है। 'पूँजीवाद ने कम से कम प्रेम-विवाह के अधिकार (और प्रेम टूटने पर अलग होने के अधिकार) को मान्यता देने का एक प्रगतिशील काम किया।' (पृ. 36) किंतु, जब तक पूँजीवाद का विनाश नहीं होगा तब तक सच्चे प्रेम की प्रतिष्ठा नहीं होगी। एकबारगी यह रोचक असंगति प्रतीत होती है, पर सच्चाई यह है कि बुर्जुआ जनवाद/पुनर्जागरण ने इस प्रेम का आदर्श भले दिया है, परंतु बुर्जुआ (पूँजीवादी) समाजार्थिक संरचना के रहते यह साकार नहीं हो सकता। पूँजीवाद इंसान की इंसान रूप में मुक्ति का दर्शन नहीं है। कात्यायनी कहती हैं कि बुर्जुआ नागरिक आत्म-अलगाव के शिकार होते हैंभावना, संबंध आदि हर चीज को वस्तु के रूप में देखने की आदत से ग्रस्त होते हैं। इसी से वे प्यार करने में अक्षम होते हैं। पूँजीवाद ने स्त्री-पुरुष संबंध को आर्थिक हितों के अधीन रखा है। स्त्री वहाँ पुरुष के अधीन है तथा पुरुष अमानवीयता का शिकार। विवाह के अनुपूरक रूप में वेश्यावृत्ति भी वहाँ है तथा 'विवाह' कानून-सम्मत वेश्यावृत्ति बनकर रह गया है। सामंती मध्ययुग में सर्वहारा स्त्रियाँ यदि सामंत प्रभुओं (मर्दों) के खुले भोग की वस्तु थीं, तो पूँजीवादी युग में पूँजीपति/कारखानेदार (मर्दों) के लिए परदे के पीछे भोग का सामान बनी हुई हैं। इसके अलावा, बुर्जुआ नागरिक का पाखंड भी बड़ा है। वह परिवार/विवाह संस्था के आदर्शों का पालन नहीं करता, उसकी वचनबद्धता से पलायन करता हुआ, आपातकालीन निकास-द्वार (बदचलनी, नाजायज रिश्ते, वेश्यागमन) खोजते रहता है, किंतु फिर भी परिवार/विवाह संस्था को बनाए रखता है, क्योंकि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली और उसके आधिपत्य के लिए इसका बना रहना जरूरी है। ''परिवार ही वह व्यावहारिक बुनियाद



है, जिस पर बुर्जुआ वर्ग का आधिपत्य विकसित हुआ। (बुर्जुआ) परिवार की संस्था निहायत व्यावहारिक मसलों परआर्थिक मसलों पर टिकी होती है।'' (पृ. 43) पूँजीवादी श्रम-विभाजन उत्पादन में शोषक-शोषित की कोटि बनाता है, उसी प्रकार परिवार में मानवीय पुनरुत्पादन के दायरे में स्त्री एवं पुरुष को क्रमशः गुलाम एवं मालिक का दर्जा दे देता है। पूँजीवादी उत्पादन-संबंध के अंतर्गत सामाजिक श्रम-विभाजन से जनमे 'अलगाव (एलियनेशन)' के मार्क्सवादी सिद्धांत पर विस्तृत प्रकाश डालते हुए कात्यायनी ने अलगाव का चरम रूप इंसान के व्यक्तित्वहीन (यंत्रीकृत साधन) हो जाने को माना हैजीवनानंद, प्रेरणा, स्वप्न/कल्पना, प्यार की संभावना, सबसे विलग पशु, दास या मशीन बनकर रह जाने को माना है। अलगाव का बुनियादी शिकार शारीरिक श्रम करने वाला मजदूर होता है, परंतु मानसिक श्रम करनेवाले यानी पूँजीवादी उत्पादन-तंत्र के संचालक और पूँजीपति भी अलगावग्रस्त होते हैं। आम इंसान को पूँजीपति चलाता या नचाता है, तो पूँजीपति को 'पूँजी' नचाती है। इसी से कह सकते हैं कि पूँजीवादी समाज में सबको अंततः 'पूँजी' ही नचाती हैउन्हें अलगाव का शिकार बनाती है। वे आत्म-अलगावग्रस्त चेतना से जिसे जीवनोपभोग, आनंद या प्यार समझते हैं, वह वास्तव में एक विकृत व मिथ्या चेतना ही है। वह स्वयं पूँजी का ही व्यक्ति रूप होता है। इस तरह के प्रतिपादन करते हुए कात्यायनी की भाषा में कहीं-कहीं अधूरापन भी झलक जाता है, यद्यपि उनकी बातें तथ्यपूर्ण रहती हैं। मसलन, वे कहती हैं''इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि एक बुर्जुआ नागरिक को सबसे अधिक खतरनाक स्त्री का स्वतंत्र व्यक्तित्व लगता है, पर विडंबना यह है कि बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली की स्वतंत्र आंतरिक गति से स्त्रियों के स्वतंत्र व्यक्तित्व और स्वतंत्र अस्मिता का पैदा होना भी अपरिहार्य है।'' (पृ. 42) या, ''पत्नी भी उसके लिए (पूँजीपति के लिए) अपने पूँजी-साम्राज्य का उत्तराधिकारी पैदा करने वाले उत्पादन के साधन से अधिक कुछ नहीं होती'' (पृ. 41) उनके ये कथन हों अथवा उनके द्वारा उद्धृत मार्क्स के ये कथन''बुर्जुआ अपनी पत्नी को उत्पादन के एक उपकरण के सिवा कुछ नहीं समझता'' (पृ. 48) या ''मुद्रा स्वयं एक सार्वभौमिक वेश्या है और कौमों और राष्ट्रों की सर्वसामान्य कुटनी है जो मानवीय आवश्यकता और उसकी पूर्ति के साधनों के बीच, मनुष्य और उसके जीवन के बीच, एक मनुष्य और अन्य मनुष्यों के बीच सौदेबाजी कराने और रिश्ते पटाने का काम करती है।'' (पृ. 45) भाषा के ये प्रयोग यह मानकर चलते हैं कि पूँजीपति या पूँजीवादी नागरिक 'पुरुष' है। मुद्रा की वेश्या से उपमा भी पुरुषवादी भाषा के अंतर्गत है, जिस तरह भर्तृहरि ने राजनीति को वेश्या की तरह बतलाया था ('वारांगनैव नृपनीतिरनेक रूपा'नीतिशतकम्), उसी तरह यहाँ है। कात्यायनी का यह विचार तो सही है कि निजी संपत्ति या पूँजीवादी श्रम-विभाजन को समाप्त करके ही इंसान के व्यक्तित्व को विघटित होने से रोका जा सकता हैअलगाव (परकीयकरण) को समाप्त किया जा सकता है; जिससे वह प्यार

करने में सक्षम बनेगा। परंतु, इसी के साथ पूँजीवाद को स्त्री के वस्तुकरण के एक कारण के रूप में व्याख्यायित करना सवाल खड़े करता है। वैवाहिक वेश्यावृत्ति, वेश्यावृत्ति, सेक्स-रैकेटिंग, ट्रैफिकिंग आदि पूँजीवाद से जुड़े हैं अथवा पूँजीवाद की पितृसत्तात्मक संरचना से? यदि पूँजी पर पुरुष की तरह स्त्री का भी अधिकार होदुनिया की पचास-पचास प्रतिशत पूँजी पुरुष व स्त्री में बँट जाए, तो भी क्या स्त्री को ही पुरुष नचाता रहेगा? तब, क्या जिस तरह व जिस मात्रा में पुरुष स्त्री को वस्तु बनाता है, उसी तरह व उसी मात्रा में स्त्री भी पुरुष को वस्तु नहीं बनाएगी? परस्पर-अन्योन्य वस्तुकरण जब होगा, तब एकमुखी वस्तुकरण से जनमी उक्त संरचनाएँ (विवाह, वेश्यावृत्ति आदि) क्या नहीं बदलेंगी? क्या अन्योन्य वस्तुकरण में परस्पर व्यक्तित्व का उदय नहीं होगा? इस सवाल पर भी लेखिका को विचार करना चाहिए था। फिर भी, उनके इस प्रतिपादन में फिलहाल आपत्ति की गुंजाइश नहीं है कि पुनर्जागरणकालीन दार्शनिकों या यूटोपियाई समाजवादियों द्वारा प्रस्तुत 'यौन-प्रेम' का आदर्श यथार्थ में तभी बदलेगा जब बुर्जुआ आत्मअलगाव/आत्मनिर्वासन खत्म होगा। आत्मअलगाव के खत्म होने के लिए पूँजीवादी ढाँचे (निजी संपत्ति, श्रम-विभाजन का प्रचलित तरीका) का खात्मा जरूरी है। इसमें सच्चाई है क्योंकि यह ढाँचा अंततः इंसान को वस्तु बनाकर रख देता है। सच्चे एकनिष्ठ यौन-प्रेम का मानवीय रूप केवल वर्ग-विहीन समाज में संभव होगा।

इसी संदर्भ में, कात्यायनी सावधान करती हैं कि प्रेमाधिकार की प्राप्ति हेतु, मध्ययुगीन सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों/संस्थाओं के विरुद्ध संघर्ष पर्याप्त नहीं है। ऐसा करने से बुर्जुआ (पूँजीवादी) प्रेम का आदर्शीकरण होगा, जो वस्तुतः मिथ्याभासी प्रेम हैभेदभावमूलक भी है। सच्चे प्रेम के मार्ग में रोड़े अटकाने की बात केवल मध्यकालीन सामंती अवशेष नहीं है, बल्कि नवयुगीन पूँजीवादी कृतियाँ भी रोड़े बनाती हैं। उदाहरणार्थ, दहेज। इसे आमतौर पर पुरानी सामंती चीज माना जाता है, परंतु आज नगरों के आधुनिक मध्य वर्ग में, व्यापारियों में इसका चलन सर्वाधिक है। दहेज के लिए स्त्रियाँ मार डाली जाती हैं और फिर दहेज बटोरने के लिए एक और विवाह का रास्ता साफ हो जाता है। यानी, दहेज व्यापार या उद्योग के लिए पूँजी जुटाने का एक माध्यम बन गया हैन कि महज सामंती शान का प्रतीक। यही कारण है कि पहले दहेज का खूब प्रदर्शन होता था, पर आज यह परदे की ओट में लिया जाता हैपहले से कहीं ज्यादा चमकदार चीजों के रूप में। इसी से, सामंती मूल्यों के साथ पूँजीवादी संरचनाओं को भी ध्वस्त करना होगा, ताकि सच्चे प्रेम करने वाले पुरुष-स्त्री संभव हों।

पूँजीवाद चाहे कितने भी उत्कृष्ट रूप में उभरकर आए, पर प्रेम की आजादी के लिए उसका अंत करना ही होगा। ऐसा ही मंतव्य है कात्यायनी का। फिर, भारत देश का क्या होगा जहाँ पूँजीवाद का विकास उनके अनुसार सामंतवाद की जकड़बंदी में



हुआ। यूरोप में औद्योगिक क्रांति एवं पुनर्जागरण की शताब्दियों व्याप्त लंबी प्रक्रिया से गुजर कर पूँजीवादी समाज अस्तित्व में आया। इस प्रक्रिया में अधिकांश मध्ययुगीन मूल्यों-मान्यताओं का वर्चस्व वहाँ लगभग समाप्त हो गया तथा अपेक्षाकृत सेक्युलर (इहलौकिक) जीवन-दृष्टि व जनवादी मूल्य वहाँ के जीवन में रच-बस गए हैं। पर, भारत में मध्ययुगीन सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक संरचना जब अंदर से टूटने-बिखरने की दिशा में थी, उसी समय उपनिवेशीकरण (ब्रिटिश दासता) ने भारतीय समाज की स्वाभाविक आंतरिक गति की हत्या कर दी। इसी से, आज जो भारतीय पूँजीवाद दिखता है, वह (यूरो-अमेरिकी) पूँजीवादी प्रगतिशील तत्त्वों से रहितप्राक् पूँजीवादी मूल्यों (सामंती-पितृसत्तात्मक मूल्यों) के साथ गठजोड़ किए खड़ाबेहद रुग्ण-विकलांग-बौना पूँजीवाद है। यह न मध्ययुगीन आर्थिक मूलाधार को तोड़ पाता है, न उसकी अधिरचना (जाति, जेंडर आदि) को ही ध्वस्त कर पाता है। यही वह भेद है, जिसके तहत यूरो-अमेरिकी समाज में प्रेम दो व्यक्तियों का निजी मामला माना जाता है, किंतु भारत में 'प्रेम' को इस हद तक समाज-विरोधी कृत्य माना जाता है कि प्रेमियों को बाकायदा जन-पंचायतों के निर्णय के तहत, मार डालने तक की घटनाएँ हो जाती हैं, नहीं, होती रहती हैं। यूरोप-अमेरिका में बहुत हुआ तो दो लोगों के प्रेम/विवाह को किसी की व्यक्तिगत नापसंदगी/विरोध झेलना पड़ सकता है, परंतु भारत की तरह उसका संगठित मुखर विरोध या उस पर जालिम प्रतिक्रिया कभी नहीं होती। भारत का जनतंत्र भी, इस देश के रुग्ण-विकलांग समाज के तुष्टिकरण पर टिका होने से प्रेम की आजादी को कुचलने वाली शक्तियों का ही कुल मिला-जुलाकर पोषण करता है। इन बातों का बेबाक बयान करने वाली कात्यायनी इस देश के बुद्धिजीवियों और तथाकथित प्रगतिशीलों की जमात को भी आड़े हाथों लेती हैं, जो प्रेमियों की हत्या करने वाली बर्बर घटनाओं पर चुप्पी साधे रहती है अथवा विरोध की रस्मी कार्रवाई भर करके अपने सुविधाजीवी खोल में लौट जाती हैजो प्रेम-हन्ता समाज/संस्कृति के प्रति किसी संगठित जन-विद्रोह को आकार देते हुए इसलिए डरती है, क्योंकि इसमें उसे अपनी सुख-सुविधा के छिनने का जोखिम है। कात्यायनी का यह कहना बिल्कुल जायज है कि जिस समाज में तमाम जनवादी अधिकारों एवं समानता के दावों के बावजूद स्त्रियाँ दोयम दर्जे की नागरिक हैं, वहाँ सच्चे अर्थों में प्रेम संभव नहीं है। सच्चे प्रेम या स्वस्थ विवाह की प्रतिष्ठा के लिए स्त्री की गुलामी का अंत होना जरूरी है। स्त्री की गुलामी लंबी समाजार्थिक संरचना से जुड़ी है, अतः स्त्री-मुक्ति हेतु पूरी संरचना (सामंतवाद से लेकर पूँजीवाद तक) में आमूल-चूल परिवर्तन लाना होगा। यानी, वर्ग-विहीन समाज की रचना। इस तरह, इस पुस्तक के जरिये कात्यायनी स्त्री-विमर्श को समाजवादी दायरे में विस्तार देती हैं।

वर्ग-विहीन समाज की दिशा में जाने के लिए 'समाजवादी व्यवस्था' की संक्रमण-अवधि से गुजरना पड़ता है। इस संदर्भ में, लेखिका सोवियत संघ (1917-1953),

चीन (1949-1976), कोरिया, क्यूबा, पूर्वी यूरोपीय देशों में हुए समाजवादी प्रयोगों के दौरान, स्त्री की प्रस्थिति में आए बदलाव के साथ सेक्स, विवाह, परिवार व स्त्री-पुरुष संबंधों में आए परिवर्तनों का इतिहास, विश्वसनीय स्रोतों से जानने की जरूरत बतलाती है। वेश्यावृत्ति और यौन-अपराधों का उनमें पूरी तरह से खात्मा हो गया था, जो मानव-समाज के ज्ञात इतिहास में पहली बार हुआ था। इसी के साथ, कात्यायनी मार्क्स व लेनिन को उद्धृत कर फ्री-सेक्स की अवधारणा ('ग्लास भर पानी' का सिद्धांत) को अराजक-उत्तरदायित्वहीन यौन-संबंध के हिमायती भ्रांत जनों का विचार ठहराती हैं। लेनिन यौन/प्रेम-पिपासा की तृप्ति को ग्लास भर पानी पीने की तरह सहज एवं महत्त्वहीन मानने वालों को गैर-मार्क्सवादी व समाज-विरोधी ठहराते हैं। उनका तर्क है कि पानी पीना व्यक्तिगत मामला है, पर प्यार में दो जीवन भागीदार होते हैं और एक तीसरा (नया) जीवन भी अस्तित्व में आता है। यहीं सामाजिक हित निहित है और यहीं समाज के प्रति कर्तव्य की उत्पत्ति होती है।

मार्क्स के अनुसार, पुरुष व स्त्री का संबंध, मानव प्राणी का मानव प्राणी के साथ सबसे प्राकृतिक संबंध है। ('मैनुस्क्रिप्ट ऑफ 1884')। इस पुस्तक के माध्यम से कात्यायनी ने इस सवाल का ऐतिहासिक विश्लेषण किया है कि वह संबंध (प्रेम) सहज संबंध क्यों नहीं रह गया है और फिर उसे सहज रूप में स्थापित होने देने के लिए क्या परिवर्तन जीवन-व्यवस्था में लाना चाहिए? वे स्पष्ट कहती हैं कि ''बुर्जुआ उत्पादन-प्रणाली और अलगाव की अनिवार्य समाप्ति के बाद, विवाह और परिवार के बुर्जुआ स्वरूप का भी उन्मूलन हो जाएगा, स्त्री-पुरुष स्वतंत्रता और समानता के साथ जोड़े बनाएँगे, स्त्रियाँ तब भोग एवं पुनरुत्पादन का साधन नहीं होंगी, वे पुरुषों पर निर्भर नहीं होंगी, दंपति नागरिक एवं आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर नहीं होंगे, बच्चे अपने माता-पिता पर निर्भर नहीं होंगे और चूल्हे चौखट की दासता से मुक्त स्त्रियाँ सभी उत्पादक एवं सामाजिक कार्रवाइयों में बराबर की भागीदार होंगी।'' (पृ. 47-48) फिर इसी का परिणाम 'प्रेम' की दिशा में होगा, जो एंगेल्स के उद्धरण से वे कहती हैं''ऐसे पुरुषों की पीढ़ी पनपेगी जिसे जीवनभर कभी किसी नारी की देह को पैसा देकर या सामाजिक शक्ति के किसी अन्य साधन के द्वारा खरीदने का मौका नहीं मिलेगा, और ऐसी नारियों की पीढ़ी जिसे कभी सच्चे प्रेम के सिवा और किसी कारण से किसी पुरुष के सामने आत्मसमर्पण करने के लिए विवश नहीं होना पड़ेगा और न ही जिसे आर्थिक परिणामों के भय से अपने को अपने प्रेमी के सामने आत्मसमर्पण करने से कभी रोकना पड़ेगा।'' ('परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति') इसी के साथ, संबंध बनाना, जारी रखना या भार होने पर तोड़कर स्वतंत्र होनास्त्री-पुरुष की स्वेच्छा पर होगा, किसी मजबूरी/दबाव या प्रलोभन पर नहीं। तभी सच्चे प्रेम का आदर्श पूरी तरह साकार होगा।

कात्यायनी की प्रस्तुत पुस्तक स्त्री व पुरुष के प्रेम को असंभव बनाने वाली समाजार्थिक परिस्थितियों का ऐतिहासिक, भौतिकवादी विश्लेषण करते हुए, उसे संभव बनाने हेतु समाजवादी क्रांति की पक्षधर हैं। इस विषय को स्पष्ट करने हेतु, कम्युनिज्म की सैद्धांतिकी का सहारा वे लेती हैं, जिससे किसी हद तक वह सैद्धांतिकी भी पुस्तक विवेचित कर देती है। मात्र 64 पृष्ठों में दीर्घ निबंध की शक्ल में लिखी, यह स्त्री-विमर्श से कुछ आगे की किताब है, जो भाषा की दुरूहता के बावजूद, पठनीय है। इस विषय पर इतनी यथार्थपरक वैचारिक कृति हिंदी में अब तक, कम से कम मेरी दृष्टि में, नहीं आई थी। 'प्रेम' की हत्या करने की परंपरा से संदर्भित प्रत्यक्ष सामाजिक संकट से शुरु हुई यह रचना गहन विमर्श में परिणत होती है, फिर उस परिणति की भी परिणति हमारे सामाजिक धरातल पर प्रयोजनीय जीवन-दृष्टि में होती है। यह शोध है, जो हमें बोध देता है, जिससे प्रेम की राह के अवरोध दूर करने की प्रेरणा मिलती है। 'प्रेम' को बचाना नर-नारी की समता को बचाना है, 'प्रेम' को लाना जीवन की सरसता व मधुरता को लाना हैइसी संदर्भ में पुस्तक का लेखन हुआ लगता है, तो अनुशीलन भी इसी संदर्भ में होना चाहिए।

# लिंग-विमर्श के व्याकरणिक मंच के पीछे लिंग-भेद का सांस्कृतिक नेपथ्य

'अर्द्ध मात्रा लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणः' (परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा-122)व्याकरण-जगत् में प्रसिद्ध इस सूत्र के पीछे एक पूरी सामाजिक मानसिकता झलकती है। इसका तात्पर्य है कि भाषा के व्याकरण को सूत्रबद्ध करते समय यदि वैयाकरण आधी मात्रा की भी बचत कर लेता है तो उसे पुत्र जनमने का सा आनंद होता है। व्याकरण-निर्माण के ज्ञानजन्य सुख की उपमा के रूप में यदि बेटे के जन्म का आह्लाद विद्वद्-वर्ग को सूझता है, तो यह कोई संयोग नहीं, बल्कि उसके मन में बैठा वह गहरा लिंग-भेद है जो समाज से होते हुए भाषा में, फिर भाषा से उसके विवेचन ('व्याकरण') तक में प्रविष्ट हुआ है।

भाषा-व्याकरण में 'लिंग' नामक अवधारणा सदियों से समाज में चल रहे स्त्री-पुरुष मूलक विभेद-भावना का ही प्रतिनिधित्व नहीं करती, बल्कि (जैसा समाज में रहा है, वैसा ही) पुंलिंग का वर्चस्व भी स्त्रीलिंग पर दिखलाती है। यानी, पुंलिंग के सामने स्त्रीलिंग को दोयम दर्जे का सिद्ध मानकर 'लिंग' नामक अवधारणा खड़ी हुई है।

भाषा के अधिकतर प्रभावशाली, निर्णायक, शक्ति सूचक शब्द पुरुषवाची हैं। इसके साथ, भाषा में स्त्रीलिंग शब्दों की व्युत्पत्ति पुंलिंग शब्दों से करने की सहज सी प्रक्रिया रही है। यह प्रवृत्ति पुंलिंग शब्दों को मौलिक और स्त्रीलिंग शब्दों को उनसे व्युत्पन्न (यानी, अमौलिक) ठहराती है। यह 'बाइबिल' की विख्यात दंतकथा[1] के अनुरूप है, जिसमें पुरुष के शरीर से स्त्री उत्पन्न हुई है। यह तो जीवविज्ञान के सिद्ध तथ्य को एकदम उलट के रख देना हुआ। स्त्री से जन्म लेने के बावजूद संतान पर पुरुष का हक मानना तो जारी है ही, बल्कि इससे भी बढ़कर प्रजनन क्रिया में स्त्री की मुख्य भूमिका को भी नकार कर पुरुष को मुख्य (बीजदाता, किसान) तथा स्त्री को गौण (खेत भर) कहा गया है। आज तक एक आम सामाजिक सोच में यही मूर्खता काम कर रही है। इसी सामाजिक विडंबना के परिप्रेक्ष्य में व्याकरण में 'लिंग' नाम का अध्याय बनकर खड़ा हुआ है।



भाषा की इस प्रकार की लिंगभेदी प्रवृत्ति अधिक सभ्य जातियों की भाषाओं में अधिक स्पष्ट होती है तथा कम सभ्य या असभ्यप्राय जातियों की भाषाओं में कम स्पष्ट या अस्पष्ट। इसका सीधा सा कारण है कि स्त्री-पुरुष के बीच समता के सूत्र कथित असभ्य जातियों में ज्यादा हैं, क्योंकि स्त्री को दोयम दर्जे में डालने वाली विचारधारा (पितृसत्ता) सभ्यताकृत/सांस्कृतिक है और वे जातियाँ प्रकृति के अधिक निकट हैं। इसी से स्त्री-पुरुष के बीच विभेद करने वाली मानसिकता से जनजातीय भाषाएँ कम ग्रस्त या मुक्तप्राय हैं। सभ्यता में बढ़ी-चढ़ी जातियों की भाषाओं में वाक्य-प्रयोग के घटकों में भी लिंग-भेद की छाया अधिक दिखती है; साथ ही पुंलिंग प्रयोग में ही स्त्रीलिंग को समाहित मानने की जबरदस्ती भी खूब दिखाई देती है। फिर, यदि सभ्यता का विकास अधिक (वैज्ञानिक-लोकतांत्रिक मूल्यों पर) हो जाने के कारण स्त्री-पुरुष के बीच का विभेद कम होते गया, तो तत्-तत् भाषा में लिंग-भेद की सूचनाएँ भी धीरे-धीरे खोती जाती हैं। यह बात हम 'हिंदी' और 'अंग्रेजी' भाषाओं के संदर्भ में समझ सकते/सकती हैं। 'हिंदी' में जहाँ लिंग-भेद बहुत मजबूत अवस्था में है, वहीं 'अंग्रेजी' में अब इसकी धुंधली छाया भर रह गई है। यह बात थोड़ी देर में स्पष्ट की जाएगी।

भाषा का विवेचन करके नियम निर्धारित करता है 'व्याकरण'। इसलिए, जब तक भाषा में लिंग-भेद का भाव बना रहेगा, व्याकरण के नियमों में भी झलकता रहेगा। अर्थात्, कहा जा सकता है कि व्याकरण का लिंगभेदी होना भाषिक समाज के लिंग-भेदी होने का परिणाम है। फिर भी, वैयाकरण पूरी तरह निर्दोष नहीं कहला सकता। कारण है, उसकी 'पुत्रोत्सव'वादी मानसिकता।

लिंग को लेकर व्याकरण-संसार में एक विचार व्याप्त रहा है कि बड़ा, स्वतंत्र या कठोर के वाचक शब्द पुंलिंग श्रेणी में आते हैं तथा छोटा, पराधीन या नाजुक के वाचक शब्द स्त्रीलिंग श्रेणी में होते हैं। यद्यपि यह बात सदैव घटित न हो सकी है, क्योंकि लिंग-धारणा के विकास का एक अपना जटिल इतिहास है। परंतु, भाषा-विकास में उक्त तरह के कोटीकरण को मोटे तौर पर स्वीकृति प्राप्त है। वैयाकरण उसमें कुछ अपनी तरफ से मजबूती ला देते हैं, जब वे भाषा का व्याकरण लिखने बैठते हैं। इस विसंगति का एक प्रमुख आधार वैयाकरणों की पाँत में स्त्री की नगण्यता भी है, वैसे इक्की-दुक्की स्त्री वैयाकरण होकर भी क्या कर सकती है जबकि पितृसत्तात्मक सोच सर्वाच्छादी है? जब पंडित किशोरीदास वाजपेयी 'आत्मा' के स्त्रीलिंग और 'परमात्मा' के पुंलिंग होने का तर्क पेश करते हैं तो बाल खुलकर सामने आ जाती है। उनका कथन है[2]''आत्मा तो ईश्वर के अधीन है, स्वतंत्र नहीं है। परमात्मा स्वाधीन है, स्वतंत्र है। स्वतंत्रता की व्यंजना के लिए परमात्मा पुंलिंग में तथा पराधीनता के प्रदर्शन के लिए आत्मा स्त्रीलिंग में है।'' स्पष्ट होता है कि स्त्री और पुरुष को लेकर गुणों या सामाजिक व्यवहार के कोटीकरण की लिंगभेदी-अलोकतांत्रिक-मानसिकता 'व्याकरण'

जैसे तटस्थ विवेचन के दावेदार शास्त्र में किस प्रकार प्रविष्ट हुई है। सदियों पहले से ही निर्मित किए गए इस झूठ से वैयाकरण भी बुरी तरह ग्रस्त दिखता है कि स्त्री पुरुष के सामने हीन, नाजुक और गुलाम होती है। यानी, वैयाकरण अपने विवेचनात्मक दायित्व का लोकतांत्रिक मूल्यों के अनुसार निर्वाह न कर पाने की स्थिति में, स्त्री को अबला बनानेवाली अंतरराष्ट्रीय सांस्कृतिक परियोजना का (अनजाने में?) एक हिस्सा बन जाता है।

'लिंग' की अवधारणा का मजबूती से बने रहना (हिंदी-) व्याकरण पर पुरुषवादी होने का आरोप लगने की पृष्ठभूमि बनाता है। इसका सबसे पहला और बड़ा प्रमाण तो यही है कि इस अर्थ में पाणिनि और 'साहित्यदर्पण' कार विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त 'व्यक्ति' शब्द को हटाकर (हिंदी-) व्याकरण ने 'लिंग' शब्द को अपनाया। यदि भाषा में भी पुरुष और स्त्री की भेदकता दिखलाना जरूरी ही था, तो उसके लिए पारिभाषिक शब्द के रूप में पुरुष-यौनांग 'लिंग' को ही क्यों चुना गया? यह चुनाव क्या उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार 'नारी' के व्यक्तित्व की पहचान 'नर' से उसके संबंध का मोहताज हो, जबकि जीववैज्ञानिक आधार पर 'नर' की पहचान ही 'नारी' (के जननी होने के कारण उस) के मोहताज होनी चाहिए। नारी-यौनांग 'योनि' को पारिभाषिक शब्द क्या नहीं बनाया जा सकता था, जो व्यापकतर अर्थ रखता है, न सिर्फ जीवविज्ञान की दृष्टि से, अपितु भाषा के सांस्कृतिक अर्थविज्ञान की दृष्टि से भी? 'पुंलिंग' व 'स्त्रीलिंग' की जगह 'पुंयोनि' व 'स्त्रीयोनि' शब्द निश्चित रूप से सटीक होते। 'योनि' का अर्थ जाति-प्रजाति तक चला जाता है, जबकि 'लिंग' का अर्थ 'चिह्न' तक ही सिमटकर रह जाता है। पंडित किशोरीदास वाजपेयी ने अपने 'हिंदी-शब्दानुशासन' में 'लिंग' की जगह पारिभाषिक शब्द के रूप में 'व्यक्ति' और 'जाति' शब्द का प्रयोग कर अवश्य तर्क-बुद्धि का परिचय दिया है; भले वे इस बात पर सदा कायम नहीं रह सके हैं। 'योनि' से भी आपत्ति थी तो व्याकरण कोई तीसरा शब्द भी चुन सकता था, जैसा अंग्रेजी का 'जेंडर' शब्द है। हिंदी-संस्कृत भाषाओं की दिक्कत यह भी है कि उनमें प्राकृतिक लिंग (sex) और सांस्कृतिक/व्याकरणिक लिंग (gender) के वाचन के लिए गिन-चुनकर एक ही शब्द है और वह है अभागा 'लिंग'।

भाषा और उसके व्याकरण में लिंग-भेद या 'लिंग' अवधारणा के उपस्थित रहने का क्या अर्थ है? यानी, किस आधार पर कहा जा सकता है कि किसी भाषा में 'लिंग' की सत्ता है? लोक में स्त्री-पुरुष जातियों के वाचक शब्द भाषा में तो रहते ही हैंजैसे लड़का (boy), लड़की (girl) या पिता (father), माता (mother)। परंतु, इनके रहने मात्र से भाषा में लिंग का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो जाता। कारण कि इन दो प्रकार के अर्थों (पदार्थों) के वाचक शब्द उसी प्रकार माने जा सकते हैं, जिस प्रकार आदमी-घोड़ा, लड़की-शेरनी दो अलग-अलग स्वतंत्र अर्थों के वाचक शब्द हैं। लड़का-लड़की जैसे शब्दों का अर्थ-भेद प्राकृतिक लिंग (sex) गत अर्थभेद है और आदमी-घोड़ा जैसे शब्दों



का अर्थ-भेद प्राकृतिक जाति (प्राणी-वर्ग) गत अर्थभेद है। बस, इतना सा अंतर है। परंतु, यह तो है लौकिक अर्थ का क्षेत्र ही। जब तक व्याकरणिक अर्थ (व्याकरणिक कोटि) के रूप में 'लिंग' (gender) की भूमिका न दिखाई दे, तब तक भाषा (व्याकरण) में 'लिंग' (gender) की सत्ता अमान्य है। यानी, लड़का-लड़की जैसे शब्दों का लिंग-गत अर्थभेद भाषा में इनके प्रयोग-भेद के रूप में ढलता दिखलाई पड़े, तभी माना जाएगा कि भाषा में 'लिंग' (gender) की सत्ता है। उदाहरण से बात स्पष्ट करें। अंग्रेजी में boy और girl को लेकर प्रयोग-संबंधी (क्रिया, विशेषण या किसी संबंधसूचक) तत्त्व में कोई भेद नहीं दिखता 'Boy goes' है तो 'girl goes' ही है। क्रिया समान ही है दोनों के लिए। पर, हिंदी में 'लड़का' के लिए 'जाता है' प्रयुक्त होता है, तो 'लड़की' के लिए 'जाती है'। हिंदी में 'लड़का' व 'लड़की' को लेकर प्रयोग-भेद है; क्योंकि हिंदी भाषी समाज में 'लड़का' व 'लड़की' को लेकर व्यवहार-भेद गहरा है। संस्कृत के क्रिया रूपों (तिङन्तों) में कोई लिंग-भेद नहीं है'रामः गच्छति' तो 'सीता गच्छति'। पर, इतना ही देखकर यह न समझ लेना चाहिए कि संस्कृत भाषा लिंग-भेदी नहीं है। उसमें कृदन्त क्रिया रूपों या विशेषणीभूत कृदंतों का भी विशाल संसार है जो गहन लिंगभेद का शिकार है'रामः गतवान्' तो 'सीता गतवती'। इसके अलावा, विशेषण और अन्य पुरुष के सारे सर्वनाम लिंग-भेद पर खड़े हैं। पितृसत्तात्मक मनुवादी संस्कृति में ढली भाषा से लिंगभेद-हीन होने की उम्मीद भी कैसे की जाएगी? अंग्रेजी भाषा की मूल भाव-प्रकृति लिंगभेद को नहीं मानती, क्योंकि अंग्रेजी भाषी समाज में स्त्री पुरुष भेद अपेक्षाकृत हल्का हो चुका है। कहने के लिए तो अंग्रेजी भाषा में पुंलिंग (masculine gender), स्त्रीलिंग (feminine gender), नपुंसक (क्लीब) लिंग (Neuter gender) और उभय लिंग (common gender) हैं, पर भाषिक प्रयोग में इनकी सत्ता प्रायः नहीं दिखती। अन्य पुरुष (Third person) के तीन सर्वनाम (pronoun) हैं He, She, Itबस, इन्हीं से पता चलता है कि अंग्रेजी में पुंलिंग, स्त्रीलिंग व नपुंसक लिंग नामक कोई चीज भी है। फिर, इन सर्वनामों से बने सार्वनामिक विशेषण (His, Her, Its) आदि हैं, जिनसे भी 'जेंडर' नामक तत्त्व की सूचना मिलती है। शेष कोई प्रमुख क्षेत्र है ही नहीं, जिनसे पता चले कि अंग्रेजी भाषा पुरुष व स्त्री में भेद करती है। फिर, चौथा बहुकथित common gender तो सिर्फ कहने की बात है। उसका सूचक तो कोई सर्वनाम या सार्वनामिक विशेषण भी नहीं है, जिससे संकेत मिले कि अमुक शब्द common gender में है। परंतु, हिंदी में जब हम यह कहते हैं कि 'वह जाती है', फिर 'वह जाता है', तो स्पष्ट होता है कि प्रथम वाक्य का कर्ता 'वह' स्त्रीलिंग है, दूसरे वाक्य का कर्ता 'वह' पुंलिंग है। यानी, रूप एक होने के बावजूद ये दोनों 'वह' अलग-अलग अर्थों (स्त्री व पुरुष) के वाचक हैं। व्याकरण रूप को महत्त्व देता है, इसलिए कहा जा सकता है कि हिंदी के सारे सर्वनाम उभयलिंगी (common gender) हैंवह-वे, यह-ये, कौन, जो...सो (जिन...तिन),

कोई, क्या, तू-तुम, मैं-हम। सभी एक ही रूप में दोनों लिंगों में प्रयुक्त होने की क्षमता रखते हैं अथवा स्त्रीलिंग और पुंलिंग दोनों अर्थों का वाचन हिंदी सर्वनाम करते हैं। अंग्रेजी में उभयलिंग तो सिर्फ कहने भर को है। फिर, बाकी तीन लिंग भी अंग्रेजी में क्षीण अस्तित्व ही प्रायः रखते हैं, वह भी कुछ संस्कार (He, She, It) रूप में, जो पुराने युग का अवशेष मात्र है। परंतु, हिंदी भाषा (-व्याकरण) में तो लिंग-भेद बड़ी दृढ़ता से बैठा हुआ है।

भाषा में 'लिंग' का अस्तित्व मानने का एक और क्षेत्र है'व्युत्पत्ति' या 'शब्द-निर्माण'। यद्यपि यह क्षेत्र 'व्याकरण'-बाह्य है। शब्द तो लोक के खेत में स्वतः आवश्यकतानुरूप पैदा होते रहते हैं अथवा जरूरत के हिसाब से लोक के कारखाने में बनकर प्रयोग में चलते दिखते हैं। वैयाकरण का कार्य प्रयोग/व्यवहार में दिख रहे शब्दों की निर्माण-प्रक्रिया का विवेचन भर कर देना है, शब्द बनाना नहीं। व्याकरण शब्दों की व्युत्पत्ति का विवेचन भी अब जाकर करने लगा है। प्राचीन काल में उसके लिए अलग संप्रदाय (स्कूल) था, जिसका नाम 'निरुक्त' था। खैर! आज तो 'व्युत्पत्ति' संप्रदाय व्याकरण का अनिवार्य अंग सा बना हुआ है।

'व्युत्पत्ति' में देखा जाता है कि 'लिंग' की स्पष्ट भूमिका है। हिंदी संस्कृत में तो है ही, अंग्रेजी में भी है। कुछ खास प्रत्यय ('स्त्री-प्रत्यय') कई भाषाओं में हैं, जो पुंलिंग शब्दों में लगकर स्त्रीलिंग शब्द व्युत्पन्न करते हैंऐसी व्यवस्था है, जिसका उल्लेख उन-उन भाषाओं के व्याकरणों में होता है। जैसेलड़का + ई = लड़की। बाल + आ = बाला। God + ess = Goddess, Hero + ine = Heroine. भाषा की यह व्यवस्था, जिसका संधान व्याकरण ने किया है, स्त्रीलिंग को पुंलिंग के सामने कमतर आँकने की मानसिकता की देन है। क्या व्याकरण का यह दोष है अथवा लोक/भाषा में चल रही शब्द-निर्माण की प्रक्रिया की निर्दोष व्याख्या मात्र है? चाहे शब्द-निर्माण में लोक कितना भी स्वतंत्र हो, पर उसकी प्रक्रिया को 'पुंलिंग शब्द + (स्त्री) प्रत्यय' के रूप में विवेचित करने और इस प्रकार पुंलिंग शब्दों को मूल और स्त्रीलिंग को व्युत्पन्न (गौण) बनाने का दोष तो व्याकरण ने ही अपने सिर पर लिया है। व्याकरण चाहे अपनी सीमा की कितनी भी सफाई दे, पर 'प्रकृति + प्रत्यय' कल्पना का ढंग तो थोड़ा-बहुत बदल ही सकता है जिससे स्त्रीलिंग शब्दों को द्वितीयक (व्युत्पन्न) ही मानने की रूढ़ि टूटे। पर, नहीं। संस्कृत व्याकरण में तो स्त्रीप्रत्यय मात्र हैं, पुंलिंग-प्रत्यय नहीं। यानी, संस्कृत-व्याकरण में पुंलिंग की प्राथमिकता का कोई विकल्प न सोचा गया है। हिंदी व अंग्रेजी में भी कमोबेश यही स्थिति है, पर थोड़ा सा फर्क है। इसकी चर्चा आगे करेंगे। डॉ. राजेंद्र प्रसाद सिंह की पुस्तक 'भाषा का समाजशास्त्र' में कहा गया है कि मुंडा भाषाओं में मूल शब्दों में पुरुषवाचक व स्त्रीवाचक अंशों/शब्दों को जोड़कर पुंलिंग व स्त्रीलिंग अर्थों की सूचना दी जाती है।[3] यदि ऐसा है तो निश्चय ही हिंदी-अंग्रेजी-संस्कृत आदि से मुंडा भाषाओं की लिंगगत व्युत्पत्ति अधिक तर्कपूर्ण है,



क्योंकि व्युत्पत्ति ऐसी है ही नहीं कि स्त्रीलिंग-पुंलिंग में से किसी की किसी पर सत्ता सिद्ध हो। डॉ. सिंह ने इसका कारण यह बतलाया कि वे भाषाएँ अधिक प्राचीन हैं, इसलिए लिंग-भेद की अवधारणा उनमें धुँधली सी है, प्रारंभिक अवस्था में है। भाषा वैज्ञानिकों की मान्यता है कि पुंसत्व व स्त्रीत्व का लिंग-भेद बाद की घटना है।

'व्युत्पत्ति' पर विचार करते हुए यह भी ध्यातव्य है कि बहुत से पुंलिंग व स्त्रीलिंग शब्द-युग्म एकदम स्वतंत्र शब्द होते हैं। जैसेपिता-माता, Father-Mother पति-पत्नी, boy-girl आदि। यहाँ ध्वनि-परिवर्तन के किसी ऐसे नियम का संधान नहीं किया जा सकता जो 'पिता' शब्द से 'माता' को सिद्ध कर सके और इस प्रकार किसी ऐसे प्रत्यय की कल्पना नहीं की जा सकती जो 'पिता' में लगकर 'माता' शब्द की व्युत्पत्ति करता दिखे। ('माता' से 'पिता' की व्युत्पत्ति दिखलाने की कोशिश तो खैर वैयाकरण का पितृसत्तात्मक मन करेगा ही नहीं।) फिर भी वैयाकरण बाज कब आया है? हर शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाने का प्रयत्न करता ही है। क्या इसलिए कि स्त्रीलिंग शब्द को स्वतंत्र देखना वैयाकरण के पितृसत्तात्मक मस्तिष्क को अग्राह्य है, जो वह लिंगगत ऐसे शब्द-युग्मों में भी स्त्रीप्रत्यय-जन्य व्युत्पत्ति की कथा गढ़ता है? पाणिनि ने 'पति' से 'पत्नी' की व्युत्पत्ति सिद्ध करने की जो व्याख्या दी, यह उनकी विवशता हो सकती है, वास्तविकता नहीं। 'पत्युर्नो यज्ञ संयोगे' (अष्टाध्यायी 4-1-33)पति के यज्ञ-कार्य में सहयोग प्रदान करने से (पति + ङीप्/नुक्) 'पत्नी' की व्युत्पत्ति, स्त्री की निम्नतर सामाजिक स्थिति की आख्यात्री है। स्त्री का पत्नीत्व उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की समाप्ति और 'पति' नामक मर्द-विशेष के सुख/कल्याण-साधन में उसके विलीनीकरण का पर्याय बना रहा हैयह त्रासद सच ही पाणिनि को 'पति' से 'पत्नी' शब्द की उक्त प्रकार से सिद्धि करने को विवश कर सका। इस पाणिनीय व्युत्पत्ति की छाया में महाभाष्यकार द्वारा यह वितर्क उठाया गया कि जब शूद्र को वेदपाठ या यज्ञादिक का अधिकार ही नहीं है तो शूद्र पुरुष की ब्याहता को उसकी 'पत्नी' कैसे कहा जा सकता है? तब खुद उन्होंने समाधान दिया कि उपमान या लक्षणा से ऐसा कहा जा सकता है।[4] यानी 'यज्ञ-कार्य में सहयोग' का लक्ष्यार्थ 'सहयोग' लेकर शूद्र पुरुष की स्त्री को उसकी 'पत्नी' कहा जा सकता है। इन सब पचड़ों में पड़ने की जगह यदि 'पति' व 'पत्नी' जैसे शब्द-युग्म को 'आदमी' व 'घोड़ा' जैसे अलग-अलग स्वतंत्र शब्द मानकर चला जाता तो क्या गड़बड़ी होती? पुंलिंग की सत्ता कमजोर होतीयही न? (औरत स्वतंत्र रह जाए, तो मर्दानगी किस काम की?) समग्रतः, वैयाकरण भी समाज में व्याप्त लिंगगत, जातिगत पूर्वग्रहों से स्वयं को बचा नहीं पाता।

प्रत्यय जोड़ने की जगह, लिंगगत व्युत्पत्ति का एक गौण क्षेत्र हैसमास-प्रक्रिया द्वारा व्युत्पत्ति। जैसेखिलाड़ी (पुं.) > महिला खिलाड़ी (स्त्री.); कोकिल (स्त्री.) > पुंस्कोकिल (पुं.)। Pea-cock (पुं.) > Pea-hen (स्त्री.)।

यहाँ स्पष्ट है कि इस प्रकार की व्युत्पत्ति पुंलिंग से स्त्रीलिंग की ओर ही नहीं,

बल्कि स्त्रीलिंग से पुंलिंग की ओर भी होती है। परंतु, यह व्युत्पत्ति का गौण क्षेत्र है। मुख्य क्षेत्र है प्रत्यय द्वारा व्युत्पत्ति, जहाँ पुंलिंगवाद का ही राज्य है'पुंलिंग (मूल शब्द) + स्त्री प्रत्यय = स्त्रीलिंग शब्द'इस रूप में।

इतने विवेचन से स्पष्ट है कि यदि 'व्युत्पत्ति' को व्याकरण का अनिवार्य अंग माना जाए, तब तो अंग्रेजी भाषा में भी लिंग की सत्ता है क्योंकि उसमें लिंग की भूमिका व्युत्पत्ति में है। परंतु, यदि केवल भाषा-प्रयोग (पदत्व और वाक्य-रचना) को व्याकरण का विवेच्य मानें, तो अंग्रेजी भाषा में लिंग की सत्ता नहीं है क्योंकि वहाँ भाषा-प्रयोग में लिंग की कोई भूमिका नहीं है। हिंदी भाषा तो दोनों दृष्टियों से 'लिंग' की सत्ता को स्वीकार किए बैठी है।

(हिंदी) भाषा और उसके व्याकरण के पुरुषवादी होने के ढेर सारे संकेत मौजूद हैं। हम बिंदुवार विचार करते हैं।

(1) उपर्युक्त 'व्युत्पत्ति' नामक प्रकरण में स्त्रीलिंग की पुंलिंग के सामने हीनता प्रकट की गई है। इसी संदर्भ में, जब जातिवाचक संज्ञाओं से भाववाचक संज्ञाएँ बनाते हैं तो किसी जातिवाची पुं. शब्द को ही मूलवत् मानकर आचरण करते हैं, भले उसका स्त्रीलिंग भी परंपरा में प्रतिष्ठित रहा हो। जैसे'आचार्य' और 'आचार्या' दोनों शब्द मौजूद हैं, परंतु हम (आचार्य-कर्म/गुण हो या आचार्या-कर्म/गुण, दोनों के लिए) 'आचार्य + त्व > आचार्यत्व' शब्द ही बनाते हैं। इसी प्रकार 'अध्यक्ष' व 'अध्यक्षा' दोनों के कर्म को 'अध्यक्षता' ही कहते हैं। जैसेपंडित नेहरू ने सभा की **अध्यक्षता** की। इंदिरा गांधी ने सभा की **अध्यक्षता** की। ऐसा हम भूलकर भी नहीं कहते कि 'इंदिरा गांधी ने सभा की **अध्यक्षाता** की।'

(2) व्याकरण में 'एकशेष' की प्रक्रिया भी व्याख्यायित हुई है। लिंग के क्षेत्र में भी 'एकशेष' अपना काम करते रहा है। भाषा-प्रयोग में स्त्रीलिंग, पुंलिंग दोनों श्रेणियों के शब्द मौजूद रहने पर यदि 'एकशेष' करना चाहें तो हम प्रायः 'पुंलिंग' शब्द को रख लेते/लेती हैं और स्त्रीलिंग शब्द को उसी में समाहित मान लेते/लेती हैं। संस्कृत में 'माता च पिता च' की जगह 'पितरौ' शब्द रख दिया गया और 'मातृ-पितरौ' (माता-पिता) का अर्थ इसी से निकलने लगा। 'मातरौ' कहकर उसमें भी 'पिता' को समेटा जा सकता था, परंतु वैसा नहीं किया जा सका। कारण यही हो सकता है कि भले 'मनुस्मृति' ने कहने के लिए 'सौ आचार्यों के बराबर पिता का महत्त्व (है) तथा पिता से सौगुना माता का महत्त्व (है)'' कहा है, पर मनुवादी परंपरा में यथार्थ तो यही है कि पुरुष के आगे स्त्री का मूल्य ही क्या है? 'एकशेष' की उक्त प्रक्रिया ने 'पिता' के बराबर भी 'माँ' को न रहने दिया और 'पिता' में ही 'माँ' को विलीन कर छोड़ा। कालिदास ने 'रघुवंशम्' में कहा'जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ' अर्थात् संसार के माँ-बाप पार्वती और परमेश्वर (शिव) की मैं वंदना करता हूँ, तो उसी परंपरा में उनकी मानसिकता फिट हुई लगती है। ठीक है कि भाषा की संरचना सदियों की



समाज-गति का परिणाम है, परंतु असाधारण व्यक्ति उसमें अपनी तर्कबुद्धि से (लोकतांत्रिक सुधारार्थ) कुछ विचलन तो ला ही सकते हैं। कुछ नहीं तो 'पितरौ' की जगह कालिदास 'मातृ-पितरौ' लिख सकते थे। उनका पक्षपात तो इसी से साफ हो जाता है कि पत्नी (पार्वती) का निर्विशेषण नाम भर लिखते हैं, पर पति (शिव) को सीधे 'परमेश्वर' बना डालते हैं।

'एकशेष' के ढेर सारे प्रयोग हमसे होते हैं। समाज का मानसिक झुकाव जिधर होता हैदो लिंगों में से उसी एक का ग्रहण कर शेष को उसी में वह समाहित मान लेता है। संकेत स्पष्ट है कि पुरुष वर्चस्व के इस समाज में प्रायः पुंलिंग रह जाता है और स्त्रीलिंग छूट जाता है। जैसे'बच्चे और बच्चियाँ खेल रहे हैं।'' हम ऐसा वाक्य प्रयोग करने में परेशानी का अनुभव करते/करती हैं (क्योंकि स्त्री को अलग से जगह देने में समाज ही नहीं सरकार भी परेशानी का अनुभव करती है और उसे पुरुष/पति के घर में ही ठूँस देती है, भले उसकी अलग से नौकरी हो।)। हम 'एकशेष' में बोलते/बोलती हैं'बच्चे खेल रहे हैं।' इसी प्रकार, 'पचास आदमी बैठ सकते हैं' का प्रयोग कर हम मानकर चलते/चलती हैं कि इसमें 'औरतें' भी आ गईं। पर, 'औरतें बैठ सकती हैं'इस प्रयोग में हम मानकर चलते/चलती हैं कि इसमें 'आदमी' नहीं आ पाते। (बेचारा पुरुष! औरत की जगह में बैठकर अपनी मर्दानगी को बट्टा लगाने से डरता है। औरत की कमाई खाना उसके पौरुष को कब रास आएगा? वह तो औरत को नौकरी से हटवा कर ही मूँछे टाइट रख सकता है, भले अपनी बेरोजगारी में उसे भी भूखा मार डाले।) अंग्रेजी में भी 'man' का प्रयोग कर 'woman' को उसमें स्वतः समाहित मान लेते हैं/लेती हैं; परंतु इसका उलटा कभी नहीं होता।

भाषा में कार्यरत यह पूरी प्रवृत्ति पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना के उस विराट दोष की छाया है, जिसमें स्त्री को कहीं भी जगह न देने पर मौन सहमति है। हर जगह 'पुत्र' शब्द चला है, 'भाई' शब्द चला है, 'भाई-चारा' शब्द चला है। लगता है 'बहन' रहती ही नहीं दुनिया में। 'हिंदू-मुस्लिम-सिक्ख-ईसाई/सब आपस में भाई-भाई' नारा कितने हिंसक रूप से अधूरा है। क्या यह उसी खंडित चेतना से नहीं निकला, जिससे गर्भ में/जन्म बाद कन्याओं को साफ कर देने की खुराफाती सोच निकली? इसी तरह, अंग्रेजी में नियमावली के लिए 'Manual', प्रबंध करने के लिए 'Manage', अधिदेश के लिए 'Mandate', श्रम-घंटे के लिए 'Man-hour', साहसपूर्वक के लिए 'Manfully', कृत्रिम के लिए 'Man-made', ढंग के लिए 'Manner', चाल चलने के लिए 'Manoeuvre', हवेली के लिए 'Manor', श्रमशक्ति के लिए 'Manpower', निर्माण करने के लिए 'Manufacture', पांडुलिपि के लिए 'Manuscript', मानवता के लिए 'Mankind' तथा बुरी तरह पीटने के लिए 'Mangle' जैसे शब्दों का चलन क्या उसी सामाजिकता की प्रतिच्छाया नहीं है, जिसमें किसी महत्त्वपूर्ण कार्य में 'woman' को स्थान न दिया गया है, चाहे वह निर्माण हो, व्यवस्था

हो, ताकत हो या ताकत-प्रदर्शन कर पीटना (घरेलू हिंसा?)।

हिंदी भाषा में कहीं-कहीं 'एकशेष' की प्रक्रिया में पुंलिंग भी स्त्रीलिंग में विलीन होते दिखा है, पर गहराई से देखें तो वहाँ भी पितृसत्ता का स्वार्थ नजर आता है। 'गायें/बकरियाँ चल रही हैं'इस प्रयोग में पुंलिंग 'बैल/बकरे' भी आ जाते हैं, तो कारण यही है कि चूँकि समाज की स्वार्थबुद्धि 'गाय/बकरी' की तरफ ज्यादा ढरी रहती है, इसलिए उन्हें प्रमुखता मिलती है। कहावत भी है'हे भगवान्! इंसान को बेटा देना और जानवर को बेटी।' 'औरत के हक में' पुस्तक में तसलीमा नसरीन ने एक बंगला कहावत दी है कि ''अभागे की गाय मरती है और भाग्यवान की बीवी''। मानव में स्त्री को पुरुष से हीन मानने की प्रवृत्ति पशु जगत् में स्वार्थवश उलटी हो जा रही है। इस स्वार्थबुद्धि के अलावा, क्षुद्रचेतन की बात आने पर भी कभी स्त्रीलिंग में पुंलिंग का विलीनीकरण दिखता है। जैसे'जुएँ रेंगती हैं' या 'कोयलें कूक रही हैं'। चूँकि इन क्षुद्रचेतनों में लिंग-भेद से हमारे स्वार्थ में कोई अंतर नहीं आता, इसलिए हमने यहाँ 'स्त्रीलिंग' को महत्त्व दे दिया, तो हमें कोई घाटा तो नहीं है।

(3) पुंलिंग विशेषण से स्त्रीलिंग संज्ञा/सर्वनाम को भी विशेषित करने की प्रवृत्ति हिंदी भाषा में दिखती है, परंतु इसका विपरीत एकदम नहीं होता। जैसे'सुंदर' (पुं.) विशेषण लड़की के लिए भी चल जाता है, पर 'सुंदरी' (स्त्री.) विशेषण 'लड़का' के लिए एकदम नहीं चलता। वैसे इस घटना को हिंदी में कम हो रहे लिंग-भेद के रूप में भी विश्लेषित किया जा सकता है। संस्कृत भाषा विशेषणों में अनिवार्यतः लिंग-भेद रखती है, जिससे हिंदी बहुत हद तक मुक्त हो चुकी है। हिंदी में अकारांत (पुं.?) विशेषणों के स्त्रीलिंगी रूप की जरूरत नहीं पड़ती, पर संस्कृताभिमानी जन वहाँ भी हस्तक्षेप किए बिना नहीं मानते। 'बुद्धिमान लड़की' को 'बुद्धिमती' बनाकर ही छोड़ते हैं। वैसे लिंग-भेद मिटना अच्छा ही है, पर उसके मिटने का रूप पुंलिंग को ही स्वीकार करके हो, यह प्रवृत्ति निश्चय ही स्त्री-विरोधी मानसिकता की देन है। यदि एक क्रिया रूप रखना ही है तो 'जाती है' जैसा रखकर भी हिंदी काम चला सकती है, पर लिंग-भेद मिटाने का रास्ता 'जाता है' से ही होकर जाएयह मर्दानापन ही कहा जा सकता है। यहाँ तर्क वह नहीं है कि स्त्री व पुरुष की पोशाक का लिंग-भेद मिट रहा हैपुरुष-पोशाकों की स्वीकृति में। कारणपोशाक न पुरुष होती है, न स्त्री। वह सुविधाजनक या असुविधाजनक तो हो सकती है, परंतु स्त्री व पुरुष में कैसे बँट सकती है? यह तो कोई मूढ़ ही कह सकता है कि ओढ़नी-सलवार या ब्लाउज-साड़ी की जगह पैंट-शर्ट अपना कर लिंग-भेद मिटाने की स्त्रियों की प्रवृत्ति में उनका मर्दानापन का शिकार बनना है। लिंग-भेद मिटने का रास्ता स्त्री व पुरुष दोनों को साड़ी जैसी असुविधाजनक पोशाक में अँटाकर नहीं खुल सकता। यही ठीक है। परंतु, पोशाक का यह तर्क भाषा में नहीं चल सकता। 'जाता' व 'जाती' दोनों में से कोई भी न विशेष सुविधाजनक है, न असुविधाजनक। किसी एक को अपना कर लिंग-भेद



मिटे तो आपत्ति की क्या बात है? परंतु, असली बात मिटाने के तरीके के पीछे काम कर रही मानसिकता की है। बेटियों को दुलार में लोगों द्वारा 'बेटा' या 'पुत्तर' कह दिया जाना खुशी का नहीं, दुःख का विषय ही है। बेटी को बेटी रूप में ही स्वीकार करते जाना उस पर दुलार लुटाना या गर्व करना ही सही रास्ता है। एक अखबार में एक रोचक खबर पढ़ी कि लड़कियाँ अपने भीतर की हर हीन भावना को मिटाकर भाषा-प्रयोग के स्तर पर भी स्मार्ट बन रही हैं। अखबार ने दिल्ली की कुछ ऐसी होनहार नौकरीशुदा बालाओं की बदल रही भाषिक प्रवृत्ति पर निगाह करते हुए सूचना दी कि वे 'मैं जाता हूँ' जैसे प्रयोग ही अब धड़ल्ले से कर रही हैं। इस प्रवृत्ति को उनके द्वारा (सुविधाजनक) 'जीन्स' को अपना लेने की प्रवृत्ति से नहीं मिलाना चाहिए। यह बेटी के ऊपर बेटे को तरजीह देने की सामाजिकता में ढलने का उदाहरण अधिक लगता है। वैसे लिंग-भेद चाहे जिस रास्ते से मिटे, सुखद ही है। घी दाल में गिरे या भात में, बात तो एक ही है!

(4) हिंदी भाषा में जहाँ कहीं लिंग की अनिश्चितता होती है, वहाँ सिर्फ पुंलिंग का प्रयोग किया जाता है। जैसे'कौन आ रहा है?'/'कौन था?' परंतु, इसकी जगह यदि 'कौन आ रही है?/कौन थी?' कहा जाता है, तो अर्थ ही बदल जाता है। तब, लिंग का अनिश्चय नहीं है। यह तो निश्चित हो चुका कि आने वाले का लिंग स्त्री. है, परंतु सवाल इसलिए पूछा जा रहा है ताकि पता चले कि वह स्त्री आखिर है कौन? उसकी पहचान क्या है?

(5) जहाँ कहीं लिंग-विशेष जानकर भी उसे प्रकट करना विवक्षित न हो, वहाँ पुंलिंग का प्रयोग होता है। जैसेकिसी पुरुष को ही नहीं, किसी स्त्री को भी आते देखकर कहा जा सकता है'कोई आ रहा है।' इसकी जगह 'कोई आ रही है' नहीं चल सकता।

(6) वाच्य-प्रकरण में जब क्रिया कर्त्ता या कर्म के प्रभाव से मुक्त हो जाती है (यानी कर्त्तृवाच्य और कर्मवाच्य के भावे प्रयोग व भाववाच्य हो) तब हिंदी में वह पुंलिंग-एकवचन में होती है। जैसेराम ने **खाया**। सीता ने **खाया**। राम ने साथियों को **बुलाया**। यहाँ अब **बैठा जाएगा**।

संस्कृत व्याकरण का नियम है कि जहाँ लिंग-विशेष की विवक्षा न हो, वहाँ नपुंसक लिंग-एकवचन सहज रूप से होता है। यह स्थिति कहलाती है'लिंग सर्व नाम'। यही बात संस्कृत भाववाच्य में रखती है। जैसेरामेण गन्तव्यम्। (राम को जाना है।) सीतया गन्तव्याम्। (सीता को जाना है।) कुछ लोग यह वितर्क रख सकते/सकतीं हैं कि चूँकि हिंदी में 'नपुंसक लिंग' नहीं है, इसलिए 'अलिंगता' या 'लिंग सामान्यता' या 'लिंग की अविवक्षा' अथवा भाववाच्य में हिंदी 'पुंलिंग' का प्रयोग करती है। अतः, हिंदी का पुंलिंग-प्रयोग पुरुषवादी नहीं, विवशता-जन्य है। परंतु, यह कहने वाले यह क्यों नहीं सोच पाते कि 'लिंग-सामान्यता' या 'लिंग-निरपेक्षता'

का कार्य क्या स्त्रीलिंग नहीं कर सकता? फिर, संस्कृत में भी पुंलिंग व स्त्रीलिंग से इतर, जो लिंग कल्पित किया गया, वह 'न + पुंस' (यानी, जो पुरुष न हो) के रूप में क्यों कल्पित हुआ? पुरुष लिंग का अभाव बतलाते, उसे नकारते जो लिंग कल्पित किया गया ('नपुंसक लिंग'), वह एक प्रकार से पुरुष लिंग को महत्त्व प्रदान कर ही रहा है। तभी तो उसके अभाव को 'लिंग सामान्यता' के लिए उपयुक्त मान ले रहा है। समाज में सेक्स (प्राकृतिक लिंग) से निरपेक्ष जनों को 'नपुंसक' (यानी, जिनमें पुंसत्व या मर्दानगी का अभाव हो) कहा जाता है। उनकी जनगणना अलग से न करके पुरुष-वर्ग में ही उन्हें गिना जाता रहा। पुंलिंग का वर्चस्व यहाँ भी सिद्ध है। नालायकी के लिए हम 'नपुंसक' शब्द का इस्तेमाल करते/करती हैं। जैसे'यह सरकार नपुंसक हो गई'। यानी, सरकार अब मर्द न रह गई। व्याकरण ने ऐसा पारिभषिक शब्द क्यों नहीं बनाया जो पुंसत्व या स्त्रीत्व के प्रति निरपेक्षता का संकेत करे? 'नपुंसक' की जगह 'नपुंस्त्री' या 'अलिंग' क्यों नहीं? या, 'स्त्रीतर' (जो स्त्रीलिंग न हो) ही क्यों न बन सका पारिभाषिक शब्द? स्पष्टतः व्याकरण की सोच पुरुषवादी है।

(7) 'अव्यय' शब्दों के लिंगहीन होने की व्यवस्था व्याकरण देता है। अतः, उक्त तर्क पर हिंदी-व्याकरण उन्हें पुंलिंग मानकर चलता है। संस्कृत व्याकरण उन्हें नपुंसक लिंग मानता है। क्रिया के विशेषण (क्रिया-विशेषण) भी स्थानीय आधार पर (यानी वचनहीन अलिंग रहनेवाली क्रिया का विशेषण होने से) अव्यय बन जाते हैं, अतः उनमें भी अलिंगता आ जाती है। इससे हिंदी-व्याकरण उन्हें पुंलिंग मानकर चलता है। जैसेराम **अच्छा** करता है। सीता **अच्छा** करती है। दोनों स्थितियों में रूप 'अच्छा' ही है, 'अच्छी' नहीं। यही तो पुंलिंगवाद है।

(8) सभी क्रियार्थक भाववाचक संज्ञाएँ हिंदी में पुंलिंग होती हैं (संस्कृत में नपुंसक लिंग)। जैसे' **पढ़ना** अच्छा होता है।' इसे '**पढ़ना** अच्छी होती है' नहीं लिख सकते। सबसे मूल बात तो यह है कि क्रियार्थक संज्ञाओं का निर्माण ही धातु + 'ना' पुंप्रत्यय से होता है, 'नी' स्त्रीप्रत्यय से नहीं। 'ग्रंथ **पढ़ना** चाहिए।' और 'पुस्तक **पढ़नी** चाहिए।' उदाहरणों में 'पढ़ना' और 'पढ़नी' (क्रियार्थक) संज्ञा नहीं हैं, बल्कि विशेषणात्मक स्थिति रखते हैं, जो यहाँ क्रिया के घटक बने हैं। जब भी क्रियार्थक संज्ञा बनेगी तो रूप **पढ़ना** आदि (पुंलिंग-सिद्ध) ही होंगे, यह तय है।

(9) समास के क्षेत्र में भी हिंदी ने पुंलिंग की विजययात्रा ही जारी रखी है। द्वंद्व समास से बने समस्त पद हिंदी में पुंलिंग होते हैं। जैसे **राजा-रानी** आए। स्त्रीलिंग होने की नौबत तभी आती है, जब 'द्वंद्व समास' के सारे पद पहले से ही स्त्री. हों। जैसे **सीता-गीता-रीता** गयीं। 'समाहार द्वंद्व' तो प्रायः पुंलिंग एकवचन ही होता है (संस्कृत में नपुंसक लिंग, एकवचन होता है)। जैसेकंकर-पत्थर, तन-बदन। 'दाल-रोटी' आदि स्त्रीलिंग हैं तो तभी जब इसके सभी पद पहले से ही स्त्रीलिंग हैं। वैकल्पिक द्वंद्व में भी पुंलिंगवादी वर्चस्व का यही नियम लगता है। जैसेपाप-पुण्य, धर्माधर्म आदि



पुंलिंग हैं। तत्पुरुष समास में तो उत्तर पद प्रधान होता है, अतः वहाँ यदि उत्तर पद स्त्रीलिंग हो जाता है, तो समस्त पद के स्त्रीलिंग होने की मजबूरी है ही। अन्यथा समस्त पद पुंलिंग ही होता है। जैसे'राजपुत्री' स्त्रीलिंग है, परंतु 'यशोदानंदन' पुंलिंग। समास की यह व्यवस्था उसी सामाजिक विसंगति का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके तहत किसी समूह में एक भी मर्द मौजूद हो तो वह पूरे समूह को अपना वशीभूत कर लेता है।

(10) स्त्रीलिंग शब्द को पुंलिंग की तुलना में हीनतर समझा जाता हैइसका एक और संकेत व्याकरण में है। ऊनवाचक अर्थ में स्त्रीप्रत्यय का प्रयोग स्वीकृत है। डिब्बा + इया = डिबिया। 'डिब्बा' (पुं.) से 'डिबिया' (स्त्री.) की हीनता प्रसिद्ध है। (इस व्यवस्था में अपवाद बहुत कम हैं'अरण्य' का स्त्री. 'अरण्यानी' अथवा 'डोरा' का स्त्री. 'डोरी' अपेक्षाकृत बृहत् अर्थ में है।)

इन रूपों में (हिंदी-) व्याकरण में 'लिंग' नामक अवधारणा प्रतिष्ठित है, जो 'व्याकरण' जैसे शास्त्र (जो देश, संप्रदाय, नस्ल आदि के आधार पर शब्दों के बीच भेदभाव नहीं करता) में भी स्त्री व पुरुष के बीच भेदभाव खड़ा करती है। इतना ही नहीं। स्त्री को पुरुष के सामने तुच्छ भी ठहराती है। परंतु, बात है कि व्याकरण का इस तरह से पुरुषवादी होना मूलतः भाषा के पुरुषवादी होने का कुपरिणाम है और वह भाषा स्पष्टतः पितृसत्तात्मक मानसिकता वाले समाज की उपज है; परंतु गौणतः वैयाकरणों के भी पुरुषवादी होने का कुफल है व्याकरण का पुरुषवादी होना। जैसा कि पीछे भी कहा गया है। पंडित कामता प्रसाद गुरु ने 'हिंदी व्याकरण' के 'शब्द-साधन' नामक खंड में 'लिंग' का विवेचन करते हुए कहा कि कुछ धर्म जो केवल स्त्रियों में संभव हैं, उनके सूचक स्त्रीलिंग शब्दों के पुंलिंग जोड़े संभव नहीं हो सकते। उदाहरणरूप में उन्होंने जो शब्द पेश किए (सती, गाभिन, सौत, धाय आदि) वे विवेच्य हैं।[5] गुरुजी यहाँ पर स्त्री के प्राकृतिक धर्म (जैसे गर्भधारण) की ही पाँत में पितृसत्तात्मक संरचना द्वारा थोपे गए बोझों (धाय, सौत, सती आदि) को भी बैठा लेते हैं। अब सोचा जाए कि क्या 'धाय' की भूमिका सिर्फ स्त्री निभा सकती है? इस शब्द का पुंलिंग न होना भीषण अन्याय है, जिस पर गुरुजी जैसे मौलिक चिंतक ने भी मुहर लगा दी है। इससे भी भीषण अन्याय तो स्त्री के धर्म के रूप में सतीत्व को उपस्थित करना है। (अक्सर समाज द्वारा थोपे गए) पति की गुलामी करने और उसकी चिता पर जल मरने (और अक्सर स्त्री को जबरन जला डालने) की क्रूरता को भी स्त्री का सहज धर्म (सतीत्व) मान लेना वैयाकरण की किस असंवेदनशीलता का प्रमाण है। ऐसे उदाहरण पेश कर वह क्या समाज के लिंग-अन्याय को मजबूती प्रदान नहीं करता? स्त्री को कमजोर, घरेलू, विद्या/प्रतिभा से दूर, देह-बोध/सौंदर्य से ही ग्रस्त आदि हीन रूपों में उदाहरण बनाना आम है। गुरुजी ने विशेषण-चर्चा के दौरान 'पतिव्रता सीता' का भी उदाहरण दिया है।[6] क्या आवश्यकता है ऐसे उदाहरणों की,

जो विवाह में स्त्री-पुरुष समता के लक्ष्य को करारा झटका देते रहें और स्त्री के व्यक्तित्व का गला घोंटते रहे? ऐसे उदाहरण तो स्त्री को पुनः 'करवा चौथ' की गुलाम, अंधी गली में धकेलने की फिल्मी-बाजारी परियोजना का ही हिस्सा बनने को तैयार दिखते हैं। 'हिंदी व्याकरण का इतिहास' के लेखक अनंत चौधरी ने 'नागरी लिपि और हिंदी वर्तनी' पुस्तक में किसी प्रसंग में एक उदाहरण दिया है'लड़की शराब पिए जा रही थी।'[7] क्या इसकी जगह 'लड़की भाषण दिए/किताब पढ़े/कुश्ती किए जा रही थी' जैसे उदाहरण लेखक को नहीं सूझ सके? इसी तरह पं. किशोरीदास वाजपेयी ने 'हिंदी शब्दानुशासन' के 'वाक्य विचार' में उदाहरण दिया है''बेटी पराये घर का धन होती है।'' ऐसे उदाहरण स्त्रीलिंग में जन्म लेने के प्राकृतिक संयोग का दंड लड़की को देने का औचित्य ठहरा देते हैंएक ही साथ उसे वस्तु (धन) भी बना देते हैं और पराया भी ठहरा देते हैं।[8] भाषा और उसके व्याकरण से लिंग-भेद का अवसान किए बिना लिंग-भेद रहित समाज स्थापित करने की, जेंडर-जस्टिस (लिंगाधारित न्याय) को सफल बनाने की लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता का लक्ष्य कैसे पूरा हो सकता है?

लिंग-व्यवस्था के पैरोकार चाहे लाख कहें कि अर्थ-अभिव्यंजना संबंधी सुंदरता-सूक्ष्मता आदि भेदों के लिए लिंग जरूरी है, उपयोगी है; परंतु सत्य यही है कि लिंग नामक कोटि भाषिक संस्कृति में स्त्री व पुरुष भावों के बीच जितने सौंदर्य या माधुर्य की रचना नहीं करती, उस से ज्यादा वह लिंग-भेद पैदा करती है। समाज ही केवल भाषा नहीं बनाता बल्कि भाषा भी समाज को बनाती है। भाषा ही वह स्पेस है जहाँ जेंडरगत मिथ्या अस्मिताएँ गढ़ी जा सकती हैं। समाज के भेदभावों को (खासकर जेंडरजनित भेदों को) स्वाभाविकता प्रदान करने में अहम भूमिका निभाती दिखती है भाषा। जब तक व्याकरण में लिंग-व्यवस्था रहेगी तब तक सामाजिक लिंग-भेद को भी वह विचारधारात्मक सहयोग देती रहेगी। एक रोचक विसंगति द्रष्टव्य है। 'महाभारत-अनुशासन पर्व' (146/43) के उमा-महेश्वर संवाद में व्याकरणिक लिंग को मूढ़ सामाजिकता तक में घसीटा गया है। वहाँ पतिव्रता स्त्री को सीख दी गई है कि पुंलिंग शब्दों के वाच्य पदार्थों (सूर्य, चंद्र, वृक्ष आदि) तक से वह अपने को बचाए। सिर्फ एक ही पुंलिंग उसके मन में, जीवन में रहेउसका पति! वाह! यह तो 'मानस' द्वारा निर्धारित नारी की उत्तम कोटि (जो स्वप्न में भी दूसरे पुरुषों को नहीं देखती) से भी एक बाँस आगे की बात है। स्त्री को (थोपे गए) पुरुष-विशेष के प्रति यौन-प्रतिबद्ध यानी 'पतिव्रता' बनाने की गुलामी-शिक्षा के इन मास्टरों से पूछा जाना चाहिए था कि जहाँ एक ही वस्तु के वाचक कई शब्द अलग-अलग लिंगों में हों, वहाँ स्त्री क्या करेगी? जैसेसंस्कृत में 'पुस्तक' नपुंसक लिंग है, 'ग्रंथ' पुंलिंग है तो वहाँ स्त्री को क्या करना चाहिए ताकि उसके पातिव्रत्य पर आँच न आए? चलिए, यह समस्या भी दूर हुई, क्योंकि पातिव्रत्य के कल्पकों की दृष्टि में स्त्री विद्या की अधिकारिणी ही नहीं है। परंतु, स्त्री खुद अपनी वैवाहिक स्थिति के वाचक संस्कृत



शब्दों 'दार' (पुं.), 'पत्नी' (स्त्री.), 'कलत्र' (नपुं.) के प्रसंग में क्या करेगी? किसके साथ रहेगी, किससे दूर? तीनों तो एक ही चीज हैं। क्या स्त्री तीनों के प्रति तटस्थ रहेगी? क्या खुद से तटस्थ रह सकती है वह? फिर, उसी की देह में 'योनि' स्त्री. है, पर 'भग' पुं.। स्त्री क्या करेगी उसका? दोनों एक ही अर्थ को कहते हैं। स्त्री अपने पुंलिंग 'केश' व 'स्तन' रखेगी या...? 'पतिव्रता' होना कितना कठिन हो गया! मूढ़ता की पराकाष्ठा हो गई। व्याकरणिक लिंग-व्यवस्था ने यहाँ तक करामात दिखा दी है। इसी से 'व्याकरण' से लिंग-भेद का अंत करना ही होगा।

व्याकरण से लिंग-भेद तो पूरी तरह तभी मिटेगा, जब भाषा से ही उसका अंत हो जाएगा। परंतु, वैसा होने में काफी देर है, क्योंकि भाषा ठीक तभी होगी, जब समाज ठीक हो जाएस्त्री-पुरुष भेदभाव की समाप्ति हो जाए। फिर, यह भी तो हो सकता है कि भाषा से लिंग-भेद मिट जाए, पर अवधारणा के स्तर पर 'व्याकरण' में लिंग (जेंडर) मौजूद ही हो (जैसा कि अंग्रेजी में है) अथवा कुछ नहीं तो वैयाकरण के मन में कार्यरत पितृसत्तात्मक मूल्य, उदाहरण देते समय अपना काम करते रहेंस्त्री को हीन रूप में और पुरुष को दबंग रूप में पेश करते। इसलिए कहना होगा कि समाज या भाषा में सुधार चाहे देर से ही हो, किंतु व्याकरण व वैयाकरण को तो अपने स्तर से ऐसे प्रयास शुरु कर देने चाहिए, जिससे लिंग-भेद व पुरुष-वर्चस्व की स्थितियाँ हतोत्साह होती जाएँ तथा स्त्री-सशक्तीकरण का संदेश अँगड़ाई लेने लगे। ऐसा संदेश भाषा से होते हुए देर-सबेर समाज तक भी पहुँचेगा। यद्यपि व्याकरण के पास ऐसे प्रयास करने का अवकाश (स्पेस) कम है, पर जो कुछ है, उसी में वह अपना कार्य करे।

स्त्रीलिंग को न्याय देने और व्याकरण को लिंग-निरपेक्ष बनाने के प्रयास का यह मतलब नहीं होगा कि व्याकरण में प्रयुक्त 'कारक', 'कर्ता', 'पुरुष', 'तत्पुरुष' आदि पारिभाषिक शब्दों को पुरुषवाची मानकर बदल डालें। पारिभाषिक शब्द चाहे जिस मानसिकता से बने हों (स्पष्टतः यहाँ पुरुषवादी मानसिकता तो है ही); पर आगे चलकर वे व्युत्पत्त्यर्थ-बंधन से मुक्त होकर संकेतक/प्रतीक मात्र रह जाते हैं। वैसे ही व्याकरण के कुछ स्त्रीवाची पारिभाषिक शब्द 'वृत्ति', 'संधि', 'संज्ञा', 'क्रिया', 'व्युत्पत्ति', 'निरुक्ति' आदि भी हैं, जो अब व्युत्पत्त्यर्थ बंधन से मुक्त होकर तकनीकी शब्द मात्र बन चुके हैं। इस स्थिति में 'रमेश' ही नहीं, 'राधा' को भी 'कर्त्ता' ही कहना होगा (जिस प्रकार प्रतिभा पाटिल को 'राष्ट्रपति' या मायावती को 'मुख्यमंत्री' ही कहते हैं)। 'राधा' को 'कर्त्री' या 'कारिका' न कह सकेंगे। इसी तर्क पर 'लिंग' शब्द को भी पारिभाषिक शब्द के रूप में स्वीकारा जा सकता है। पीछे इन शब्दों पर जो भी आपत्तियाँ उठाई गई हैं, वे सब लिंग-भेदी समाजशास्त्र को खँगालने के लिए।

लिंग-भेद मिटाने के लिए 'व्याकरण' को सर्वप्रथम 'व्युत्पत्ति' क्षेत्र में सार्थक हस्तक्षेप करना होगा। यानी, उसे 'लड़का' से 'लड़की' की व्युत्पत्ति करने से बचना

होगा, God से Goddess की व्युत्पत्ति से बचना होगा और कहना होगा कि ये दोनों शब्द स्वतंत्र मूल शब्द (प्रातिपदिक) हैं; कोई किसी पर आश्रित या किसी से व्युत्पन्न नहीं। दोनों के अपने-अपने कारकीय या वैभक्तिक रूप चलते हैं। तब, उनमें चिपके लिंगगत अर्थ की छाया 'सुबंत' रूप बनते समय पड़ती हैजैसे आकारान्त होने पर भी 'लड़का' (पुं.) और 'लता' (स्त्री.) का रूपायन लिंगार्थ-भेद से अलग-अलग हो रहा है। इस प्रकार, 'व्युत्पादन' से लिंग को खारिज करने के बाद भी 'रूपायन' में वह बना रहता है। वाक्य में विशेषण, क्रिया, संबंधसूचक तत्त्वों में भी लिंग झलकता रहता है'रूपायन' का ही असर है यह। वह तो तब तक न हटेगा जब तक भाषा-संरचना न बदले। इसके लिए भाषिक समाज की मनोवृत्ति बदलनी चाहिए। (लड़की यदि 'मैं जाता हूँ' बोल रही है तो यह मनोवृत्ति बदलने का ही संकेत है। इसमें असंगति भी क्या है? 'हम जाते हैं' से सर्वत्र पुरुष-स्त्री दोनों काम चला ही रहे हैं, चाहे उनकी संख्या एक हो या अनेक।)

यदि व्युत्पत्ति से लिंग को पूर्णतया खारिज करते हैं तो 'लड़का' या 'लड़की' आदि को रूपांतरशील वर्ग का (विकारी) शब्द बतलाने हेतु परिभाषा में से यह बात हटानी होगी कि जिस शब्द में लिंग-वचन-कारक (विभक्ति) वश आकृति-परिवर्तन हो, वह विकारी शब्द है। तब कहना होगा कि जिस शब्द में 'वचन + कारक' कृत रूपांतर हो सके, वह रूपांतरशील शब्द है, अन्यथा वह है 'अव्यय'। तब 'अव्यय' की परिभाषा से 'सदृशं त्रिषु लिंगेषु' (जो तीनों लिंगों में समान हो) अंश निकालना होगा। अव्यय की अरूपांतरशीलता की व्याख्या उसके ('प्रातिपदिक विभक्ति' कृत) अरूपांतर में होगी, न कि लिंगकृत अरूपांतरशीलता में। इसी तरह क्रिया-पद की रूपांतरशीलता उसके लिंगगत परिवर्तन में नहीं, बल्कि 'तिङ्' विभक्ति से या उसके स्थानापन्न कृदन्तों में वचनकृत रूपांतर में व्याख्यायित होगी। 'व्युत्पादन' से लिंग को पूर्णतः अपदस्थ करने की बात क्रांतिकारी होगी। क्या यह संभव है? ऐसा करने में कुछ उलझनें भी हैं। जैसेकृदन्तों या तद्धितान्तों के पुंलिंग-स्त्रीलिंग दोनों रूपों (जैसेजाता-जाती, बुद्धिमान-बुद्धिमती) को तब 'लड़का' व 'लड़की' की तरह ही दो स्वतंत्र शब्द (प्रातिपदिक) मानना होगा। तब व्याख्या करनी मुश्किल होगी कि ये विशेषणात्मक रूप दो तरह के क्यों हैं? जब 'लड़का' व 'लड़की' एक ही स्तर के दो स्वतंत्र शब्द हैं तो उनके ये विशेषणात्मक रूप अलग-अलग क्यों हैं? प्रातिपदिककारी व्युत्पादक प्रत्ययों (कृत, तद्धित) को यदि हम लिंग-निरपेक्ष मानकर चलें तो भी मानना होगा कि व्युत्पन्न प्रातिपदिकों में फिर 'लिंग-प्रत्यय' लगकर उन्हें स्त्रीलिंग व पुंलिंग प्रातिपदिकों में ढाल देते हैं। लिंग-प्रत्यय लिंग-सापेक्ष ही तो हैंस्त्रीप्रत्यय स्त्रीलिंगार्थ, पुंप्रत्यय पुंलिंगार्थ। इसका समाधान यदि यह करें कि जिस तरह कई तद्धित प्रत्यय खास 'अंत' वाले या खास शब्दों के साथ विहित हैं, उसी प्रकार ये लिंग-प्रत्यय खास लिंग के साथ विहित हैं। पर, यहाँ भी हमने 'लिंग' की व्युत्पादक भूमिका मान ही ली।



समग्रतः, 'अव्यय' आदि की परिभाषाओं के लिए 'लिंग' की विकारी भूमिका दिखलाना आवश्यक न होकर भी उक्त संदर्भ में 'लिंग' की विकारी भूमिका दिखलाना आवश्यक है। तब, वैयाकरण को यह व्यवस्था देनी चाहिए कि 'लड़का' शब्द में 'ई' प्रत्यय लगने से 'लड़की' शब्द बना है, साथ ही 'लड़की' शब्द में 'आ' प्रत्यय लगने से 'लड़का' शब्द बना है। यानी, 'द्विमुखी व्युत्पत्ति प्रक्रिया' है। अगर ऐसा करना ऐतिहासिक न लगे, तो भी पुंलिंग की दादागिरी समाप्त करने के लिए यह व्यवस्था वरणीय है। आखिर व्याकरण की समग्र व्यवस्था पूर्णतः ऐतिहासिक सत्यों पर आधारित कहाँ है? वह व्याख्या की संगति या सुविधा के लिए बहुधा कल्पना पर भी आधारित होती है। फिर, लिंग-संबंधी व्युत्पत्ति की उक्त व्यवस्था पूरी तरह अनैतिहासिक भी कहाँ है? 'आ' पुंप्रत्यय का व्युत्पत्ति में प्रयोग पंडित किशोरीदास वाजपेयी ने भी किया है, भले वे 'द्विमुखी व्युत्पत्ति प्रक्रिया' में आस्थावान न रहे हों। हिंदी में 'पुंप्रत्यय' का ऐतिहासिक साक्ष्य सर्वप्रथम पंडित अंबिका प्रसाद वाजपेयी ने ('हिंदी-कौमुदी' में) दिया'बहन + ओई' से 'बहनोई' बनता है आदि। यह पुंप्रत्यय हिंदी की अनन्य विशेषता है। अंग्रेजी में भी 'Widow + er' जैसी एक-दो व्युत्पत्तियाँ पुंप्रत्यय की हैं। संस्कृत भाषा ऐसे प्रत्यय से वंचित है। 'व्याकरण' द्वारा एकमात्र स्त्रीप्रत्यय की कल्पना किए रखना उसे पुरुषवादी बनाता है। हिंदी-व्याकरण को स्त्रीप्रत्यय के समांतर पुंप्रत्यय खोजने का काम जारी रखना चाहिए। इसी के साथ, लिंगगत व्युत्पत्ति में और व्यावहारिकताएँ भी देखनी होंगी। जो रिश्ते पूर्व सिद्ध हैं (मौसी, फूफी, जीजी, बहन, ननद आदि) उनमें ही पुंप्रत्यय लगाकर पुंलिंग शब्द (मौसा, फूफा, जीजा, बहनोई, ननदोई आदि) बनाना उचित होगा; न कि इसका उलटा करना। 'चाचा' से 'चाची' की व्युत्पत्ति इसलिए वैज्ञानिक है क्योंकि 'चाची' उत्तर सिद्ध है। किंतु, 'लड़का' व 'लड़की' अथवा 'पति' व 'पत्नी' में से कोई पूर्व या उत्तर नहीं, बल्कि दोनों सहसिद्ध हैं। फिर प्रथम से द्वितीय की व्युत्पत्ति बतलाना कैसा? दोनों को या तो स्वतंत्र मानिए या दोनों को परस्पर व्युत्पन्न मानिए (द्विमुखी व्युत्पत्ति प्रक्रिया से)। इसके साथ, सामासिक व्युत्पत्ति के क्षेत्र में भी हमें ऐसी व्यवस्था रखनी होगी कि पुंलिंग और स्त्रीलिंग की समता हो। जैसे'खिलाड़ी', 'मजदूर', 'राष्ट्रपति', 'पुलिस', 'इंजीनियर' आदि व्यावसायिक/पदमूलक या 'भेड़िया', 'ह्वेल' आदि प्राणिवाचक नामों को लिंग-निरपेक्ष मान कर स्त्री के लिए प्रयोग की स्थिति में उसमें 'स्त्री' लगा देंगे, 'पुरुष' के लिए प्रयोग की स्थिति में 'पुरुष'। जैसेपुरुष खिलाड़ी, महिला खिलाड़ी; नर भेड़िया, मादा भेड़िया आदि। 'वेश्या' के लिंगांतरण 'पुरुष वेश्या' को भी असंगत नहीं मानना चाहिए। जब पुंलिंगवाची 'खिलाड़ी' आदि शब्दों से 'स्त्री' शब्द को समस्त करने से स्त्रीलिंग बन सकता है, तो स्त्रीवाची (वेश्या) शब्द से 'पुरुष' को समस्त करने से पुलिंग शब्द क्यों नहीं बनेगा? इस बारे में जो असंगति लग रही हो, उसे पितृसत्तात्मक सोच का नतीजा मानना होगा।

व्याकरण की ढेर सारी पुस्तकों में विलोम या विपरीतार्थक शब्द समझाते हुए अक्सर पुंलिंग व स्त्रीलिंग शब्दों को परस्पर विलोम बता दिया जाता है। यह कितनी खतरनाक बात है! 'पुरुष' का विलोम 'स्त्री'ऐसा पढ़ाने वाले बच्चों के मन में कैसा लिंगभेदी ज़हर भर रहे हैं! अपने अज्ञान में वे घरेलू कलह व हिंसा का उनमें बीजारोपण कर रहे हैं। 'पुरुष' व 'स्त्री' को प्रकृति ने विलोम नहीं, पूरक बनाया है। पूरकता सहयोगी होती है, विलोमता संघर्षी। वस्तुतः विलोम का क्षेत्र लिंगगत द्वैत नहीं, शेष गुणगत द्वैत है। 'स्त्री' व 'पुरुष' समान हैंसृष्टि के लिए समान रूप से आवश्यक। उनमें विरोध भाव सांस्कृतिक गढ़न है, न कि नैसर्गिक। 'रात' और 'दिन' परस्पर विलोम हैं, 'अच्छाई' व 'बुराई' परस्पर विलोम हैं; पर 'स्त्री' व 'पुरुष' नहीं। इसी तरह 'ब्राह्मण' व 'शूद्र' तथा 'आर्य' व 'म्लेच्छ' को परस्पर विलोम बताना भी गलत है। व्याकरण की जो पुस्तक ऐसा लिखती है, वह नस्लवादी है। 'स्त्री' व 'पुरुष' का तो प्राकृतिक अस्तित्व भी है; किंतु 'ब्राह्मण-शूद्र' या 'आर्य-नस्ल' तो पूर्णतया कल्पनाश्रित अवधारणाएँ हैं। इन सबकी सावधानी बरतना वैयाकरण के लिए बहुत जरूरी है।

'लड़का' व 'लड़की' जैसे शब्द तो भाषा में रहेंगे ही, क्योंकि प्राकृतिक लिंग (sex) के भेद की सूचना देने वाले ये दो शब्द उसी प्रकार आवश्यक हैं, जिस प्रकार 'इंसान' और 'चिड़िया' दो अलग-अलग शब्द जरूरी हैं, जो प्राकृतिक जाति की सूचना देते हैं। यहाँ सिर्फ 'प्राणी' कहकर काम नहीं चलाया जा सकता था। इसी तरह केवल 'लड़का' या केवल 'लड़की' कहकर दोनों का वाचन नहीं कराया जा सकता। परंतु, 'लड़का' व 'लड़की' को लेकर भाषा में लिंग (जेंडर) का भेद नहीं खड़ा होना चाहिए। हो गया है, तो उसका यथाशीघ्र अंत करना ही मूल ध्येय होना चाहिए। इस जेंडरवाद ने व्याकरण के अंतर्गत सारे शब्दों को (चाहे वे चेतन के वाचक हों या अचेतन के; सत्त्व के वाचक हों या भाव के) ही 'मर्द' व 'औरत' की खेमेबंदी में बाँट रखा है (वहीं संस्कृत में 'मर्दानगी' रहित वर्ग भी है 'नपुंसक लिंग' नाम से)। फिर, इस करेले को नीम पर चढ़ा दिया गयामर्द (पुंलिंग) को औरत (स्त्रीलिंग) पर वर्चस्व या ग्रासक व्यक्तित्व देकर। लिंग-व्यवस्था के इस अमानवीय चेहरे की प्लास्टिक सर्जरी के बिना समाज तक, परिवार तक लोकतंत्र कैसे उतर सकता है? भाषा को सही किए बिना इंसान को सही नहीं किया जा सकता। विनोबा का यह विचार बिलकुल जायज है कि भाषा में पुंवाची व स्त्रीवाची सारे शब्दों के लिए एक ही क्रियारूप, विशेषण रूप आदि होने चाहिए।[9] हर व्याकरणिक व्यवहार उनके प्रति समान होना चाहिए। परंतु यह होगा कैसे? इसके लिए भाषा सुधारनी होगी, भाषा सुधारने हेतु भाषिक समाज की मनोवृत्ति सुधारनी होगी। मनोवृत्ति बिना सामाजिक-सांस्कृतिक क्रांति के, समता के विचारों के प्रसार के बिना कैसे सुधरेगी? समाज में स्त्री-सशक्तीकरण से, वास्तविक स्तर पर लिंग-भेद मिटने से या भाषिक आंदोलन से ही बदलेगी भाषा। यानी, जो कुछ



होगा, भाषिक समाज की तरफ से ही। परंतु, वैयाकरण भी तो भाषिक समाज का ही नागरिक है। अपनी जिम्मेवारी समझते हुए उसी को पहल करनी चाहिए, जो कुछ ऊपर कहा गया है। उसके साथ एक कार्य उसे और करना होगालक्षणों के उदाहरण प्रस्तुत करते समय समाजशास्त्रीय सावधानी बरतना। वह लिंग-भेद (साथ ही जाति, मजहब, राष्ट्र, नस्ल आदि भेदों) की मानसिकता से मुक्त होकर उदाहरण दे। स्त्री पर थोपे गए पितृसत्तात्मक मूल्योंपातिव्रत्य, सतीत्व, सामंतवादी यौन नैतिकता, शर्म व हीनभावना तथा पैदा की गई मजबूरियों जैसे अशिक्षा, घरेलूकरण, परजीविता, यौन-दलन, प्रसव-बाध्यता, वेश्यावृत्ति, विधवा समस्या आदि से उसे मुक्त करने की मानसिकता से उदाहरण पेश किए जाएँ। स्त्री की वंचनाओं एवं पीड़ाओं के प्रति सहानुभूति दिखलाते और पुरुष के समक्ष उसकी बराबरी, प्रतिभा व ताकत को बतलाते उदाहरण बनने चाहिए। पढ़ती, खेलती, गाती, झूमती, नौकरी करती, विमान उड़ाती, कुश्ती करती या कंपनी सँभालती स्त्री उदाहरण बने, न कि खाना पकाती या पति की सेवा करती। मनमाफिक दोस्ती बनाने या मनोवांछित वस्त्र पहनने तक को छछनती स्त्री उदाहरण बने, झूठी मातृत्व या देवी की गरिमा की चाशनी में लपेटी स्त्री नहीं। इसके साथ घरेलू कामकाज करते मर्द भी उदाहरण बनें, सिर्फ पैसा कमाते या ऑफिस सँभालते मर्द नहीं। ऐसा होगा तभी भाषा की विसंगति दूर होगी तथा वह सुषमा से भरपूर होगी। हर शब्द को जेंडर के खाँचे में बैठाना लिंगवादी राजनीति का हिस्सा है, जिसने शब्द-ब्रह्म की महिमा घटाने का अपराध किया है। यदि हम अपने को आध्यात्मिक कहते हैं तो इस पाप से तो हमें मुक्त रहना चाहिए।

## संदर्भ


1. प्रभु परमेश्वर ने कहा''मनुष्य का अकेला रहना अच्छा नहीं। मैं उसके उपयुक्त एक सहायक बनाऊँगा।'' अतः प्रभु परमेश्वर ने मिट्टी से पृथ्वी के समस्त पशु और आकाश के सब पक्षी गढ़े।...किंतु मनुष्य के लिए उसके उपयुक्त सहायक नहीं मिला। अतः प्रभु परमेश्वर ने मनुष्य को गहरी नींद में सुला दिया। जब वह सो रहा था, तब उसकी पसलियों में से एक पसली निकाली और उस रिक्त स्थान को माँस से भर दिया। प्रभु परमेश्वर ने उस पसली से, जिसको उसने मनुष्य में से निकाला, स्त्री को बनाया और उसे मनुष्य के पास लाया। मनुष्य ने कहा, ''अंततः यह मेरी ही अस्थियों की अस्थि है, मेरी देह की ही देह है; यह 'नारी' कहलाएगी; क्योंकि यह 'नर' से निकाली गई है।'' ('इब्रानी-अरामी बाइबिल', जेनिसिस (उत्पत्ति खंड), 2/18-23)।
2. 'हिंदी शब्दानुशासन', पृ. 182।

3. 'भाषा का समाजशास्त्र' (डॉ. राजेंद्र प्रसाद सिंह), पृ. IX-X।
4. ''यज्ञ-संयोग इत्युच्यते, तत्र नेदं सिध्यति-इयमस्य पत्नी। क्व तर्हि स्यात्। पत्नी-संयाजा इति, यत्र यज्ञसंयोगः। नैष दोषः। पतिशब्दो यमैश्वर्यवाची। सर्वेण गृहस्थेन पंचमहायज्ञा निर्वर्त्याः। यच्चादः सायं प्रातर्होम् चरु पुरोडाशान्निर्वपति तस्यासावीष्टे। एवमपि 'तुषजकस्य पत्नी' ति न सिध्यति। उपमानात् सिद्धं-पत्नीव पत्नी।'' (इति) 'महाभाष्य'पतंजलि।
''त्रैवर्णिकानामेव सभार्याणां यज्ञेऽधिकारो न तु शूद्रस्य। उपमा नादिति। अग्निसाक्षिपूर्वक पाणिग्रहणाश्रयादितिभावः।''प्रदीप'-कैयर।
''न तु शूद्रस्येति। विद्‌याया अभावात् तस्यैवाऽनाधिकारे तद्‌भार्यायाः सुतरामिति भावः ननु पंचमहायज्ञेषु शूद्राणामप्यधिकारोऽस्तीति चेन्न, शूद्रस्येत्यस्याऽसच्छूद्रस्येत्यर्थात्। सच्छूद्राणामेव तेष्वधिकार इति प्रसिद्ध स्मृत्यादिषु। अग्नीति। अग्निसाक्षिक-पाणिग्रहण निमित्त सादृश्यादित्यर्थः। इदमुपलक्षणम्, येषां तदपि नास्ति, तेषां सादृश्यान्तरं बोध्यम् ॥''उद्‌योत'नागेशभट्ट।
5. हिंदी व्याकरण, पृ. 171।
6. हिंदी व्याकरण, पृ. 88।
7. 'नागरी लिपि और हिंदी वर्तनी', पृ. 402।
8. स्त्री-विरोधी उदाहरण देने की परंपरा दीर्घ है। 'अष्टाध्यायी' के 'कर्मणा यमभिप्रैति सम्प्रदायनम्' (1-4-32) के संदर्भ में वार्तिककार कात्यायन ने जो सूत्र दिया (''क्रियया यमभिप्रैति सोऽपिसंप्रदायनम्'') उसका उदाहरण दिया 'पत्ये शेते' (पति के लिए सोती है)। यह कौन-सा उदाहरण है भला? स्त्री के सारे व्यक्तित्व को नकार कर सिर्फ पुरुष की यौनदासी बना देने वाली कोढ़-मानसिकता पर मुहर लगा देना हैयह उदाहरण देकर।
9. 'स्त्रीशक्ति' (सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी)।



# स्त्री-भाषा : अवधारणा और सम्भावना

भाषा का प्राथमिक और अधिक व्यापक सम्बन्ध बोलचाल से है। लेखन तो भाषा का अगला रूप है, जिस का होना अनिवार्य नहीं है। वह सभ्यता के विकास से जुड़ा है। गहराई में देखें तो भाषा का मूल सम्बन्ध बोध व चिन्तन से है, जिसके आधार पर (बोल-चाल व लेखन आदि रूपों में) भाषिक व्यवहार सम्भव होता है। बोलचाल की भाषा प्रत्यक्ष चीज है, उस में किसी का व्यक्तित्व सीधे-सीधे झलकता हैउसकी प्रवृत्ति, सोच की बुनावट या सामाजिक चरित्र अधिक प्रामाणिक अभिव्यक्ति पाता है। वह जीवन्त होती है तथा उसी में भाषा के समस्त लक्षण घटित होते हैं। लेखन की भाषा में ऐसी प्रत्यक्षता व प्रामाणिकता की मात्रा कम होती है। साथ ही, उस में जीवन्तता भी नहीं होती। फिर भी वही है, जिस के ज़रिये भाषा और उस में व्यक्त होने वाले भाव, विचार आदि का संरक्षण हो पाता है, जिस के बिना मानव जाति की सभ्यता-संस्कृति की किसी यात्रा अथवा ज्ञान/बोध की किसी निरन्तरता का होना लगभग असम्भव है।

आमतौर पर हम समझते हैं कि जिस भाषा का/में हम व्यवहार करते हैं, वह सार्वजनीन (यूनिवर्सल) जैसी कुछ चीज है। बहुत हुआ, तो लोग भाषा के क्षेत्रगत या कालगत अन्तर या विकास (और वह भी केवल भाषावैज्ञानिक स्तर के) पर तो ध्यान दे पाते हैं, मगर उस के सामाजिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ से लगभग कटे या अनजान बने होते हैं। ऐसे लोग तो जैसे मान कर बैठे हैं कि भाषा का वर्ग, जाति, लिंग/ज़ेण्डर या क्षेत्र गत सामाजिकता से कुछ लेना-देना नहीं है। मगर, यह सच नहीं है। बहुत सरलता से हम यह समझ सकते हैं। अगर यह भाषा हम सब के समान अधिकार में होती, सबके लिए (अभिव्यक्ति के) समान अवसर उपलब्ध कराती, तो कम से कम इसमें स्त्रियों और जातिगत दलितों के लिए इतनी बड़ी मात्रा में अपमानकारी शब्द (गालियाँ) या लोकोक्तियाँ न होतीं। स्पष्ट है कि भाषा सब से बराबरी का बर्ताव नहीं करती, अर्थात् भाषा में लोकतन्त्र नहीं है। यानी, भाषा सामाजिक रूप से अलग-अलग स्तरों को ज़िन्दा रखती है, अर्थात् खुद ही अपने स्वरूप में स्तरीकृत है।

जब हम 'भाषा' शब्द का प्रयोग करते हैं, तो इस का अर्थ द्वि-स्तरीय होता है

1. भाषावैज्ञानिक भाषा

2. सामाजिक-सांस्कृतिक भाषा (साहित्य/काव्य-भाषा भी)

यह भेद समझने के लिए 'हिन्दी' और 'उर्दू' अच्छे उदाहरण हैं। भाषावैज्ञानिक स्तर पर 'हिन्दी' और 'उर्दू' एक ही भाषा (की अलग-अलग शैलियाँ भर) हैं; परन्तु सामाजिक-सांस्कृतिक व साहित्यिक सन्दर्भ में दोनो दो अलग भाषाएँ हो जाती हैं। 'हिन्दी जुबान' और 'उर्दू जुबान' अथवा 'काव्यभाषा हिन्दी' व 'काव्यभाषा उर्दू' दो विभिन्न वस्तुएँ हैं।

भाषा मूलतः सामाजिक वस्तु है। वह सामाजिक व मानसिक प्रक्रिया के रूप में होती है। भाषिक समुदाय की बाहरी आधारभूत संरचना (इन्फ्रा-स्ट्रक्चर) और उसकी मनोरचना की मिलित परिणति है भाषा। इसी आधार पर समझा जा सकता है कि विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, वर्गीय, क्षेत्रीय स्तरों पर गठित समूहों के द्वारा प्रयुक्त होने से और इन विविध आशयों की अभिव्यक्ति के लिए उपयोग में लायी जाने से भाषा का भी इन-इनके सापेक्ष स्तरीकरण होते जाता है। इसी आधार पर हर सामाजिक या आर्थिक (वर्ग-गत) समूह की भाषा कुछ मात्रा में एक-दूसरे से अलग या विशिष्ट हो जाती है, यद्यपि ऊपरी भाषावैज्ञानिक स्तर पर हर की भाषा औसत रूप से समान भी रह सकती है। इसी प्रक्रिया से एक ही भाषा की कई प्रकार की विभाषाएँ हो जाती हैं। क्षेत्रगत/भौगोलिक विभिन्नताओं के कारण (भाषावैज्ञानिक स्तर पर) जनमीं विभाषाओं (Dialects) पर चर्चा तो खूब हुई है, पर सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर पर बनीं ऐसी विभाषाओं पर नज़र कम गयी है; जबकि दूसरी पहली से अधिक मूलभूत हैं। पहली का स्वरूप मूलतः भाषावैज्ञानिक/व्याकरणिक और लहजे के अलगाव का होता है। दूसरी का स्वरूप मूलतः शब्दावली, मुहावरेदारी, अभिव्यंजना की शक्ति, अर्थविज्ञान व मनोविज्ञान आदि से सम्बन्धित विलक्षणताओं में अलगाव का होता है; भाषावैज्ञानिक/व्याकरणिक और लहजे के अलगाव का अंश उन में कम होता है। उदाहरण-स्वरूप, हिन्दी, मगही, भोजपुरी एक-एक भाषा का नाम है। फिर भी, दिल्ली की हिन्दी अलग है और पटने की अलग; पलामू की मगही अलग है, गया की अलग अथवा आरा की भोजपुरी अलग है, बलिया की अलग। ये हैं पहली कोटि की विभाषाएँ। पर, शहर की हिन्दी अलग है, गाँव की अलग; एक ही गाँव/शहर में भी हिन्दी के कई रूप दिखाई दे सकते हैंसंस्कृतनिष्ठ हिन्दी, ठेठ हिन्दी, अरबी-फ़ारसी-नुमा हिन्दी/उर्दू, हिंग्लिश; किसान-मजदूर या अशिक्षित की हिन्दी अलग, शिक्षक या पुजारी की अलग। ये हैं सामाजिक स्तर के हिसाब से एक ही भाषा की परिधि में आकार पा चुकीं अलग-अलग विभाषाएँ।

समाज के ऐतिहासिक विकास की विसंगतियों से कुछ लोग/मानव-समूह सम्पत्ति, सत्ता व ज्ञान के संसाधनों पर काबिज यानी मुख्य धारा में होते हैं और शेष उस से वंचित हो कर हाशिये पर पड़े। हाशिये पर पड़े/डाले गये समूहों में स्त्री सबसे



बड़ा सामाजिक समूह है। फिर, हाशिये के शेष समूहों के मुख्य धारा से अन्तर की अपेक्षा स्त्री का पुरुष से अन्तर खास तरह का है, वह कुछ हद तक प्राकृतिक भी है। साथ ही, प्राकृतिक रूप से स्त्री व पुरुष के परस्पर-पूरक होने के कारण इनका आपसी सम्बन्ध उसी तरह के सीधे अलगाव वाला नहीं है, जिस तरह दलित/आदिवासी और ग़ैर-दलित/ग़ैर-आदिवासी के बीच है। सब मिला कर, स्त्री व पुरुष का सम्बन्ध बेहद जटिल या पेचीदा है। इस लिहाज से दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक, ग़रीब, मज़दूर, अशिक्षित आदि की भाषाओं की तुलना में स्त्रियों की भाषा व्यापक व गहन वस्तु है, कुछ अधिक विलक्षण। इस प्रकार, स्तरीकरण का सब से व्यापक-गहन रूप हैहर भाषा या भाषिक समूह में आम भाषा के समानान्तर स्त्री-भाषा या लिंग-बोली नामक तत्त्व की विद्यमानता। अब तक हम जान चुके हैं कि आम भाषा जैसी कोई चीज वस्तुतः नहीं होती। आम भाषा कहने का एक ही अर्थ हैमुख्य धारा की भाषा। उस की संघटना में चूँकि सब की समान भागीदारी नहीं है; वंचित-शोषित हाशिये के समूह उस से दूर रहे/रखे गये हैं, इसलिए वह आधी-अधूरी भाषा है।

जिसे हम भाषा कहते हैं, वह पुरुष-प्रभुत्व की भाषा है या पुरुष-भाषा है, जिस में भाषा के केन्द्र में या उस की धुरी पुरुष है। इस में स्त्री होती ही नहीं, यदि हुई भी तो वस्तु/विषय बन कर। इस भाषा में कर्त्ता की जगह पुरुष बैठा हुआ है, स्त्री कर्म या करण की भूमिका में रहने को अभिशप्त है। इसमें पुरुष को मनुष्य/व्यक्ति के पर्याय के रूप में पेश किया जाता हैपुरुष-आशयों को सार्वभौम सा बनाकर व्यक्त करने का गुण है, चाहे समाज या राजनीति हो अथवा संस्कृति या साहित्य। जैसेहम जगत् के सर्जक की कल्पना 'परमपिता' के रूप में कर के मगन हैं और इसमें निहित असंगति पर कभी हमारी दृष्टि नहीं जातीहमें होश ही नहीं रहता कि जन्म देने में बाप नहीं, माँ सक्षम है। इसी तरह, 'दिनकर' ने 'उर्वशी' में लिखा

*चिन्तन की लहरों के समान सौन्दर्य-लहर में भी है बल।*
*सातों अम्बर तक उड़ता है रूपसी नारी का स्वर्णांचल ॥*

यहाँ, सत्य तक पहुँचने के लिए मार्ग-रूप में प्रचलित दर्शन/ज्ञान के समकक्ष प्रेम/काम-संवेदना की भी रचनात्मक भूमिका की चर्चा हो रही है। किन्तु, जो भाषा है (सातों अम्बर तक उड़ता है रूपसी नारी का स्वर्णांचल) उससे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि सत्य तक पहुँचाने वाला वह प्रेम/काम पुरुष का ही है। ( उर्वशी के मुख से कथन प्रस्तुत करा के भी) यहाँ पुरुष-सत्य को समग्र सत्य जैसा बना कर लाया गया है। इसी तरह मम्मट ने काव्य का एक बड़ा प्रयोजन बतलाया'कान्तासम्मित उपदेश'। यदि काव्य का आस्वादक स्त्री हो, तो? उसे भी वह कान्ता (सुन्दरी/प्रिया/पत्नी) की तरह ही उपदेश देगा? इस भाषा ने पुरुष-इतिहास को इतिहास बना रखा है। मज़ा यह है कि अब भी उसे हिज़-स्टोरी (History) ही कह रहे हैं। इसी तरह पुरुष-नीति/अनुभूति या पूर्वग्रहों को अक्सर सार्वभौम नीतिवचन की शक्ल दे दी जाती है, चाहे संस्कृत-हिन्दी

में हों या अँगरेज़ी में (जैसे No life without wife)। 'सब आपस में भाई-भाई' जैसे बहु-आवृत्त नारे की भी यही दशा है। उसमें स्त्री ('बहन') कहाँ आयी? 'अरे भाई! क्या बात है?' 'हम तो ऐसे ही हैं भैया!' आदि ही कहना आम है, चाहे सम्बोध्य आम जन (स्त्री-पुरुष सब) हो या केवल स्त्री ही हो। अक्सर लोग बेटी या किसी लड़की को दुलार जतलाते हुए 'बेटे' का सम्बोधन देते दिखते हैं'तू तो मेरा बेटा है।' पर, इसका उलटा नहीं होता। झाँसी की रानी खूब लड़ी तो मर्दानी हो गयी, इज्ज़त बढ़ गयी मर्दानी कहने से। पर, जनानी कहने से किसी मर्द की इज़्ज़त चली जाती है। बल्कि, किसी मर्द की इज्ज़त उतारना हो तो उसे 'औरत' या औरत से सम्बन्धित (या सम्बद्ध किये गये) तत्त्व से जोड़ दो!

इस तरह प्रचलित भाषा का सब से बड़ा अधूरापन यह है कि आधी आबादी (स्त्री) के लिए उस में जगह/स्पेस नहीं है; उसके अनुभव या सुख-दुख को अभिव्यक्त करने की क्षमता नहीं है। इतना ही नहीं, स्त्री के प्रति अकारण दण्ड, उपेक्षा व अपमान की अभिव्यक्तियों/लोकोक्तियों की भी उस में भरमार है। कहावतों और मुहावरों में किसी भाषा-क्षेत्र के लोकमत की अभिव्यक्ति भी होती हैपुरुष-भाषा की इन कहावतों में स्त्री की निन्दा, अवमूल्यन, वस्तुकरण/भोगने या घात/ग्रास की आमप्रवृत्ति है। भोजपुरी क्षेत्र में एक कहावत है, जिसका अर्थ है कि स्त्रियों के नाक नहीं होती, तो वह टट्टी भी खा लेती। यह तो नमूना भर है। यह समझ लेना चाहिए कि ऐसी और इससे भी ज्यादा घातक-घृणित कहावतों का दुनिया के किसी हिस्से या किसी वक्त में अकाल नहीं रहा है। संग्रह करें, तो लोकतांत्रिक संविधान-विरोधी एक पूरा पोथा तैयार हो जाए! 'मातृत्व' को आम (मर्दवादी) भाषा चरम सुखद, गरिमामय रूप में बखानती है, जब कि स्त्री की अनुभूति में वह पीड़क भी है, जिसे दबा/छुपा कर वह भाषा व्यक्त करती है। इसी तरह, स्त्री के प्रति शारीरिक-मानसिक हिंसा के भीषण रूप 'यौन-हिंसा' या 'बलात्कार' को आम भाषा 'इज्ज़त लुटना/लूट लेना' कह कर चलते बनती है। इस के साथ, लड़ाई दो पुरुषों के बीच उनके आपसी मसलों पर हो, तब भी एक-दूसरे को दी गयीं गालियाँ हर बार प्रतिद्वन्द्वी (मर्द) से सम्बद्ध किसी निर्दोष स्त्री (माँ-बहन-बेटी और पत्नी) को ही अकारण दण्डित करने वाली होती हैंउनमें वह वाचिक रूप से बलात्कार की शिकार बनायी जाती है (ऐसे प्रसंगों में, आज भी कई घोर सामन्ती समाजों में तो सचमुच स्त्री का यौन-दलन किया जाता रहा है; पाकिस्तान की मुख्तारन याद होगी)। स्त्री के बलात्कार की पीड़ा को संवेदनात्मक रूप से व्यक्त करने वाली भाषा है ही नहीं। इसी तरह, उस की आत्म-चेतना या सहज इन्सानी गरिमा को अभिव्यक्ति देने वाली भाषा भी अभी तक सम्भव नहीं हुई है। उपलब्ध भाषा या तो उसे 'देवी' बना देगी या 'दासी', या तो 'चण्डी' बना देगी या 'रण्डी'। इन्हीं कारणों से भाषा का कोई विचार वस्तुतः आधी भाषा का विचार बन कर रह जाता है। (प्राचीन भारतीय-साहित्य/संस्कृत के तमाम तथाकथित सूक्ति-कोशों में से अब तक



मैं ऐसी कोई सूक्ति निकाल सकने में असमर्थ रहा हूँ, जो स्त्री को सहज इन्सान मानने की तमीज से भरा हो। जब अपने संस्थान की पत्रिका निकाल रहा था, तो स्त्री-सम्बन्धी कोई संस्कृत-उक्ति देना चाह रहा था। जब मन-माफिक न मिली, तो लाचारी में खुद गढ़ना पड़ा

*नास्ति पूज्या न निन्द्या च, जननीम् भूत्वा न सार्थका।*
*नरवन्नेव प्रजा नारी अधिकर्मे - त्याग - भोगयोः ॥*

कोशों में स्त्री-सम्बन्धी ऐसी-ऐसी कथित सूक्तियाँ मिलीं कि लगा कि अब 'सूक्ति के समाजशास्त्र' पर काम करना पड़ेगा।)

इस पुरुष-भाषा के समानान्तर स्त्रियाँ प्राचीन काल से ही अपनी प्रवृत्ति व कार्यक्षेत्र यानी सरल शब्दों में कहें कि पितृसत्तात्मक सीमाओं के अन्तर्गत अपनी खास बोली (स्त्री-भाषा) सृजित व प्रयुक्त करती रही हैं। वर्जीनिया वुल्फ पहली लेखिका हैं जिन्होंने स्त्री-भाषा के सवाल उठाये। ('वुमेन ऐण्ड फ़िक्शन' निबन्ध, 1926)। इस विचार के विकास में फ्रेंच भाषाविज्ञानियों और स्त्रीवादियों का खासा योगदान रहा है। इन चिन्तकों में एलिगरी, हेलिनी रिक्साइस, सान्द्रा गिल्बर्ट, सुसान गुवर, दिल्युजी, गुएतरी आदि कुछ प्रसिद्ध नाम हैं। हमारे देश में ऐसा विचार कम हो पाया है। हाँ, बँगला कुछ में हुआ है।

स्त्री-भाषा पर काम करने वाले चिन्तकों ने पुरुष की तुलना में स्त्री की बोली की कुछ विलक्षणताएँ रेखांकित की हैंस्त्री पुरुष की तुलना में ज्यादा खामोश, कम से कम दख़लन्दाजी करने वाली तथा बातचीत में प्रतिस्पर्द्धा के बजाय सहयोग का भाव रखने वाली होती हैं। वह ज्यादातर इशारों की भाषा बोलने वाली (बात घुमा कर कहने की प्रवृत्ति) होती है। उस की भाषा अपेक्षाकृत झिझक-भरी, कम से कम तार्किक और कम से कम स्वाग्रही होती है, जिस में धाराप्रवाह भाषण का प्रायः अभाव होता है। वह बातचीत में पुरुषों से ज्यादा क्रियाओं व तकिया-कलाम शब्दों का इस्तेमाल करती है। वह आमतौर पर रूढ़/बहुप्रयुक्त शब्दों से ही काम चलाती है और ताज़ातरीन अभिव्यक्तियों के प्रति उदासीन रहती या उन से परहेज करती है। प्रसिद्ध भाषा-विज्ञानी सुकुमार सेन ने ('भाषा और स्त्री-भाषा' पुस्तक/'केन्द्रीय हिन्दी संस्थान', आगरा) यह भी कहा कि चटकदार व्यंग्य और चुस्त कटाक्षों के आदान-प्रदान में स्त्रियों को महारत हासिल है।

ये मान्यताएँ या तो खण्डित अध्ययनों या सर्वेक्षणों पर आधारित हैं अथवा उन के खण्डित विश्लेषणों की देन हैं। वस्तुतः ये पुरुषवादी भाषा-चिन्तकों और उनसे प्रभावित स्त्रीवादियों की देन हैं। कारण, मर्दों में भी उक्त विशेषताओं का नितान्त अभाव नहीं है। ये निष्कर्ष जिस सांस्कृतिक उत्पाद (भाषा-स्तर विशेष) को स्त्री की सहज-स्वाभाविकता/नैसर्गिकता करार देते हैं, वह पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों पर डाले गये बहुमुखी अभाव/वंचना, शोषण व उत्पीड़न के चलते बनी उन की सँकरी

पेशागत परिधि और सीमित/घुटन-भरे परिवेश के आधार पर विकसी अधिरचना है। ये निष्कर्ष स्त्री के भाषिक व्यवहार से सम्बद्ध तथ्यों की ओर एक सीमा तक (जिस समय या जहाँ ये प्रस्तुत किये गये, उस समय या वहाँ के समाज की संरचना के लिए सत्य) संकेत तो करते हैं, उनके प्रति सचेत समझदारी नहीं दिखलाते। ये ऐतिहासिक व समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री की बिगड़ती-बनती रही स्थिति को अनदेखा करते हुए, उसे जड़ मनोविज्ञान में बाँध डालने की अचेत कोशिश से निकले हैं। ये उपर्युक्त स्त्री-भाषा के अलगाव का असली कारण शायद पुरुष व स्त्री के अलग-अलग मनोविज्ञान में निहित मानते हैं, पर कथित अलग-अलग मनोविज्ञान भी तो परिस्थितियों के कारण विकसे हो सकते हैं। भाषा का जातीय, क्षेत्रीय, वर्गीय या ज़ेण्डर चरित्र बनता है एक लम्बी आर्थिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया के तहत। भाषा का उक्त हर प्रकार से बना अधूरापन जीवन-निर्वाह, विकास व ज्ञान के साधनों पर कुछ लोगों/समूहों के एकाधिकार और शेष को उपेक्षित रखने का परिणाम है। इन बातों पर पुख्ता विचार निष्कर्ष तक पहुँचने के पहले नहीं किया गया। वस्तुतः ये निष्कर्ष किसी हद तक 'ग्रस्त' रहे विचारकों की देन हैं, 'मुक्त' या सचेत चिन्तकों की नहीं।

स्त्रियों के जीवन की भौगोलिक व सांस्कृतिक परिधि अत्यन्त संकीर्ण रही है; इसके साथ परिस्थिति के एकदम प्रतिकूल होने और उस से मुकाबले की माकूल ताकत पास न रहने का बोध भी उन के सामूहिक अवचेतन में कार्यरत रहा है, जिससे आत्म-संरक्षण व आत्माभिव्यक्ति हेतु हर समाज में उन की भाषा में पूर्व-संकेतित ऐसे अभिलक्षण-विशेष स्वाभाविक तौर पर उभर आये हैं, जिसके लिए 'स्त्री-भाषा' शब्द का व्यवहार हुआ है। इसका निर्माण मूलतः सहज रूप से, पर अल्पतः सायास भी हुआ है, लेकिन कारण-रूप में स्त्री-विरोधी वे परिस्थितियाँ ही है, जिन्हें अनदेखा करके विश्लेषकों ने इस भाषा का मूल स्रोत स्त्री की जैविक-मनोवैज्ञानिक संरचना में खोजने की भूल की है। उनके द्वारा कथित स्त्री-भाषा की विलक्षणताएँ (स्त्री-प्रकृति में निहित) नकारात्मक गुण के रूप में रेखांकित की गयीं। 'स्त्री-भाषा' वस्तुतः पितृसत्ता द्वारा बनायी गयी चौहदी में घुटती रही स्त्री की भाषा का अनुकूलन है। आत्म-संरक्षण के तहत स्त्री मुख्यतः बचाव की भाषा का इस्तेमाल करती है और गौणतः प्रतिरोध की भाषा का। (ये इस्तेमाल आदतन अधिक हैं, चालाक कम।) प्रतिरोध की भाषा दो तरह से सम्भव है

(1) पुरुष/पुरुष-प्रधान मूल्यों पर कटाक्ष/व्यंग्य।

(2) सीधे भिड़न्तपुरुष/पुरुषवादी व्यवस्था को गाली/चुनौती।

'1' को ही स्त्री-भाषा के विचारकों ने इस रूप में कहा कि स्त्री सांकेतिक या घुमा-फिरा कर ज्यादा बोलती है। '2' की नौबत अपवाद-स्वरूप ही आती है, किन्तु उसी का प्रचार पुरुषवादी तन्त्र में 'तिरिया-चरित्तर' से जोड़ कर इस तरह किया जाता रहा है, मानो हर औरत काटने को ही दौड़ती हो। यदि कहीं वैसा है भी, तो कारण



हैं न! किसी पंछी (या बिल्ली) को पिंजरे में बन्द करके उसे नोचते या डंडे से परेशान करते रहो और उम्मीद करो कि उसकी प्रतिक्रियाएँ एकदम सरल होंबिना लाल-पीली आँखों वाली, बिना किसी तरह के तीखेपन के! यह एक तथ्य है कि जीवन से जुड़ी जरूरतों/साधनों को लेकर जिसे जितनी ही बड़ी और विविधतामयी भौगोलिक (सांस्कृतिक) परिधि में घूमना पड़ता है, उसकी भाषा उतनी ही सशक्त, समृद्ध व जीवन्त होती है। आमतौर पर पायी जाने वाली स्त्री की भाषिक अशक्तता/लचरता का मूल कारण है उस पर थोपा गया सीमित, घुटनभरा परिवेश। सवाल हैस्थानीय शब्दावली, लोकभाषा या लोक-साहित्य स्त्री की ही खास चीज क्यों रहे हैं? जब स्त्री को इण्टरनेशनल या यूनिवर्सल होने से रोका जाएगा, तो वह लोकल हो कर ही तो रहेगी।

'स्त्री-भाषा' नामक यह तत्त्व पितृसत्ता से ग्रस्त विषम समाज में पनपा और विकसा है। यदि लिंग की दृष्टि से पूर्ण समतामूलक समाज अस्तित्व में आ जाए, तो स्त्रियों की भाषा का क्या रूप होगा, यह विचारणीय है। अथवा, उस प्रकार के समाज की दिशा में अग्रसर होने के लिए स्त्रियों की या आम वांछित भाषा का रूप क्या हो?यह भी विचारणीय है। उपरिलिखित भाषा के अधूरेपन के सन्दर्भ में, शेष आधी भाषा या इस कथित 'स्त्री-भाषा' पर विचार करना बेहद जरूरी है, क्योंकि इसी शुरुआत में लैंगिक दृष्टि से भाषा की अपूर्णता या अपंगता दूर करने अथवा उसका 'ज़ेण्डर-जस्टिस'-परक पुनर्गठन करने के बीज निहित हैं।

आज देश में चिरकाल से उपेक्षित पड़े/रखे गये समूहों में चहुँओर नवजागरण व बहुमुखी सशक्तीकरण की लहर उठी है और तज्जन्य गम्भीर विचार करने का दौर चल रहा है। ऐसे समय में स्त्री-विमर्श भी कई कोणों से नये-नये तेवरों के साथ प्रचलित रूढ़ वैचारिकी में अपने दमदार हस्तक्षेप से उस के दुर्ग का भेदन कर रहा है। परन्तु, शिद्दत से यह महसूस किया जा रहा है कि भारतीय स्त्री-विमर्श अब तक अपनी निजी (या यूनिक) भाषा विकसित नहीं कर सका है (जिस तरह की भाषा एक हद तक दलित-विमर्श के पास हो चुकी है)। बिना उचित भाषा के विमर्श कैसे हो सकता है? इस स्थिति में वह भटकता या लुढ़कता-पुढ़कता ही रहेगा। इस लिहाज से भी 'आधी भाषा' के उक्त सवाल या 'स्त्री-भाषा' अथवा 'स्त्री के प्रति भाषा के बर्ताव' पर विचार करना बेहद प्रासंगिक है।

अपने ऐतिहासिक अवमूल्यन और बहुमुखी शोषण-दलन से मुक्त होने तथा पूरी तरह इन्सान बनने के लिए, स्त्री को अपनी प्रस्थिति को समझना और आत्ममंथन करना होगा। आज तक 'स्त्री' और 'स्त्री के लिए' को जिस तरह प्रस्तुत किया गया है, उसकी चीड़-फाड़ करनी होगी; साथ ही उन पर सवाल खड़े करते हुए खुद को सही रूप में व्यक्त करने (आत्माभिव्यक्ति) की राह चुननी होगी। स्त्री-मुक्ति की प्रक्रिया में हिस्सेदारी तो समता-कामी हर व्यक्ति कर सकता है और उसे करना भी चाहिए,

लेकिन स्त्री को सब का सहयोग लेते हुए भी भरोसा अपने ऊपर ही करना होगा, क्योंकि कोई मुक्ति भीख, भेंट या दान नहीं होती, कठिनाई से प्राप्त उपलब्धि होती है। चूँकि सब कुछ भाषा में ही व्यक्त होता है और हम ने देखा है कि स्त्री के प्रति भाषा का बर्ताव सम्मानजनक व न्यायोचित नहीं रहा है, इसलिए बात भाषा से ही शुरु करनी होगी। उस पर काम करना हमारी प्राथमिकता होगी। इस प्रक्रिया में सब से पहले तथाकथित आम भाषा और स्त्री-भाषा का सर्वांग परीक्षण करना होगा सामाजिक स्तरीकरणों में अहम 'ज़ेण्डर' सम्बन्धी स्तरीकरण से निर्मित स्त्री-भाषा जो हमें प्राप्त होती रही है, उसकी पड़ताल करनी होगी, फिर, अधिक मानवीय व लोकतान्त्रिक भाषा या उसकी सम्भावना का सृजन करना होगा। ये दोनों एक पर एक नहीं, बल्कि युगपत् रूप से चलेंगे और एक के घटित होने में दूसरे का स्वतः उभार निहित है।

परीक्षण का कार्य दो स्तरों का होगा(1) स्त्री के प्रति भाषा के रवैये/बर्ताव की जाँच (2) स्त्री की भाषा में विकसित हुए अभिलक्षण-विशेष (कथित स्त्री-भाषा) की जाँच। पहले से इस सच का पर्दाफाश होता है कि आम भाषा स्त्री के अनुभव, समस्या/पीड़ा की अभिव्यक्ति में (उचित शब्द/ मुहावरेदारी के अभाव एवं पुरुष-प्रभावी शब्द-गठन के कारण) अक्षम तो है ही; ऊपर से स्त्री-विरोधी/दोहन-शोषणकारी ढाँचों/स्थितियों को सहज स्वाभाविक रूप देते हुए उन का महिमामण्डन तक करती है (जैसे- 'पतिव्रता', 'माँ', 'परिवार के आगे कैरियर को भी छोड़ दिया' आदि कहना) और सब मिला कर ज़ेण्डरवादी छद्म अस्मिताएँ गढ़ती है। स्त्री के सहज सच को अभिव्यक्ति देना इस के बूते के बाहर की बात है। अपने मुहावरों/लोकोक्तियों, कथित सम्मानसूचक (जैसे सती, देवी, सुन्दरी) व अपमानकारी (जैसे कुलटा, डायन, बाँझ) शब्दावलियों से उसे सामान्य मनुष्यता की परिधि से परे कर देने वाली भाषा वह है। कुल मिला कर यह स्त्री के प्रति भाषिक आतंकवाद का मामला है। यह पुरुष-भाषा स्त्री भी बोलती है या जो कथित स्त्री-भाषा बोलती है वह भी पुरुष-भाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं होती। तभी तो किसी स्त्री की प्रशंसा करनी हो तो उसे 'सती', 'सुन्दरी' आदि और कोसना हो तो 'छिनाल', 'साली' आदि ही कह पाती/डालती है। इसी तरह, स्त्री पुरुष को गाली देते 'साला' आदि शब्दों का प्रयोग कर बैठती है (जबकि कि 'साला' व 'साली' मर्द के लिए ही सम्भव हैं)। इस प्रक्रिया में वह इन शब्दों में नया अर्थ भरती और इस तरह से शब्दार्थ-सम्बन्ध यानी धीमी गति से भाषा को भी बदलती रहती है। पर, इससे भाषा इतनी नहीं बदल पाती, जिस में स्त्री अपने को पूर्णतया व्यक्त कर सके। उस में किसी सीमा तक ही अपने सुख-दुख, पीड़ा को वह व्यक्त कर पाती है। भाषा के लिंग-चरित्र में जो बदलाव हमारा काम्य है, वह तो विशाल सांस्कृतिक और किसी हद तक सचेत प्रक्रिया द्वारा ही सम्भव है।

किसी समाज में प्राप्त स्त्री-भाषा कथित आम भाषा से जिस मात्रा में विलक्षण



होगी, उसी मात्रा में वह इस बात का संकेत होगी कि वह समाज स्त्री-पुरुष के बीच अधिकाधिक अलगाव व भेद-भाव की समस्या से ग्रस्त समाज रहा है। एक हकीकत है कि आज स्त्री-भाषा (लिंग-बोली) की मात्रा घटती जा रही है। इसका कारण यह है कि सभ्यता के अधिक समतामूलक विकास के साथ स्त्री-पुरुष के बीच का गैप घटता जा रहा है और स्त्री के कुछ कहने-बोलने व लिखने की हैसियत लगातार मजबूत होती जा रही है, जिससे भाषा में स्त्री के लिए जगह बढ़ती जा रही है। इस से स्त्री भी पुरुष के समान भाषिक क्षमता व विशेषताओं से सम्पन्न होती जा रही है। इससे ज़ेण्डर के सन्दर्भ में धीरे-धीरे एक सार्वजनीन सी भाषा आकार ले रही है। इसे कुछ विचारक पुरुष-भाषा में स्त्री के ढलने के रूप में भी देख सकते हैं। स्त्री और पुरुष का अलगाव उस तरह का नहीं है, जैसे दिल्ली से पटना का अलगाव है। इसलिए स्त्री की भाषा पुरुष से उतनी भिन्न नहीं हो सकती, जितनी दिल्ली से पटना की भाषा भिन्न है। उनमें सामान्यता या औसतपन ज्यादा है, विलक्षणता कम। यहाँ सांस्कृतिक विभेद (ज़ेण्डर) को तो पूरी तरह खारिज किया ही जा रहा है, बल्कि प्राकृतिक विभेद (सेक्स) या उस के प्रभाव को भी यथासम्भव कम करने की बात की जा रही है। स्त्री-पुरुष जब साथ-साथ हैं और इनके साथ-साथ रहने के सिलसिले व दायरे जब निरन्तर बढ़ते जाएँगे, तो उनकी भाषा नदी के दो किनारों की तरह कितनी देर तक चल सकती है? दोनों की सामान्यता के आधार पर गंगा-जमुनी भाषा को तो आकार लेना ही है। स्त्री-पुरुष दो अलग-अलग पैकेटों में (अन्तःपुर व बाह्य संसार) में जितना ही अधिक रहेंगे, उनकी भाषाएँ उतनी ही अलग-अलग होंगी। जितना ही ये पैकेट सटेंगे, मिलेंगे और फलतः टूटेंगे, उतने ही सार्वजनीन तत्त्व भाषा में प्रकट होते जाएँगे। स्त्री के लायक भाषा की रचना इसी सार्वजनीनता की मात्रा पर जोर देकर की जा सकती है।

परन्तु, यह बात भी भूलने की नहीं कि स्त्री पुरुष के बराबर इन्सान होने के साथ-साथ किसी मात्रा में उस से विलक्षण इन्सान भी है। स्त्री के कुछ खास जैविक (कामांग-जननांग, स्तन आदि) अंश हैं, जिनसे जुड़ीं कुछ विशिष्ट अनुभूतियाँ-संवेदनाएँ, समस्याएँ या स्थितियाँ हैं। उनके लिए भाषा में कुछ अलग से जगह होनी ही चाहिए। यानी, सीमित अर्थ में ही सही स्त्री-भाषा की रचना होनी चाहिए। पर, स्त्री-भाषा को पूर्वोक्त तकिया-कलाम, कोमल, झिझक-भरी, लड़खड़ाती, लचर आदि कोटि का पर्याय बना देना ठीक नहीं। पितृसत्ता में स्त्री-सम्बन्धी जो रूढ़ मान्यताएँ या स्टीरियोटाइप बना दिये गये हैं, उनसे सावधान रह कर स्त्री अपनी भाषा को वैसा रूप दे, जिसमें कुछ खास स्त्री-अनुभव या स्त्री-संवेदनाएँ भी व्यक्त करने की क्षमता हासिल हो सके, साथ ही आम/व्यापक ज्ञान/बोध/संवेदनाओं के विशाल संसार को भी सम्हालने की क्षमता वह रखेयह कार्य बड़ा चुनौती भरा है। यह भाषाशास्त्र के क्षेत्र में नहीं, भाषा के समाजशास्त्र के क्षेत्र में खोज है। यानी, यह केवल भाषाशास्त्रीय मुद्दा नहीं, बल्कि

समग्र सांस्कृतिक परिवर्तन से सम्बद्ध मुद्दा है, जो अनिवार्य रूप से राजनैतिक भी है, क्योंकि स्त्रीत्व व पुरुषत्व जैसे वर्गीकरण का जीवविज्ञान से उतना ताल्लुक नहीं है, जितना शक्ति/सत्ता के असमान वितरण से। स्त्री बड़े पैमाने पर लेखन में उतर कर या आत्माभिव्यक्ति कर के ही पुरुष-भाषा से मुक्त हो सकती है। उसके माध्यम से सबसे पहले वह खुद को जगह दिला सकेगी, वैचारिक/व्यक्तिगत स्तर पर मुक्त हो सकेगी। इसी के साथ, उसी के ज़रिये वैचारिकी के केन्द्र में स्त्री-मात्र को ला सकेगी और उस के ज़रिये भाषा को भी ठीक कर सकेगी। भाषा के केन्द्र में स्त्री को लाते हुए वह भाषा का सकल लिंग-चरित्र बदल सकेगी। स्त्री-विरोधी संरचनाओं/संस्थाओं व मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष जितने तेज होंगे, स्त्री-हितों की रक्षा एवं विस्तार की कोशिशें जितनी ही तेज होंगी, भाषा को स्त्री के लायक बनाने की सम्भावनाएँ उतनी ही प्रबल होंगी। स्त्री के संघर्ष के बिना उस के अनुकूल भाषा की रचना सम्भव नहीं, पर ऐसी भाषा के बिना स्त्री-संघर्ष को समुचित आकार या दिशा देना भी तो सम्भ्लनाव नहीं। किन्तु, यहाँ सत्य का एक पक्ष यह भी है कि जिस तरह सामाजिक सम्बन्ध मनुष्य की योजना के अनुसार नहीं, बल्कि उसकी इच्छा से स्वतन्त्र सामाजिक नियमों (उत्पादन-वितरण के तरीकों) से तय होते हैं; उसी तरह मनुष्य बुद्धि से सोच कर, योजनानुसार भाषा नहीं गढ़ता, बल्कि जीवन-यापन की जरूरतों के अनुसार स्वतःस्फूर्त्त ढंग से उसकी भाषा निर्मित होती है। (रामविलास शर्मा, 'भाषा और समाज') वांछित भाषा की सहज रचना-प्रक्रिया चलती रहे, इसके लिए, ऐसी जरूरतें यानी उत्प्रेरक व आधारभूत उपर्युक्त परिस्थितियाँ पैदा की जा सकती हैं या कम से कम उनमें तेजी लायी जा सकती है।

स्त्री के लिए वांछित भाषा पुरुष-भाषा के बिल्कुल समान्तर/व्यतिरेकी नहीं होगी, बल्कि उससे थोड़ी सी विशिष्ट, पर अधिकतर सामान्य होगी। उसका सबसे बड़ा प्रकार्य होगा स्त्री सम्बन्धी ऋणात्मक या धनात्मक स्टीरियोटाइप तोड़ कर उसे सामान्य इन्सान के रूप में अभिव्यक्त करने का, पर उसमें किंचित् मात्रा में विद्यमान जैविक स्त्रीत्व को बचाते हुए। ऐसी भाषा की रचना न केवल पितृसत्ता द्वारा स्त्री के सम्बन्ध में गढ़ी गयीं निर्मितियों से मुक्त होकर, वरन् नारीवादियों द्वारा (प्रतिक्रिया-स्वरूप) गढ़ी गयीं कुछ और तरह की निर्मितियों से भी मुक्त हो कर ही की जा सकती है। स्त्री को न पुरुष-भाषा का दामन पकड़े रहना है, न पितृसत्ता के मातहत विकसित हो गयी कथित स्त्री-भाषा (लिंग-बोली) का; बल्कि इन दोनों का अतिक्रमण कर अधिकाधिक मानवीय भाषा का सन्धान करना है, जो ज़ेण्डर ही नहीं, मोटे तौर पर सेक्स से भी निरपेक्ष हो, पर प्राकृतिक स्त्री-अंश की संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में भी समर्थ हो। यानी, भाषा के क्षेत्र में या भाषा के ज़रिये स्त्री को अपने खास को बचाते हुए सामान्य बनने की चुनौती स्वीकारनी होगी। पर, यह खास पितृसत्ता वाला (देवी या कुलटा टाइप) खास नहीं होगा, जिसके लिए सीमोन द बोउवा ने कहा था कि स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है। यानी, लोकतान्त्रिक संरचनामय सामान्य भाषा और शोधित अर्थ में खास स्त्री-भाषा की समन्वित स्थिति ही स्त्री के लिए अनुकूल भाषा होगी। ध्यातव्य है कि ऐसी स्त्री-अनुकूल भाषा की रचना केवल स्त्री के लिए या बस उसकी मुक्ति के अर्थ नहीं होगी, बल्कि आज तक अधूरी भाषा में व्यक्त असन्तुलित ज्ञान या एकांगी सत्य की जो पीड़ा पूरे समाज को झेलनी पड़ी है, उससे उसकी मुक्ति की दिशा में होगी। इसलिए, इसकी रचना की चुनौती सिर्फ स्त्री को नहीं, समस्त समाज को स्वीकारनी होगी, ताकि इन्सान को ठीक करने के लिए सब से पहले उस की भाषा ठीक की जा सके।